संस्कृत-व्याकरण-प्रवेशिका

A Sanskrit Grammar for Students

मूल-लेखक

डॉ० आर्थर ए० मैकडानल

अनुवादक

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य,

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), डी० फिल्०, पी० ई० एस०, विद्याभास्कर,
व्याकरणाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, गवर्नमेंट कालेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)

मो ती ला ल   ब ना र सी दा स

दिल्ली : : वाराणसी : : पटना

प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : (१) चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
(२) अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

तृतीय संस्करण (अंग्रेजी) १९२७ का हिन्दी रूपान्तर
प्रथम संस्करण : १९७३
मूल्य : रु० [illegible].००

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित ।

तृतीय संस्करण का आमुख

संस्कृत व्याकरण के इस नये संस्करण का सम्पादन करते हुए मुझे पूर्व संस्करणों में जो कतिपय मुद्रण दोष मिले उन्हें मैंने यहां नहीं आने दिया है और पुस्तक को छात्रोपयोगी बनाने के लिये आवश्यक परिवर्तन भी कर दिये हैं, जैसे कि प्रत्येक पृष्ठ के शिखर-कोण में अध्याय और अनुच्छेद के सांकेतिक अंक भी दे दिये हैं।

इस कृति के अनुच्छेदों में संस्कृत व्याकरण के प्रायः सभी नियम आजाते हैं। इनमें से कई अनुच्छेद प्रारंभिक शिक्षा के लिये अनुपयुक्त होने के कारण वर्ज्य हैं; वे उत्तरकालीन अध्ययन के लिये ही उपादेय हो सकते हैं। प्रारम्भिक पाठ्यक्रम के लिये निम्न सूची में दिये गये अनुच्छेद ही उपयोगी हैं। इन अनुच्छेदों के संकलन से संस्कृत व्याकरण की प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तक का निर्माण हो जाता है।

१: १-७, ८-१२, १३. २ : १६-२२, २७, ३०-३४, ३६ अ. आ., ३७, ३८, ४०, ४२-४४, ४५, (१), (२), ५२, ५५, ६५, ६७. ३: ७०, ७१, ७३, ७४, ७७, ८५, ८७, ९०, (१), ९७, १००, १०१, (ई) (पृ० ६०), १०३, (१), (२) १०९-१११, १२०. ४ : १२१-१२८, १३१, १३२ (केवल वर्त० परस्मै० पृ० ८६, ८८), १३५, १३६, १३८, (१) (केवल √तुद्, परस्मै०), १४१ (क) (केवल परस्मै०), १४३ (१) (केवल परस्मै०) १४७ (केवल परस्मै०), १४८ (केवल अदादि), १५१ (केवल परस्मै०), १५४ (केवल वर्त० का०), १५६, १६०, (१), (२), १६२, १६३, १६७, १६८, १६९, १७२, १७५.

जब छात्र इन अनुच्छेदों को पढ़ लेगा तब उसे संस्कृत पाठमाला के पाठ समझने की योग्यता हो जायेगी। इन पाठों में कुछ नये व्याकरण रूप भी मिलेंगे जिनकी व्याख्या उन अनुच्छेदों में की गई है जो उसने छोड़ रखे थे। अब वह उन अनुच्छेदों का भी अध्ययन करेगा। इस प्रकार तथा शब्द कोष

की सहायता से वह एक ही महीने में, **नलोपाख्यान**, प्रथम सर्ग के प्रत्येक शब्द को समझ सकेगा और उसे किसी भी सरल संस्कृत रचना को समझने के लिये पर्याप्त जानकारी हो जायेगी।

सन् १८११ में इस कृति का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने के उपरान्त सन् १९१६ में मेरी अन्य कृति "छात्रोपयोगी वैदिक व्याकरण" (**Vedic Grammar for students**) का प्रकाशन हुआ। तब मेरी प्रस्तुत कृति में तृतीय परिशिष्ट (वैदिक व्याकरण की मुख्य विशेषताएँ) अनावश्यक-सा प्रतीत होने लगा। तो भी मैंने उसे हटाया नहीं, क्योंकि वह वैदिक व्याकरण का एक संक्षेप है और प्रारम्भिक छात्रों के लिये उस विषय को सरलता से समझने में परम उपयोगी है।

आर्थर ए० मैकडानल

२० बार्दवैल रोड,
आक्सफोर्ड.
नवंबर, १९२६

द्वितीय संस्करण का आमुख

मैक्समूलर का संस्कृत व्याकरण (द्वि० सं०, सन् १८७०), जिसका मैंने (सन् १८८६ में) संक्षेपण किया था, मेरी प्रस्तुत कृति का मूल रूप था। छात्रावस्था में तथा शिक्षक पद के कार्यकाल में मुझे प्रारंभिक व्याकरण शास्त्र के अनावश्यक एवं अनुपादेय तत्त्वों का अनुभव हो गया था। अतएव मैंने मैक्स-मूलर के संस्कृत व्याकरण का संक्षेपण किया था। वह संक्षेपण, अंशतः, मेरी इस धारणा का भी परिणाम था कि संस्कृत व्याकरण की उपलब्ध रचनायें पाणिनि की पद्धति से प्रभावित होने के कारण अनावश्यक ही संस्कृत भाषा को दुरूह कर देती हैं। संस्कृत व्याकरण शास्त्र के संक्षिप्त इतिहास से, जोकि प्रस्तुत कृति के आरंभ में दिया गया है, पर्याप्त रूप से पता चलेगा कि भारतीय व्याकरण शिक्षा-पद्धति पाश्चात्य शिक्षा की व्यावहारिक पद्धति के अनुरूप नहीं बैठती।

सन् १९०१ में प्रस्तुत व्याकरण का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ जो कि मेरे प्रारंभिक (अर्थात् १८८६ के संक्षिप्त) व्याकरण का सर्वथा नया रूप था। यद्यपि यह संस्करण पूर्णरूपेण परिवर्धित था तो भी इसमें कई त्रुटियाँ आ गई थीं क्योंकि इस संस्करण में मैंने सिद्धान्ततः उन सभी नियमों को छोड़ दिया था जो वैदिक साहित्य की भाषा में चरितार्थ होते थे और जिनका समावेश हिन्दू व्याकरण शास्त्रों में हुआ था। मेरा उद्देश्य था कि संस्कृत व्याकरण में उन्हीं व्याकरण रूपों की व्याख्या की जाय जो वैदिकोत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। मेरा विचार था कि इस प्रकार, संस्कृत व्याकरण शास्त्र के छात्र अनुपयोगी विषयवस्तु के बोझ से बच जायेंगे। इसलिये मैंने वैदिक शब्दों का प्रतीक रूप में भी प्रयोग नहीं किया, यद्यपि प्रस्तुत व्याकरण की पूर्णता के लिये मैंने ऐसे कई शब्दों के सुबन्त रूप भी दिये जो वैदिक शब्दों से मिलते-जुलते थे। इस कृति का उद्देश्य प्रयोग-समूह एवं नियमावली मात्र प्रस्तुत करना अथवा परीक्षा प्रश्नोत्तरी तय्यार करना नहीं था किन्तु

छात्रों के लिये पूर्ण व्याकरण सामग्री जुटाना था ताकि वे किसी भी संस्कृत रचना को सही रूप में, सरलता से समझ सकें।

प्रस्तुत कृति प्रथम संस्करण का पूर्णरूपेण संशोधित संस्करण है जो मेरे दशवर्षीय अध्यापन का फल है, तथा जो मेरे उन छात्रों के सुझावों का भी परिणाम है जिन्होंने मेरे प्रथम संस्करण का प्रयोग किया था। जो सुधार इसमें हुए हैं वे मुख्यतया परिवर्धन हैं जिन्होंने चौबीस पृष्ठों से पुस्तक के आकार को बढ़ा दिया है।

प्रस्तुत संस्करण में मैंने तीन नये खंड जोड़ दिये हैं (पृ० १४२-१५२)। पहला खण्ड (अनुच्छेद १८२) कृदन्त और तद्धित रूपों का है जिसमें कृत् और तद्धित प्रत्ययों का विवरण दिया है जिससे छात्र को संस्कृत शब्दों की रचना का पूर्ण ज्ञान हो सकता है जो कि प्रथम संस्करण से सम्भव नहीं था। दूसरे खण्ड में इन प्रत्ययों से संस्कृत संज्ञाशब्दों के लिंग निर्धारक नियमों का सर्वेक्षण किया गया है (अनु० १८३)। तीसरे खण्ड में सधातुक समास की रचना का विवरण किया गया है (अनु० १८४)। परिवर्धन के विशेष उल्लेखनीय स्थल हैं सन्धिप्रकरण में दन्त्य नासिक्य के नियम। इन नियमों के अन्तर्गत न् के परिवर्तनों का पूर्ण विवरण दिया है। शब्दरूपों में कतिपय नये सुबन्तों का परिचय भी है जैसे **ग्रावन्** (अनु० ९०, ४)। कुछ अन्य कठिन प्रयोग भी दिये हैं जैसे कि √दह् के स् लुङ् में रूप (अनु० १४४, ५)। यद्यपि इस धातु के रूप आत्मनेपद में नहीं मिलते तो भी इसके आत्मनेपद-रूप उन आत्मनेपदी धातुओं के प्रतीक रूप में दे दिये हैं जो तदनुरूप स्वरसंहति-वैषम्य को प्रकट करती हैं। अन्य सुधारों का प्रयोजन है व्याकरण शास्त्र की प्रयोगविधि का सरलीकरण, जैसे कि धातुसूची (परिशिष्ट १) में विविध रूपों के परिचायक संकेत-चिह्न जोड़ दिये हैं जिनके बिना प्रारंभिक छात्रों के लिये उन रूपों को समझना कठिन हो जाता। इसके अतिरिक्त, संस्कृत शब्दसूची को अधिकतर पूर्ण और व्याख्यात्मक कर दिया है (दे० उदाहरणार्थ **प्राकृत** शब्द)। निश्चित ही अन्य उपयोगी सुधार हैं—आरंभ में विस्तृत विषयसूची के स्थान पर विषयवस्तु का संक्षिप्त सारांश और अन्त में सामान्य शब्दसूची। मेरी यह निश्चित धारणा है कि ये सभी विषय-वस्तु एवं आकारसंबंधी परिवर्धन और परिवर्तन प्रस्तुत व्याकरण के प्रयोगात्मक महत्त्व को विशेषरूप से बढ़ायेंगे।

प्रस्तुत संस्करण में, जैसे कि प्रथम संस्करण में, सर्वत्र लिप्यन्तरण-पद्धति का प्रयोग किया गया है। इसके अपवाद हैं धातुसूची (परिशिष्ट १) और वाक्य-रचना के उदाहरण (अनु० १८०; १९०-२१८)। सम्पूर्ण पुस्तक में लिप्यन्तरण-पद्धति का समरूप प्रयोग हुआ है और यही पद्धति प्रायः पश्चिम में प्रचलित है। इस पद्धति में ऋ का उच्चारण फ्रेंच शब्द *chambre* में र् व्यंजन के समान है जो अर् अथवा र वर्ण की स्वराघातहीन अपश्रुति को द्योतित करता है।

प्रस्तुत संस्करण में जो सुधार हुए हैं उनका श्रेय मेरे पुराने शिष्यों अथवा मेरे मित्रों को है जिन्होंने इस दिशा में अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। वे हैं प्रोफेसर ई. जे. राप्सन, डा० जेम्स मॉरिसन, श्री एम. एल पुरी, बी. ए. (एक्सटेर कालेज), श्री होरस हार्ट, एम. ए. कान्ट्रोलर यूनीवर्सिटी प्रेस, और विशेषतया टी. ई. मोइर, आई. सी. एस, बाधम कालेज, एफ. डब्ल्यू. टॉमस, लायब्रेरियन इंडिया आफिस। यूनीवर्सिटी प्रेस के ओरियंटल रीडर श्री जे. सी. पेम्ब्रे आन-रेरी एम. ए. ने अपने सहज अवधान से इस संस्करण के प्रूफों का संशोधन किया है जैसे कि चौसठ वर्ष पूर्व, १८४७ में उन्होंने, अपने पिता के सहयोग से, प्रो० एच्. एच् विलसन की कृति 'संस्कृत व्याकरण' के प्रूफों का संशोधन किया था। सन् १९०० से लेकर आजतक जो मेरी पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनके तथा प्रस्तुत कृति के प्रूफ पढ़ने के लिये मैं डा० ए. बी. कीथ का आभारी हूँ। इस प्रसंग में मैं उन्हें वैदिक व्याकरण के प्रूफ पढ़ने के लिये, और जब मैं सितम्बर १९०७ से अप्रेल १९०८ तक भारत में रहा, मेरी अनुपस्थिति में मेरे वैदिक व्याकरण के मुद्रण का पर्यवेक्षण करने हेतु भी धन्यवाद देता हूँ।

१०७, बनस्बरी रोड, आर्थर ए. मैकडानल

जुलाई, १९११

भूमिका

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

पवित्र वैदिक संहिताओं को पूर्णतया सुरक्षित रखने की धार्मिक भावना ने ही भारत वर्ष में व्याकरण पढ़ने की सर्वप्रथम प्रेरणा की थी। उस समय यह मान्यता थी कि वैदिक संहिताओं के प्रत्येक वर्ण के शुद्ध उच्चारण से ही पूर्ण इष्टसिद्धि होगी। इस प्रकार संस्कृत भाषा की बड़ी परिष्कृतता से प्रभावित होकर प्राचीन भारतीय वैयाकरण पञ्चम शताब्दी ई० पू० में ऐसे वैज्ञानिक परिणामों पर पहुँचे, जिसकी समानता प्राचीन जगत् का कोई देश नहीं कर सका। उदाहरणरूप में यह उनकी प्रमुख देन है कि उन्होंने सर्वप्रथम यह पता लगाया कि शब्द अधिकांशतः एक ओर धातु पर निर्भर हैं और दूसरी ओर प्रत्यय पर। जब प्रत्यय धातु से समस्त होते हैं तो धातु का अर्थ अनेक प्रकार से परिवर्तित हो जाता है।

आजकल जो सबसे प्राचीन व्याकरण सुरक्षित है, वह है **पाणिनि** का व्याकरण। यह व्याकरण के पूर्णतया विकसित रूप को प्रकट करता है। पाणिनि इस व्याकरण-परम्परा के अन्तिम लेखक हैं। इस लम्बी प्राचीन-परम्परा के कम से कम ६४ वैयाकरणों का नाम उल्लिखित है। पाणिनि के व्याकरण की सर्वोत्कृष्टता और व्यापकता के कारण सभी प्राचीन व्याकरण पूर्णतया नष्ट हो गए हैं।

पाणिनि—यास्क (संभवतः ५०० ई० पू० के लगभग) से काफी बाद में हुए हैं। पाणिनि ने यास्क का उल्लेख किया है। पाणिनि और यास्क के बीच में भी कई बड़े वैयाकरण हो चुके हैं। दूसरी ओर पाणिनि अपने भाष्यकार पतंजलि से बहुत प्राचीन हैं, जिसका समय संभवतः ई० पू० द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध है। इन दोनों वैयाकरणों के बीच में एक महावैयाकरण कात्यायन भी हैं। पाणिनि ने स्वयं **'यवनानी'** शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या कात्यायन ने 'यवनों की लिपि' की है, अर्थात् यूनानियों या Iaones

की लिपि। यह सर्वथा संभव प्रतीत नहीं होता है कि ३२७ ई० पू० में हुए सिकन्दर के आक्रमण से पहले भारतीय यूनानियों की लिपि से परिचित थे। किन्तु इस आक्रमण के तुरन्त बाद भारत की पश्चिमोत्तर सीमा (सीमान्त प्रदेश) के निवासियों को इस भाषा का ज्ञान हुआ होगा और पाणिनि भी सीमान्त के निवासी होने के कारण उससे परिचित हुए होंगे। यवन (यूनानी) शब्द से उनकी लिपि का अर्थ बताने के लिए प्रत्ययान्त शब्द यवनानी (यवनों की लिपि) बनाने से पूर्व यह आवश्यक है कि सीमान्त प्रदेश के लोगों का उनसे संपर्क स्थापित हो चुका हो। अतः पाणिनि का समय ३०० ई० पू० से पहले रखना अत्यन्त कठिन है।

पाणिनि के व्याकरण **'अष्टाध्यायी'** में लगभग ४ हजार सूत्र हैं, जो आठ अध्यायों में विभक्त हैं। यह व्याकरण अत्यन्त सूक्ष्म शैली अर्थात् सूत्ररूप में बनाया गया है, अतः प्रत्येक सूत्र में २ या ३ पद मिलते हैं। यदि सारा व्याकरण देवनागरी लिपि में मध्यमश्रेणी के मोटे टाइप में लगातार छापा जाए वह इस प्रकार के लगभग ३५ पृष्ठों में पूरा छप जाएगा। फिर भी यह व्याकरण संस्कृत भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण उपस्थित करता है। ऐसा पूर्ण व्याकरण विश्व में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यह विश्व का सबसे छोटा और सबसे पूर्ण व्याकरण है।

पाणिनि ने लौकिक संस्कृत के परिष्कार को ध्यान में रखकर सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। साथ ही पाणिनि ने यह भी प्रयत्न किया है कि लौकिक संस्कृत-व्याकरण के साथ ही वैदिक व्याकरण को भी उसमें संगृहीत किया जाए। वैदिक ग्रन्थों की भाषा पाणिनि के समय तक दुर्बोध हो चुकी थी। यद्यपि पाणिनि ने वैदिक व्याकरण के सैकड़ों सूत्र दिए हैं, परन्तु वह व्याकरण अपूर्ण है। समष्टिरूप से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि पाणिनि ने वैदिक व्याकरण का जो अंश दिया है, उसमें बहुत कमी रह गई है, क्योंकि उसमें बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें छूट गई हैं और छोटी-छोटी बातें उल्लिखित की गई हैं। वैदिक व्याकरण वाले अंश में पाणिनि निश्चितरूप से अपने विषय पर पूर्णाधिकार करने में असमर्थ रहे हैं। वेद में व्याकरण-संबन्धी असीम छूट है, विशेषरूप से तिङन्त और सुबन्त रूपों में तिङ् और सुप् प्रत्ययों का परस्पर परिवर्तन या उनका लोप होना।

पाणिनि का व्याकरण **'शब्दानुशासन'** (अर्थात् शब्द विषयक प्रबन्ध ग्रंथ) है। इसका मौलिक सिद्धान्त है कि सभी संज्ञा शब्द धातुज हैं। शब्दों को किस प्रकार छोटे से छोटे रूप में विभक्त किया जा सकता है, इसके लिए पाणिनि ने धातु, प्रत्यय तथा सुप् और तिङ् में विभाजन प्रस्तुत किया है, साथ ही पाणिनि ने यह भी बताया है कि किस प्रकार कृदन्त शब्द और धातुज शब्द धातुओं से प्रत्यय लगा कर बनाए जाते हैं और तद्धित शब्द प्रातिपदिकों (बने हुए सार्थक शब्द) से तद्धित प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं। पाणिनि ने यह भी बताया है कि प्रत्ययों के लगने से और समास होने से शब्दों के अर्थ और प्रयोग में क्या अन्तर हो जाता है। पाणिनि की यह विशेषता है कि वह प्रत्ययों के द्वारा ही शब्दों की रचना मानता है। इस प्रकार यदि किसी धातु का संज्ञा शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है, जैसे भिद् (काटना) धातु का संज्ञा शब्द भिद् (काटने वाला), तो पाणिनि ने इसके लिए एक अत्यन्त कृत्रिम प्रत्यय क्विप् (०) प्रस्तुत किया है, जिसका कुछ भी शेष नहीं रहता है। इस प्रकार क्विप् एक काल्पनिक प्रत्यय है।

यास्क ने उल्लेख किया है कि **शाकटायन** ने यह मत प्रस्तुत किया था कि 'सभी शब्द धातुज हैं'। किन्तु **गार्ग्य** ने इस मत के औचित्य पर आपत्ति की है कि जो शब्द इस नियम के आधार पर सरलता से नहीं बन सकते हैं, उनके विषय में वह नियम लागू नहीं होना चाहिए। बलात् इस प्रकार शब्द-निर्माण उचित नहीं है। गार्ग्य का कथन है कि जैसे अश्व (घोड़ा) शब्द अश् (चलना) धातु से बना है। यदि अश्व शब्द को अश् धातु से बना हुआ मानेंगे तो जो कोई भी सड़कपर चलता है, उसे 'अश्व' कहा जाएगा। इतना ही नहीं अपि तु सड़क पर चलने वाले हर एक पदार्थ का नाम 'अश्व' पड़ना चाहिए, क्योंकि अपने कार्य के आधार पर प्रत्येक वस्तु का नाम पड़ेगा। पहले भाव (क्रिया) होता है, बाद में वस्तु, अतः क्रियामूलक नाम पड़ने चाहिएँ।

गार्ग्य की आपत्तियों को दूर करने के लिए पाणिनि ने ऐसे शब्दों को, जिनके निर्माण में रूप की दृष्टि से या अर्थ की दृष्टि से कुछ विशेष कठिनाई पड़ती थी, पृथक् कर दिया। जैसे—अश्व (घोड़ा), गो (गाय) और पुरुष (मनुष्य)। पाणिनि के समय से पहले ऐसे कृदन्त शब्दों की एक विशेष सूची बन चुकी थी, जिनमें धातु के बाद कुछ विशेष कृत् प्रत्यय लगाकर ये शब्द

बलात् बनाए जाते थे। इन प्रत्ययों को उणादि प्रत्यय कहते थे, क्योंकि इनका पहला प्रत्यय उ (उण्) था। यह उ ही मूलरूप में उण् प्रत्यय है। इस प्रकार से बने हुए शब्दों को **उणादि** कहते हैं (उण् प्रत्यय से प्रारम्भ होने वाला)। पाणिनि ऐसे शब्दों को रूढ शब्द मानते हैं और इनकी रचना पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

पाणिनि के समय में जो उणादि-सूची थी, वह कुछ संशोधित रूप में आज भी विद्यमान है। **उज्ज्वलदत्त** (समय लगभग १३ वीं शताब्दी ई०) की टीका से युक्त उणादि सूत्र इस समय उपलब्ध हैं। उणादिसूत्र जो वर्तमान रूप में हैं, इनमें कुछ बाद के शब्द भी आगए हैं, जैसे—दीनार (लेटिन—Denarius) शब्द। यह शब्द भारतवर्ष में १००ई० से अधिक पहले किसी भी स्थिति में प्रचलित नहीं हो सकता था।

पाणिनि के व्याकरण का मुख्य उद्देश्य शब्द व्युत्पत्ति है, अतः उन्होंने ध्वनि-विज्ञान का विशद विवेचन नहीं किया है, अपि तु शब्द-रचना या समस्त पदों में जितने ध्वनि-नियमों की आवश्यकता थी, उतना ही अंश दिया है। अतएव पाणिनि ने ध्वनि-परिवर्तन के सामान्य नियम नहीं दिए हैं, अपि तु उनका विवेचन उणादि सूत्रों के तुल्य वास्तविकता पर निर्भर न होकर, संभावनाओं पर निर्भर है और ये प्रायः ठीक हैं। अधिकांश स्थलों पर ये नियम तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से पुष्ट होते हैं। पाणिनि ने वस्तुतः कई ध्वनि-नियमों का आविष्कार किया था। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नियम गुण और वृद्धि के हैं, जिनके द्वारा निर्बल अंग वाले स्वर सबल अंग वाले स्वरों में परिवर्तित होते हैं (नि० १७), जिसको ग्रिम (Grimm) ने अपश्रुति (ablaut) कहा है और जिसको तुलनात्मक भाषाविज्ञान ने सिद्ध किया है कि वह मूल भारोपीय (Indo-European) भाषाओं में प्रचलित था। अन्य महत्त्वपूर्ण ध्वनि-नियमों का अविष्कार वेदों की विभिन्न शाखाओं से संबद्ध मौलिक प्रातिशाख्य-ग्रन्थों के लेखकों ने, जो पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं, किया है।

पाणिनि ने प्रकृति-प्रत्ययों में और वाक्यों में स्वर-संचार का वर्णन किया है, परन्तु हम लोगों के अनुसार वाक्य-विचार (Syntax) नहीं दिया है। इसका कारण संभवतः यह है कि संस्कृत में वाक्यरचना अत्यन्त सरल है।

पाणिनि की **'अष्टाध्यायी'** का सामान्य विषय-क्रम निम्नलिखित है :—

अध्याय १ में व्याकरण के परिभाषिक शब्द और व्याख्या के नियम हैं ; **अध्याय २** में समास और कारक के नियम हैं ; **अध्याय ३** में कृत्य और कृत् प्रत्ययों का वर्णन है कि धातु से किस प्रकार कृत् प्रत्यय लगते है; **अध्याय ४ और ५** में तद्धित प्रत्ययों का वर्णन है कि किस प्रकार तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द बनते हैं ; **अध्याय ६ और ७** में स्वर-नियम तथा शब्द-रचना से संबद्ध सन्धि-नियम हैं ; **अध्याय ८** में वाक्य-रचना से संबद्ध नियम हैं। इस सामान्य-क्रम में बार-बार एकाकी नियमों या अनेक नियमों के द्वारा क्रम-भंग हुआ है। ये नियम संभवतः लेखक ने अपने बाद के विस्तृत अध्ययन के आधार पर जोड़े हैं, अथवा ये नियम मूलरूप में दूसरे स्थान पर थे, जिन्हें अक्षरलाघव की दृष्टि से मूल स्थान से हटाकर वर्तमान स्थान पर रखा गया है।

सूत्र-निर्माण में पाणिनि ने अपना यह लक्ष्य रखा है कि सूत्रों को जितना कार्य-बोधक और सामान्य बनाया जा सके उतना बनाया जाए। इस कार्य में कहीं-कहीं वे इतना आगे बढ़ गए हैं कि केवल एक उदाहरण के लिए एक सामान्य नियम बनाया गया है और दूसरी ओर एक प्रकरण से संबद्ध कितनी ही बातें जो उस शीर्षक के अन्दर देनी चाहिएँ थी, उनका संग्रह छोड़ दिया गया है।

पाणिनि के व्याकरण की मुख्य विशेषता अत्यधिक शब्द लाघव है, इसके लिए पाणिनि ने कतिपय उपाय अपनाए हैं, जैसे—क्रियापद को लुप्त रखना, कारकों का विशेष परिभाषिक अर्थ में प्रयोग, अधिकार सूत्रों की रचना, जो बाद में आने वाले संबद्ध सभी नियमों के साथ जुड़ेंगे। इन उपायों का फल यह हुआ है कि कभी कभी केवल एक शब्द के द्वारा ही पूरे नियम का वर्णन हुआ है। इस प्रकार 'धातु' शब्द के पंचमी के रूप 'धातोः' का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि 'धातु से ये प्रत्यय होते हैं', अपि तु अधिकार-सूत्र होने के कारण बाद के लगभग ५४० सूत्रों में इसकी अनुवृत्ति (प्रभाव) होती है।

अक्षर-लाघव का सिद्धान्त पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में और अधिक विशेष रूप से द्रष्टव्य है। पाणिनि के वे पारिभाषिक शब्द जो वस्तुतः शब्द हैं, चाहे वे किसी विशेष कार्य को सूचित करते हों, जैसे—समास (सम्+आस, समस्त पद), या वे किसी उदाहरण रूप वर्ग को सूचित करते हों, जैसे—द्विगु (समास का एक भेद, संख्यापूर्वक कर्मधारयसमास, शब्दार्थ—दो गाय),

प्राचीन आचार्यों से ही प्रायः लिए गए हैं। किन्तु पाणिनि के अधिकांश पारिभषिक शब्द बीजगणित के संकेतों के तुल्य ऐच्छिक रूप से अपनाए गए कुछ वर्ण या वर्ण-समूह हैं। इनमें से बहुत थोड़े ऐसे हैं जो वास्तविक शब्द के संक्षिप्त रूप हैं, जैसे—'इति' से इत् (इत्संज्ञा वाले वर्ण, संकेत सूचक अनुबन्ध शब्द)। इनमें से अधिकांश परिभाषिक शब्द ऐसे हैं, जो विशेष चिन्तन के बाद बनाए गए हैं और ऐसे वर्णों को लेकर बनाए गए हैं, जिनका प्रयोग भाषा में बहुत कम होता है। इस प्रकार काल-बोधनार्थ 'ल' वर्ण लिया गया। इसके साथ मूर्धन्य ट् लगाने से लट् का अर्थ वर्तमान काल हो जाता है और ङ् लगाने से लङ् का अर्थ भूतकाल हो जाता है। इस प्रकार लट्, लिट्, लुट्, लेट् और लोट् का क्रमशः अर्थ होता है—वर्तमान, परोक्षभूत, भविष्यत्, संभावना अर्थ और आज्ञा अर्थ तथा लङ्, लुङ्, लिङ् का अर्थ होता है—अनद्यतन भूत, भूत और आज्ञा या चाहिए अर्थ।

पाणिनि का व्याकरण वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर संकलित वर्णमाला (अर्थात् अइउण् आदि १४ **माहेश्वरसूत्र**) से प्रारम्भ होता है। कुछ वर्णों के बाद इत् या अनुबन्ध वर्ण लगाए गए हैं। इन इत् वर्णों की सहायता से अनेक प्रत्याहार (संक्षिप्त शब्द) बनाए जाते हैं, जो संक्षेप में अनेक वर्णों के सूचक होते हैं। अ-इ-उ-ण्, ऋ-लृक्, ए-ओ-ङ्, ऐ-औ-च्, इन चार माहेश्वर सूत्रों में अच् (स्वर) संगृहीत हैं। चारों सूत्रों के अन्त में इत् वर्ण हैं, इनकी सहायता से अक् के द्वारा सामान्य स्वर कहे जा सकते हैं तथा अच् के द्वारा सामान्य और मिश्रित दोनों प्रकार के स्वर कहे जा सकते हैं। संस्कृत का अन्तिम वर्ण ह् है, इसे ह-ल् सूत्र से बताया गया है, अतः अल् (अ से लेकर ह तक) के द्वारा पूरी संस्कृत वर्णमाला बताई जाती है (जैसे अंग्रेज़ी के हिसाब से इसे a-z कहा जाए)। प्रत्ययों धातुओं और शब्दों के बाद भी इत् वर्ण लगाए जाते हैं, जो यह सूचित करते हैं कि इनमें कुछ विशेष नियम लगेंगे। साथ ही ऐसा करने से शब्द-लाघव होता है और प्रत्याहार आदि याद करने में सुविधा होती है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के साथ दो परिशिष्ट हैं, जिनका उसने उल्लेख किया है। एक 'धातुपाठ' है, इसमें भ्वादिगण आदि के क्रम से धातुएँ संगृहीत हैं। किस धातु के रूप किस पद में चलेंगे, इसका संकेत उदात्त आदि स्वरों और ङ् ञ् आदि अनुबन्ध वर्णों के द्वारा सूचित किया जाता है। धातुपाठ के

विषय में विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस धातुपाठ में लगभग २००० धातुएँ हैं (इसमें कुछ धातुएँ एक ही धातु के रूपान्तर हैं), किन्तु अभीतक उपलब्ध साहित्य में लगभग ८०० धातुएँ ही प्राप्त हुई हैं। साथ ही इसमें वेदों में प्राप्त होने वाली लगभग ५० धातुओं का उल्लेख नहीं है। दूसरा परिशिष्ट **'गणपाठ'** (अर्थात् एक प्रकार के शब्दों का संग्रह) है। पाणिनि ने एक प्रकार के शब्दों में लगने वाले नियमों के लिए उस गण का प्रथम शब्द देकर 'आदि' (इत्यादि) शब्द लगा दिया है। इस गणपाठ में कुछ शब्द ऐसे हैं, जो केवल वेदों में ही आए हैं। धातुपाठ की अपेक्षा गणपाठ घटिया ढंग से सुरक्षित मिलता है। ११४० ई० के लेखक **वर्धमान** द्वारा विरचित **'गण-रत्न-महोदधि'** (गण रूपी रत्नों का महासमुद्र) में ये गण श्लोक-बद्ध रूप में संकलित हैं।

बहुत प्राचीन समय से ही पाणिनि का ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाने लगा। यह ग्रन्थ कम से कम २ हजार वर्ष तक संस्कृतभाषा का आदर्श ग्रन्थ और संस्कृत-व्याकरण का आधार माना जाता रहा है। इस ग्रन्थ में शब्द-लाघव के लिए सभी अन्य बातों की बलि दी गई है और स्थान स्थान पर अस्पष्टता के कारण इसकी व्याख्या के लिए अन्य व्याख्या-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। साथ ही व्याकरण संबन्धी प्रगति के कारण यह भी आवश्यकता हुई कि इन नियमों को शुद्ध किया जाए और नियमों में परिवर्धन भी किया जाए। इस प्रकार के जो कार्य हुए उनमें सबसे प्राचीन कार्य परिभाषाओं (व्याख्या के नियमों) की रचना है। इनके लेखक अज्ञात हैं। इन परिभाषाओं के विषय में माना जाता है कि पाणिनि इन परिभाषाओं को मानते थे और पाणिनि के परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने इन पारिभाषाओं का उल्लेख किया है। **नागोजिभट्ट** ने १८वीं शती में अपने ग्रन्थ **'परिभाषेन्दुशेखर'** में इस प्रकार की परिभाषाओं का संकलन किया है।

इसके पश्चात् **कात्यायन** ने पाणिनि के १२४५ सूत्रों (अर्थात् लगभग $\frac{1}{3}$ अष्टाध्यायी के सूत्रों) पर अपने वार्त्तिक (टिप्पणी, वृत्ति अर्थात् व्याख्या से वार्तिक शब्द है) लिखे हैं। कात्यायन दक्षिण के निवासी थे और वे संभवतः, तृतीय शताब्दी ई० पू० में हुए थे। कात्यायन ने जहाँ पाणिनि की आलोचना में उससे मतभेद प्रकट किया है, वहाँ पाणिनि की भूल-चूक समझनी चाहिए,

किन्तु ऐसी भूल-चूकों के लिए यह तथ्य भी नहीं भूलना चाहिए कि कात्यायन परवर्ती हैं और वे पाणिनि के निवास स्थान से भारत के सुदूरवर्ती स्थान के वासी हैं। कात्यायन के पहले और बाद में अनेक वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने अष्टाध्यायी पर इस प्रकार के वार्त्तिक बनाए हैं। कात्यायन के बाद अनेक वैयाकरणों ने कारिका-ग्रन्थ (श्लोक बद्ध टिप्पणी) बनाए हैं।

पतंजलि ने अपने विशाल भाष्य **'महाभाष्य'** में इन सब आलोचनात्मक वार्त्तिकों और कारिकाओं आदि का संग्रह किया है। साथ ही उन्होंने अपनी भी व्याख्या दी है। पतंजलि की व्याख्या प्रश्नोत्तर के रूप में है और यह अष्टाध्यायी के १७१३ सूत्रों पर है। पहले कहा जा चुका है कि पतंजलि के महाभाष्य का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० का उत्तरार्ध है। सातवीं शताब्दी ई० में महाभाष्य की टीका **भर्तृहरि** ने अपने ग्रन्थ **'वाक्यपदीय'** (वाक्यगत पदों का विश्लेषणात्मक प्रबन्ध) में की है और इसका संबन्ध व्याकरण-दर्शन (व्याकरण का दार्शनिक पक्ष) से है। दूसरी टीका **कैयट** ने लिखी है, जो संभवतः १३ वीं शताब्दी ई० में हुआ था।

अष्टाध्यायी पर ६५० ई० के लगभग दूसरी टीका **'काशिका वृत्ति'** (बनारसी टीका) लिखी गई। इसके प्रथम पाँच अध्यायों की टीका **जयादित्य** ने की है और अन्तिम तीन अध्यायों की टीका **वामन** ने की है। इसमें पाणिनि के सूत्रों का कुछ विकृत रूप है और कुछ त्रुटियाँ भी हैं, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें लाघव, प्रवाह और सरलता है। यद्यपि यह टीका महाभाष्य से बहुत छोटी है, फिर भी इस अर्थ में बहुमूल्य है कि यह अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों की व्याख्या वाली सबसे प्राचीन टीका है। इसमें जो उदाहरण दिए गए हैं, वे प्रायः सभी प्राचीन टीकाकारों के ग्रन्थों से लिए गए हैं। इस प्रकार का उद्धरण सामान्य-क्रम रहा है। यहाँ तक कि पतंजलि ने भी ऐसे उदाहरणों को मूर्धाभिषिक्त (दीक्षित) बताया है।

१५ वीं शताब्दी ई० में **रामचन्द्र** ने अपने ग्रन्थ **'प्रक्रियाकौमुदी'** (विधियों की चन्द्रिका) में पाणिनीय व्याकरण को अधिक सुबोध और अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए विषयानुसार नवीन ढंग से विभक्त किया। इसी प्रकार के उद्देश्य से १७ वीं शताब्दी ई० में **भट्टोजि** ने **'सिद्धान्त-कौमुदी'** (निर्णीत-सिद्धान्तों की चन्द्रिका) की रचना की। इसमें पाणिनि के सूत्रों को अधिक

सुसंगत और व्यवस्थित रूप में रखा गया है, इसका ही संक्षिप्त संस्कर
वरदाचार्य ने **'लघु- (सिद्धान्त) कौमुदी'** नाम से बनाया है, जो संस्कृत व्य
करण के प्रारम्भिक छात्रों के लिए भारत में प्रयुक्त होता है। अभीतक भा
तीय पण्डितों में यह विश्वास बद्धमूल है कि पाणिनि के व्याकरण में त्रु
नहीं हो सकती है, अतः पतंजलि से लेकर बाद के सभी उपर्युक्त लेखकों
पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या में कतिपय असंगत व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं

परकालीन वैयाकरण, जो पाणिनीय परम्परा से संबद्ध नहीं हैं, विशे
महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनमें नई बातें प्रायः नहीं के बराबर हैं और पाणि
की अपेक्षा बहुत अपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें वैदिक-प्रक्रिया, स्वर-प्रक्रिया आ
पूरे अंश छोड़ दिए गए हैं। इनमें नई बातें नहीं हैं, परन्तु इनका उद्देश्य है न
पद्धति को अपना कर विषय को अधिक सरल और सुबोधरूप में प्रस्तुत करना
इन अ-पाणिनीय वैयाकरणों में विशेष उल्लेखनीय ये हैं :—**चन्द्र**,[1] इसक
समय ६५० ई० के लगभग माना जाता है।[2] (२) **शाकटायन** (नकली), ज
काशिका वृत्ति के बाद का है, (३) **हेमचन्द्र** (१२ वीं शताब्दी ई०)। य
तीनों में सबसे महत्त्वपूर्ण है। **शर्ववर्मन्** (अनिश्चित समय) के **'कातन्त्र'**
प्राचीन पारिभाषिक शब्दावली, विशेषरूप में प्रातिशाख्य ग्रन्थों की शब्दावली
से बहुत मिलती-जुलती है। यह परकालीन व्याकरणों से सबसे अधिक प्रभाव
शाली व्याकरण प्रतीत होता है। यह **कात्यायन** के प्रामाणिक **पालि-व्याकरण**,
द्राविड और तिब्बती व्याकरणों का आधार-ग्रन्थ रहा है। **वोपदेव** का **मुग्ध-
बोध** (अबोधों के लिए प्रकाशक) एक बहुत दुर्बोध ग्रन्थ है। इसका समय १३
वीं शताब्दी ई० के बाद का है। यह बंगाल में आजतक प्रमुख संस्कृत-व्या
करण के रूप में उपयोग में आ रहा है। अन्त में एक अज्ञात लेखक द्वारा
लिखित **सरस्वतीसूत्र (सारस्वत-व्याकरण** के सूत्र) उल्लेखनीय है। यह शब्द-
लाघव और सरलता के लिए प्रसिद्ध है।

---

१. इसके ग्रन्थ 'चान्द्र-व्याकरण' का सम्पादन प्रो० Bruno Liebich (Leipziq, १९०२) ने किया है।

२. इसके लिए देखो—Vienna Oriental Journal(१३,३०८-१५); Winternitz, Geschichte der indischen Litterature (भाग २, पृ. २५६).

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ हैं, जिनका संबन्ध व्याकरण के किसी विशेष विषय से है। ये ग्रन्थ संस्कृत-व्याकरण के ज्ञान की वृद्धि में कुछ महत्त्व-पूर्ण योग देते हैं। इनमें **शान्तनव के फिट् सूत्र** हैं। ये महाभाष्य के बाद बने हैं, किन्तु उस समय तक बन चुके थे, जब तक प्राचीन स्वर-संचार की प्रक्रिया सजीवरूप में ज्ञात थी। इसमें पाणिनि के तुल्य प्रकृति और प्रत्यय में अलग-अलग स्वर संचार के नियम नहीं दिए हैं, अपितु बने हुए शब्दरूपों और संज्ञा-शब्दों में स्वर के नियम दिए हैं कि कहाँ पर अन्तिम स्वर उदात्त होगा और कहाँ पर प्रथम स्वर उदात्त होगा। पाणिनि ने यद्यपि स्त्रीलिंग प्रत्ययों का उल्लेख किया है और लिंग-विषयक सामान्य नियमों की उपेक्षा नहीं की है, तथापि उन्होंने प्रत्येक शब्द के लिंग-निर्धारण का प्रयत्न नहीं किया है, इस-दृष्टि से लिंगानुशासन वाले ग्रन्थों का कुछ मूल्य हो सकता है। विशेषरूप से **हेमचन्द्र के लिङ्गानुशासन** में लिंग-विषयक बातों का सामान्यरूप से सामूहिक विवेचन हुआ है।

यूरोपीय विद्वानों में सर्वप्रथम जर्मन मिश्नरी **Heinrich Roth** ने संस्कृत-व्याकरण लिखा था। यह Augsburg का निवासी था और Jesuit College आगरा में Superior था। आगरा में ही १६६८ई० में इसकी मृत्यु हुई थी। इसका ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है, परन्तु अभी तक इसकी पांडुलिपि रोम में सुरक्षित है। **Kircher** के China Illustrata (Amsterdam, १६६७, पृ० १६२-६३) में रॉथ का एक लेख है। इसमें देवनागरी लिपि में संस्कृत वर्णमाला के ५ चार्ट हैं (यह वस्तुतः देवनागरी लिपि का सर्वप्रथम नमूना है, जो यूरोप में छपी किसी भी पुस्तक में उपलब्ध है)।

यूरोप में छपी सर्वप्रथम संस्कृत-व्याकरण की पुस्तक **Paulinus a Sancto Bartholomaeo** द्वारा लिखित थी। यह लेटिन भाषा में लिखी गई थी और १७९० में रोम में छपी थी। यह ग्रन्थ कुछ अंशों में जर्मन ईसाई मिश्नरी **Hanxleden**, जिसकी मृत्यु १७३२ में हुई थी, की छोड़ी हुई पाण्डुलिपि पर निर्भर था। संस्कृत का पहला वैज्ञानिक व्याकरण जो पूर्ण माना जा सकता है, **कोलब्रुक (Colebrooke)** द्वारा रचित था और १८०५ में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद १८०६ में **कारे (Carey)** (द्वारा लिखित व्याकरण छपा। कोलब्रुक का व्याकरण पाणिनि पर निर्भर था और कारे

का व्याकरण वोपदेव पर आश्रित था। संस्कृत का प्रथम व्याकरण जो यूरोपीय सिद्धान्तों पर निर्भर था, वह **विल्किन्स** (Wilkins) (१८०८) का था, जिसने गत शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप में संस्कृत के अध्ययन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला था। उसके परवर्ती लेखकों में विशेष उल्लेखनीय हैं—**बॉप (Bopp), बेन्फे (Benfey) और ह्विट्ने (Whitney)। बॉप** का संस्कृत व्याकरण सरलता के साथ ही साथ भाषावैज्ञानिक पद्धति अपनाने के कारण महत्त्वपूर्ण था। **बेन्फे** प्रथम व्यक्ति था, जिसने पाणिनीय व्याकरण के साथ ही वैदिक तथा रामायण और महाभारत की विशेषताओं का भी एकत्र समन्वय किया था। उसने संस्कृत रूपों की व्युत्पत्ति के लिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान का उपयोग किया था। अमेरिकन विद्वान् **ह्विटने** प्रथम व्यक्ति था, जिसने वैदिक व्याकरण का अधिक विस्तृत विवेचन करके संस्कृत का ऐतिहासिक व्याकरण प्रस्तुत किया और यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार वैदिक भाषा से संस्कृत भाषा विकसित हुई है। संस्कृत का प्रथम व्याकरण, जो शुद्ध रूप से तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर निर्भर हो, **प्रो० जे० वाकरनागल (Prof. J.Wackernagal)** द्वारा रचित प्रशंसनीय कृति है। इसके प्रथम भाग, (१८९६) में ध्वनि-विचार (Phonology) है और दूसरे भाग के प्रथम अंश (१९०५) में समास-विचार है। इस ग्रन्थ का इतना ही अंश अभी तक प्रकाशित हुआ है।

हमारे देश में १९ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में जो संस्कृत-व्याकरण सबसे अधिक प्रचलित रहे हैं, वे **मोनियर विलियम्स (Monier-williams)** और **मैक्स मूलर (Max Muller)** के हैं। इन दोनों के व्याकरणों में बहुत सी सामग्री भारतीय पद्धति से ली गई है, जिसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है, अपितु साहित्यिक संस्कृत सीखने वालों के लिए यह विघ्न रूप में है। इस प्रकार की सारी सामग्री इस ग्रन्थ से निकाल दी गई है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हमें भारतीय वैयाकरणों से कोई चिढ़ है, अपि तु हमारा उद्देश्य है कि व्याकरण की वही सामग्री प्रस्तुत की जाए जो आजतक के विद्वानों द्वारा वस्तुतः भाषा में प्रयुक्त हुई है और जिसके द्वारा व्याकरण को सरल और सुबोध बनाया जा सके। इसमें से वैदिक रूपों को भी निकाल दिया गया है, किन्तु यूरोपीय और भारतीय विद्यार्थी प्राचीन भाषा से कुछ

परिचित हो सकें, इसके लिए परिशिष्ट ३ में वैदिक व्याकरण की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इसके द्वारा वे वैदिक भाषा का अध्ययन प्रारम्भ कर सकते हैं। मेरा नवीन प्रकाशित ग्रन्थ **Vedic Grammar** (वैदिक व्याकरण) प्रारम्भिक छात्रों के लिए बहुत विस्तृत ग्रन्थ है। मैं चाहता हूँ कि इस 'संस्कृत-व्याकरण-प्रवेशिका' के तुल्य ही एक सरल वैदिक व्याकरण प्रस्तुत करूँ, जिसमें वाक्य-विचार भी हो। जिस प्रकार यह संस्कृत-व्याकरण प्रारम्भिक छात्रों के लिए लौकिक संस्कृत की सामान्य शिक्षा देता है, उसी प्रकार वह ग्रन्थ वैदिक भाषा के विषय में संक्षिप्त रूपरेखा देकर सहायक सिद्ध होगा।

यद्यपि लौकिक संस्कृत में स्वर-चिह्न नहीं लगाए जाते हैं, फिर भी मैंने भाषावैज्ञानिक महत्त्व के कारण वैदिक भाषा के आधार पर जहाँ तक स्वर-निर्णय संभव हुआ है, वहाँ तक इंग्लिश् में रूपान्तरित रूपों पर स्वरचिह्न देने का प्रयत्न किया है। परिशिष्ट ३ में वैदिक स्वरों के विषय में संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है।

———

विषय-सूची

अध्याय १

वर्णमाला

१—**संस्कृत** (सम्+कृत, परिष्कृत) प्राचीन भारत की साहित्यिक भाषा का परवर्ती रूप है, जिसका वर्णन पाणिनि ने अपने व्याकरण में किया है। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती **वैदिक** भाषा से प्रायः मिलती-जुलती है। शनैःशनैः यह वैदिक बोली से भिन्न हो गई। यह विकास प्रगतिशील न होकर ह्रासोन्मुख था। इसमें वैदिक भाषा के बहुत से प्राचीन रूप (शब्द-रूप और धातुरूप) पूर्णतया लुप्त हो गए हैं, जैसे—पूरा लोट् लकार (Subjunctive Mood) तथा केवल तुमुन् (तुम्) प्रत्यय को छोड़कर शेष सभी तुमुन् अर्थ वाले प्रत्यय। मुख्य परिवर्तन शब्दावली में हुआ है। यद्यपि इसमें बहुत से प्राचीन शब्द और धातु लुप्त हो गए हैं, किन्तु उनके स्थान पर नए शब्दों और नए अर्थों की उपलब्धि से संस्कृत-शब्दकोश में पर्याप्त वृद्धि हुई है। वस्तुतः वैदिक और संस्कृत भाषा में बहुत-कुछ अंशों में उतना ही अन्तर है जितना होमरिक (Homeric) और एट्टिक (Attic) ग्रीक में।

२—वैदिक संस्कृत से प्रचलित **प्राकृत** बोलियाँ उत्पन्न हुई हैं। प्राकृत शब्द प्रकृति (मूल भाषा, अर्थात् संस्कृत भाषा) शब्द से बना है जिसका अर्थ है—संस्कृत से उत्पन्न भाषा, परन्तु बाद में इसका अर्थ जनसाधारण की भाषा या असभ्य जन की भाषा हो गया। प्राकृत का अर्थ असभ्य, अशिक्षित है। प्राकृत भाषाओं के प्राचीनतम रूप तृतीय शताब्दी ई० पू० (B. C.) के महाराज अशोक के शिलालेखों में सुरक्षित मिलते हैं। एक शिलालेख में इस प्राकृत का पालि नाम मिलता है। यही पालि भाषा दाक्षिणात्य बौद्धों की पवित्र साहित्यिक भाषा बनी है। शिलालेखों, स्तम्भ-लेखों, समस्त साहित्यिक

ग्रन्थों और कुछ अंशों में संस्कृत नाटकों में सुरक्षित इन प्राचीन प्राकृत भाषाओं से ही वर्तमान भारत की अधिकांश भाषाएं (बोलियां), जैसे—पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, हिन्दी, बिहारी और बंगला—निकली हैं हिन्दी भाषा में ही जब अरबी और फारसी शब्द विशेषरूप से मिल जाते हैं तो उसे उर्दू या हिन्दुस्तानी कहते हैं। दक्षिण भारत की द्रविड परिवार की भाषाएँ तेलगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम् यद्यपि आर्य-परिवार की भाषाएं नहीं है, तथापि इनमें संस्कृत शब्द भरे हुए हैं और इनके साहित्य में संस्कृत भाषा की रचना-शैली की ही सर्वत्र प्रधानता है।

३—मेसोपोटामिया (Mesopotamia) से इधर फैलते हुए, संभवत ७०० ई० पू० के लगभग, सेमिटिक (Semitic) भाषा की वर्णमाला का एक रूप भारत के उत्तर-पश्चिम में प्रारम्भ हुआ। इस लिपि को भारत में सबसे पहले जो अपनाया गया, उसका ज्ञान हमें तृतीय शताब्दी ई० पू० के सिक्कों और अभिलेखों से होता है। इनमें इस लिपि को ब्राह्मी (अर्थात् ब्रह्मा की लिपि) कहा गया है। यद्यपि यह बाएँ से दाएँ लिखी जाती है, तथापि इसमें स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि यह किसी समय में दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी इस ब्राह्मी लिपि से ही भारत की सभी परकालीन लिपियाँ निकली हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नागरी या देवनागरी लिपि है। नागरी का अभिप्राय है 'नगर-निवासियों की लिपि' या संभवतः गुजरात के 'नागर ब्राह्मणों की लिपि'। देवनागरी शब्द बाद में प्रयोग में आया है, इसका अर्थ है—'देवताओं के नगरों की लिपि', किन्तु इस शब्द की उत्पत्ति का अभी तक निश्चित ज्ञान नहीं है। इस देवनागरी लिपि की वर्णमाला का यह विशेष रूप आठवीं शताब्दी ईसवीय (A.D.) के मध्य के लगभग हुआ है। उत्तर भारत में संस्कृत भाषा प्रायः देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है, परन्तु बंगाल और उड़ीसा आदि प्रान्तों में अपनी प्रान्तीय लिपियों—बंगला और उड़िया आदि—में भी लिखी जाती है। दक्षिण भारत में संस्कृत के लिए नियमित रूप से द्रविड़ परिवार की लिपियों का ही उपयोग किया जाता है।

४—देवनागरी वर्णमाला में ४८ अक्षर होते हैं—१३ स्वर और ३५ व्यंजन। इन ३५ व्यंजनों में अनुस्वार (ं) और विसर्ग (:) की भी गणना

है। ये अक्षर संस्कृत भाषा की सभी ध्वनियों को प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने निम्नलिखित सारणी के रूप में दिए गए इस वर्णमाला के अक्षर-विन्यास को अपनाया है। इसका क्रम पूर्णतया वैज्ञानिक है, अतएव यूरोपीय विद्वानों ने अपने संस्कृत-कोशग्रन्थों में इसी क्रम को अपनाया है।[1]

देवनागरी वर्णमाला

स्वर			स्वर		
शुद्धरूप	मात्रा	समवर्ण	शुद्धरूप	मात्रा	समवर्ण
अ	—	a	ॠ	ॄ	ṝ (rī)
आ	ा	ā	ऌ	ॢ	ḷ
इ	ि	i	ए	े	e
ई	ी	ī	ऐ	ै	ai
उ	ु	u	ओ	ो	o
ऊ	ू	ū	औ	ौ	au
ऋ	ृ	ṛ (ṛi)			

१. संस्कृत के प्रारम्भिक छात्रों को शब्दकोष में अनुस्वार और विसर्ग के कारण शब्द ढूंढ़ने में बहुत अधिक कठिनाई अनुभव होती है. अतः निम्नलिखित टिप्पणी वर्णों के क्रम-संबन्धी ज्ञान के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। अन्तःस्थ, ऊष्म और ह् से पूर्ववर्ती अपरिवर्तनीय अनुस्वार (देखो नियम-संख्या ४२ ख-१) अन्य सभी व्यंजनों से पहले आता है, अतः शब्द-कोष में संवर, संशय, ये सक शब्द से पहले आयेंगे। परिवर्तनशील अनुस्वार (देखो नियम संख्या १० और ४२ ख-२) जिस नासिक्य वर्ण (पंचम वर्ण) के रूप में परिवर्तित हो सकता है, उस नासिक्य वर्ण के साथ रहेगा। अतः संग शब्द सङ्ग के साथ कोष-ग्रन्थ में आएगा। इसी प्रकार कठोर कवर्ग और पवर्ग (क, ख, प, फ) से पूर्व अपरिवर्तनशील विसर्ग अन्य सभी व्यंजनों से पहले आता है। अतएव अन्तःकरण और अन्तःपुर शब्द अन्त शब्द के पश्चात् आयेंगे और अन्तक शब्द से पहले। किन्तु ऊष्म से पहले परिवर्तनशील विसर्ग जिस ऊष्म वर्ण के रूप में परिवर्तित हो सकता है, उस ऊष्मवर्ण के साथ रहेगा। अतः अन्तःस्थ और अन्तस्स्थ दोनों एक स्थान पर एक-साथ आयेंगे।

व्यंजन

कवर्ग	कण्ठ्य	समवर्ण
क		k
ख		k-h
ग		g
घ		g-h
ङ		ṅ

चवर्ग	(तालव्य)	
च		c
छ		c-h
ज		j
झ		j-h
ञ		ñ

टवर्ग	(मूर्धन्य)	
ट		ṭ
ठ		ṭ-h
ड		ḍ
ढ		ḍ-h
ण		ṇ

तवर्ग	(दन्त्य)	
त		t
थ		t-h
द		d
ध		d-h
न		n

पवर्ग	(ओष्ठ्य)	समवर्ण
प		p
फ		p-h
ब		b
भ		b-h
म		m
:	(विसर्ग)	ḥ
ं	(अनुस्वार	ṃ या ṁ

व्यंजन

अन्तःस्थ		समवर्ण
य		y
र		r
ल		l
व		v
ऊष्म		
श		ś
ष		ṣ
स		s
ह		h

५—स्वर शब्द के प्रारम्भ में और व्यंजन के अन्त में विभिन्न प्रकार से लिखे जाते हैं। स्वर ये हैं:—

(क) **सामान्य स्वर** (Simple vowels) :—

अ (×)[1] a, इ (ि) i[2], उ (ु) u, ऋ (ृ) ṛ, लृ (ॢ) ḷ,
आ (ा) ā, ई (ी) ī, ऊ (ू) ū, ॠ (ॄ) ṝ

(ख) **मिश्रित स्वर** (Diphthongs):—

ए (े) e,[3] ऐ (ै) ai,[4] ओ (ो) o, औ (ौ) au,[5]

---

१. ह्रस्व (अ) की कोई पृथक् मात्रा नहीं है, क्योंकि यह माना जाता है कि ह्रस्व अ सभी व्यंजनों में स्वयंसिद्ध रूप से रहता है। जैसे—क—ka।

२. शब्दों के बीच में या अन्त में आने वाली (इ) की मात्रा (ि) जिस शब्द के बाद बोली जाती है, उससे पहले लगती है। जैसे—कि ki। मूलरूप में इ और ई की मात्राएँ क्रमशः व्यंजन के बाईं ओर और दाईं ओर ऊपर कोण के रूप में लिखी जाती थीं, किन्तु कुछ समय बाद स्पष्टता के लिए इ की मात्रा बाईं ओर सीधी लकीर के रूप में हो गई और ई की मात्रा दाईं ओर सीधी लकीर के रूप में।

३. ए और ओ प्रायः सभी स्थानों पर मूल ध्वनि अइ ai और अउ au पर निर्भर हैं, तथापि ये दोनों स्वर कम से कम ३०० ई० पू० से लेकर अबतक अधिकांश यूरोपीय भाषाओं में सामान्य दीर्घ स्वर ए और ओ (ē and ō) के रूप में उच्चरित होते हैं।

४. यद्यपि ऐ और औ निर्वचन की दृष्टि से आई और आऊ (āi and āu) को प्रस्तुत करते हैं, परन्तु कम से कम ३०० ई० पू० से लेकर अबतक इनका उच्चारण अई और अऊ (āi and āu) के रूप में होता है।

५ उपर्युक्त मात्रा-चिह्न व्यंजनों के बाद लगते हैं। जैसे—क् (k) मात्राओं के साथ इस प्रकार लिखा जाएगा :—

क ka, का kā, कि ki, की kī, कु ku, कू kū, कृ kṛ, कॄ kṝ, कॢ kḷ, के ke, कै kai, को ko, कौ kau,। र् के बाद उ और ऊ नीचे न लगाकर बगल में लगाते हैं—रु ru, रू rū।

सारणी

	कठोर अल्पप्राण	कठोर महाप्राण	मृदु अल्पप्राण	मृदु महाप्राण	मृदु अनुनासिक	मृदु अन्तःस्थ	कठोर ऊष्म	स्वर ह्रस्व	स्वर दीर्घ	मृदु मिश्रित स्वर	
कण्ठ्य	क	ख	ग	घ	ङ	ह[3]	:[4]	अ	आ	ए	ऐ
तालव्य[1]	च	छ	ज	झ	ञ	य	श	इ	ई		
मूर्धन्य[2]	ट	ठ	ड	ढ	ण	र	ष	ऋ	ॠ		
दन्त्य	त	थ	द	ध	न	ल	स	ऌ			
ओष्ठ्य	प	फ	ब	भ	म	व	:[5]	उ	ऊ	ओ	औ

१. तालव्य ध्वनियाँ अधिकांश में मूल कण्ठ्य वर्णों से निकली हैं। मूल कण्ठ्य वर्णों के बाद यदि तालव्य स्वर होते थे तो तालव्य स्वर के कारण कण्ठ्य (कवर्ग) वर्णों को तालव्य हो जाता था, किन्तु मैक्समूलर ने इनको टेढ़े कवर्ग के रूप में प्रस्तुत किया है।

२. यह देशज प्राचीन संस्कृत शब्द मूर्धन्य का अनुवाद है, जो मूर्धन् शब्द से बना है। इसका अर्थ है शिरोभाग में उत्पन्न होने वाला, अर्थात् शिर के ऊपरी भाग के अत्यन्त समीप जो मुख का सबसे ऊपरी भाग है उससे उत्पन्न होने वाला। बॉप (Bopp) के समय से इस मूर्धन्य ध्वनि को linguals भी प्रायः कहा जाता है। ये वर्ण मूल दन्त्य वर्णों से निकले हैं। मूल दन्त्य वर्णों के आगे या पीछे यदि मूर्धन्य ष् या र् ध्वनि होती थी तो दन्त्य वर्ण मूर्धन्य हो जाते थे।

३. ह अन्तःस्थ नहीं है, किन्तु अन्य सामान्य (इ, उ आदि) स्वरों के तुल्य मृदु श्वास के समकक्ष कण्ठ्य स्वर है। अ का कोई अपना अन्तःस्थ नहीं है। यह घ (g-h) आदि के अन्तरार्थ ह् ध्वनि के समकक्ष है।

४. (विसर्ग) : में कठोर श्वास है और यह ख (k-h) आदि कठोर महाप्राण वर्णों के उत्तरार्ध के समकक्ष है। यह पद के अन्त में और क तथा प से पहले स् और र् के स्थान में विसर्ग के रूप में रहता है। क से पहले विसर्ग को जो रूपान्तरण होता है, उसे जिह्वामूलीय ⌣क (जीभ के मूल से उत्पन्न) और प से पूर्व होने वाले रूपान्तरण ⌣ प को उपध्मानीय (फूँकना) कहते हैं। इनका पहले प्रयोग होता था, परन्तु अब ये लुप्त हो गए हैं। ये दोनों अर्ध-विसर्ग के तुल्य लिखे जाते हैं। इनमें जर्मन ख् (ch) और फ (f) के तुल्य ध्वनि रहती है।

५. यहाँ पर यह विशेष उल्लेखनीय है कि ऊपर की सारणी में पंक्ति १, २ और ७ में कठोर (श्वास और अघोष) वर्ण हैं, शेष सभी वर्ण मृदु (नाद और घोष) वर्ण हैं।

६—उपरिलिखित सारणी में वर्णों के उच्चारण-स्थान के अनुसार देवनागरी वर्णमाला की ध्वनियों का पूरा वर्गीकरण (जो कि पाणिनि के समय में प्रचलित था) दिया गया है :—

७—अनुस्वार (स्वर के पश्चात् लगने वाला) स्वर के बाद लगने वाली नासिक्य ध्वनि है और यह वर्ग के पंचम वर्णों से भिन्न है। यह उस स्वर के ऊपर बिन्दु (ं) के रूप में लिखा जाता है, जिसके बाद इसका उच्चारण होता है। जैसे—कं। ल् से पहले यह अनुस्वार कभी-कभी ँ अनुनासिक के रूप में लिखा जाता है। जैसे—कँ। मूलरूप में इसका वास्तविक स्थान ऊष्म और ह् ध्वनियों से पहले था, वहां से इसका विस्तार हुआ है। अनुस्वार (ं) और अनुनासिक (ँ) ध्वनियों में भी कभी-कभी अन्तर किया जाता है। अनुनासिक का अभिप्राय है—नासिक्य ध्वनि-युक्त स्वर।

८—देवनागरी वर्णमाला लिखने में वर्ण का विशिष्ट अंश सर्वप्रथम लिखा जाता है। तत्पश्चात् एक सीधी लकीर (खड़ी पाई) खींची जाती है और अंत में वर्ण के ऊपर एक पड़ी पाई (समानान्तर रेखा) लगाई जाती है।[1] जैसे—(८ > त > त।

९—हल् व्यंजनों के नीचे एक छोटी लकीर बाईं से दाईं ओर लगाई जाती है। इसको हल् कहते हैं। जैसे—अ के बाद क्—अक् लिखा जाएगा।

संस्कृत में दो विराम-चिह्न हैं—१—एक सीधी लकीर (।), २—दो सीधी लकीर (॥)। श्लोक के आधे भाग के बाद और वाक्य के अन्त में एक लकीर लगाई जाती है। पूरे श्लोक के अन्त में तथा अनुच्छेद (पैराग्राफ) के अन्त में दो लकीरें लगाई जाती हैं।

यूरोपीय संस्करणों में शब्द के आदि में आने वाले लुप्त अ का अवग्रह चिह्न (ऽ) से संकेत किया जाता है। जैसे—ते अपि के स्थान पर तेऽपि लिखा जाता है।

---

१. मूलरूप में यह वर्ण का अनिवार्य अंग नहीं था, किन्तु यह रेखा का एक अंश है, जिसके नीचे वर्ण लिखा जाता है।

संक्षेप के लिए ० (शून्य) का चिह्न दिया जाता है। इसका अभिप्राय है कि शून्य वाले स्थान पर पूर्वोक्त कुछ अंश लुप्त है। जैसे—गतम्, ०तेन (अर्थात् गतेन)।

१०—किसी एक पद में जब वर्ग के पंचम वर्ण आते हैं और उनके बाद उसी वर्ग का कोई वर्ण रहता है तो उसे परवर्ती वर्ण का समकक्ष पंचम वर्ण लिखना चाहिए। परन्तु लेख-सौकर्य के लिए अशुद्ध होने पर भी पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार (ं) का प्रयोग किया जाता है। जैसे—अङ्कित के स्थान पर अंकित, कम्पित के स्थान कंपित। इसी प्रकार वाक्य के अन्त में अन्तिम म् को अशुद्ध होने पर भी अनुस्वार के रूप में लिखा जाता है। जैसे अहम् के स्थान पर अहं। दोनों स्थानों पर उच्चारण में कोई अन्तर नहीं है।

११—यदि एक व्यंजन के बाद एक या अनेक व्यंजन आते हैं तो उनको संयुक्त वर्ण के रूप में लिखा जाता है। जैसे—अत्क, कात्स्न्र्य। इन संयुक्त वर्णों के विषय में सामान्य नियम यह है कि वर्ण के बाद की सीधी और पड़ी दोनों लकीरें हटा दी जाती हैं। केवल अन्तिम वर्ण के बाद ये लकीरें रहेंगी। ये संयुक्त वर्ण सामान्यतया सरलता से पहचाने जा सकते हैं। जो संयुक्त वर्ण कुछ कठिनाई से पहचाने जा सकते हैं उनका विवरण अग्रिम संयुक्त वर्ण-सूची में दिया गया है।

१२—निम्नलिखित संयुक्त वर्ण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(१) ज्ञ और क्ष में संबद्ध अवयव पहचाने नहीं जा सकते हैं। जैसे—ज्+ञ=ज्ञ, क्+ष=क्ष।

(२) कुछ स्थानों पर त् के मुख्य अंश और क् के गोल अंश के लिए संयुक्त वर्णों में पड़ी लकीर का प्रयोग किया जाता है। जैसे—त्+त त्त, क्+त=क्त।

(३) श् के बाद कोई व्यंजन, उ ऊ या ऋ ॠ स्वर हो तो श् को श्र् लिखा जाता है। जैसे—श्+च=श्च, श्+उ=शु, श्+ऋ=शृ।

(४) व्यंजन के बाद र् आता है तो उसका वर्ण के नीचे दाईं से बाईं ओर जाने वाली एक छोटी लकीर के द्वारा निर्देश किया जाता है। जैसे—क्+र=क्र, द्+र=द्र, ष्+ट्+र=ष्ट्र, न्+त्+र्+य=न्त्र्य। व्यंजन या ऋ स्वर के पहले यदि र् होता है तो वह परवर्ती वर्ण के ऊपर ॅ के रूप में प्रयोग में आता

है। जैसे अर्+क=अर्क। वर्+ष्म=वर्ष्म। निर्+ऋति=निर्ऋति। यदि उस वर्ण के ऊपर कोई स्वर-चिह्न है तो यह र् उस स्वर-चिह्न के बाद लगेगा। जैसे—अर्+केन्दु=अर्केन्दु।

संयुक्त वर्ण-सूची (List of Compound Consonants)

१३—क्+क=क्क, क्+ख=क्ख, क्+च=क्च, क्+ण=क्ण, क्+त=क्त, क्+त्+य=क्त्य, क्+त्+र=क्त्र, क्+त्+र्+य=क्त्र्य, क्+त्+व=क्त्व, क्+न=क्न, क्+न्+य=क्न्य, क्+म=क्म, क्+य=क्य, क्+र=क्र, क्+र्+य=क्र्य, क्+ल=क्ल, क्+व=क्व, क्+व्+य=क्व्य, क्+ष=क्ष, क्+ष्+म=क्ष्म; क्+ष्+य=क्ष्य, क्+ष्+य=क्ष्य, क्+ष्+व=क्ष्व, ख्+य=ख्य, ख्+र=ख्र, ग्+य=ग्य, ग्+र=ग्र, ग्+र्+य=ग्र्य, घ्+न=घ्न, घ्+न्+य=घ्न्य, घ्+म=घ्म, घ्+य=घ्य; घ्+र=घ्र, ङ्+क=ङ्क, ङ्+क्+त=ङ्क्त, ङ्+क्+त्+य=ङ्क्त्य, ङ्+क्+य=ङ्क्य, ङ्+क्+ष=ङ्क्ष, ङ्+क्+ष्+व=ङ्क्ष्व, ङ्+ख=ङ्ख, ङ्+ख्+य=ङ्ख्य, ङ्+ग=ङ्ग, ङ्+ग्+य=ङ्ग्य, ङ्+घ=ङ्घ, ङ्+घ्+य=ङ्घ्य, ङ्+घ्+र=ङ्घ्र, ङ्+ङ=ङ्ङ, ङ्+न=ङ्न, ङ्+म=ङ्म, ङ्+य=ङ्य।

च्+च=च्च, च्+छ=च्छ, च्+छ्+र=च्छ्र, च्+ञ=च्ञ च्+म=च्म, च्+य=च्य, छ्+य=छ्य, छ्+र=छ्र, ज्+ज=ज्ज, ज्+झ=ज्झ, ज्+ञ=ज्ञ, ज्+ञ्+य=ज्ञ्य, ज्+म=ज्म, ज्+य=ज्य, ज्+र=ज्र, ज्+व=ज्व, ञ्+च=ञ्च, ञ्+च्+म=ञ्च्म, ञ्+च्+य=ञ्च्य, ञ्+छ=ञ्छ, ञ्+ज=ञ्ज, ञ्+ज्+य=ञ्ज्य।

ट्+ट=ट्ट, ट्+य=ट्य, ठ्+य=ठ्य, ठ्+र=ठ्र, ड्+ग=ड्ग, ड्+ग्+य=ड्ग्य, ड्+घ=ड्घ, ड्+घ्+र=ड्घ्र, ड्+म=ड्म, ड्+य==ड्य, ढ्+य=ढ्य, ढ+र=ढ्र, ण्+ट=ण्ट, ण्+ठ=ण्ठ, ण्+ड=ण्ड, ण्+ड्+य=ण्ड्य, ण्+ड्+र=ण्ड्र, ण्+ड्+र्+य=ण्ड्र्य, ण्+ढ=ण्ढ, ण्+ण=ण्ण, ण्+य=ण्य, ण्+व=ण्व।

त्+क=त्क, त्+क्+र=त्क्र, त्+त=त्त, त्+त्+य=त्त्य, त्+त्+र=त्त्र, त्+त्+व=त्त्व, त्+थ+त्थ, त्+न=त्न, त्+न्+य

=त्न्य, त्+प=त्प, त्+प्+र=त्प्र, त्+म=त्म, त्+म्+य=त्म्य, त्+य=त्य, त्+र=त्र, त्+र्+य=त्र्य, त्+व=त्व, त्+स=त्स, त्+स्+न=त्स्न, त्+स्+न्+य=त्स्न्य, थ्+य=थ्य, द्+ग=द्ग, द्+ग्+र=द्ग्र, द्+घ=द्घ, द्+घ्+र=द्घ्र, द्+द=द्द, द्+द्+य=द्द्य, द्+ध=द्ध, द्+ध्+य=द्ध्य, द्+न=द्न, द्+ब=द्ब, द्+भ=द्भ, द्+भ्+य=द्भ्य, द्+म=द्म, द्+य=द्य, द्+र+द्र, द्+र्+य=द्र्य, द्+व=द्व, द्+व्+य=द्व्य, ध्+न=ध्न, ध्+न्+य=ध्न्य, ध्+म=ध्म, ध्+य=ध्य, ध्+र=ध्र्य, ध्+व=ध्व, न्+त=न्त, न्+त्+य=न्त्य, न्+त्+र=न्त्र, न्+द=न्द, न्+द्+र=न्द्र, न्+ध=न्ध, न्+ध्+र=न्ध्र, न्+न=न्न, न्+प=न्प, न्+प्+र=न्प्र, न्+म=न्म, न्+य=न्य, न्+र=न्र, न्+स=न्स ।

प्+त=प्त, प्+त्+य=प्त्य, प्+न=प्न, प्+प=प्प, प्+म=प्म, प्+य=प्य, प्+र=प्र, प्+ल=प्ल, प्+व=प्व, प्+स=प्स, प्+स्+व=प्स्व, ब्+ध=ब्ध, ब्+ज=ब्ज, ब्+द=ब्द, ब्+ध=ब्ध, ब्+न=ब्न, ब्+ब=ब्ब, ब्+भ=ब्भ, ब्+भ्+य=ब्भ्य, ब्+य=ब्य, ब्+र=ब्र, ब्+व=ब्व, भ्+न=भ्न, भ्+य=भ्य, भ्+र=भ्र, भ्+व=भ्व, म्+न=म्न, म्+प=म्प, म्+प्+र=म्प्र, म्+ब=म्ब, म्+भ=म्भ, म्+म=म्म, म्+य=म्य, म्+र=म्र, म्+ल=म्ल, म्+व=म्व ।

य्+य=य्य, य्+व=य्व, ल्+क=ल्क, ल्+प=ल्प, ल्+म=ल्म, ल्+य=ल्य, ल्+ल=ल्ल, ल्+व=ल्व, ल्+ह=ल्ह, व्+न=व्न, व्+य=व्य, व्+र=व्र, व्+व=व्व ।

श्+च=श्च, श्+च्+य=श्च्य, श्+न=श्न, श्+य=श्य, श्+र=श्र, श्+र्+य=श्र्य, श्+ल=श्ल, श्+व=श्व, श्+व्+य=श्व्य, श्+श=श्श, ष्+ट=ष्ट, ष्+ट्+य=ष्ट्य, ष्+ट्+र=ष्ट्र, ष्+ट्+र्+य=ष्ट्र्य, ष्+ट्+व=ष्ट्व, ष्+ठ=ष्ठ, ष्+ण=ष्ण, ष्+ण्+य=ष्ण्य, ष्+प=ष्प, ष्+प्+र=ष्प्र, ष्+म=ष्म, ष्+य=ष्य, ष्+व=ष्व. स्+क=स्क, स्+ख=स्ख, स्+त=स्त, स्+त्+य=

स्त्य, स्+त्+र=स्त्र, स्+त्+व=स्त्व, स्+थ=स्थ, स्+न=स्न, स्+न्+य=स्न्य, स्+प=स्प, स्+फ=स्फ, स्+म=स्म, स्+म्+य=स्म्य, स्+य=स्य, स+र=स्र, स्+व=स्व, स्+स=स्स ।

ह्+ण=ह्ण, ह्+न=ह्न, ह्+म=ह्म, ह्+य=ह्य, ह्+र ह्र, ह्+ल=ह्ल, ह्+व=ह्व ।

१४. संस्कृत में अंक ये हैं:—

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ० ।

ये अंक अरब वालों ने भारतीयों से लिए और उन्होंने इन्हें यूरोप में प्रचलित किया ।

उच्चारण-सम्बन्धी निर्देश (Pronunciation)

१५—इस विषय में निम्नलिखित नियमों पर ध्यान दें—

(१) स्वरों का उच्चारण उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार इटालियन भाषा में । ह्रस्व अ का उच्चारण अंग्रेजी के अल्पश्रुत अ के तुल्य होगा । जैसा But (बट) में u का उच्चारण है । इसको संस्कृत में संवृत (मुखद्वार बन्द) कहा जाता है । यह उच्चारण कम से कम ३०० ई० पू० तक प्रचलित था ।

(२) व्यंजन वर्णों में महाप्राण-ध्वनि स्पष्टरूप से सुनाई पड़ती है । जैसे—ख=k-h,　　थ=t-h,
फ=p-h,　　घ=g-h,
ध=d-h,　　भ=b-h.

(३) कण्ठ्य ङ का उच्चारण उसी प्रकार होता है जैसे—king में ng का ।

(४) तालव्य च और ज का उच्चारण उसी प्रकार होता है, जैसे—church में ch का और join में j का ।

(५) मूर्धन्य ट, ड, ण का उच्चारण अंग्रेजी के t, d, n के तुल्य

होता है। इनके उच्चारण में जिह्वा तालु की ओर अधिक झुकी हुई होगी।

(६) संस्कृत के दन्त्य वर्ण आजकल इण्टर डेण्ट्ल (Inter dental) के तुल्य उच्चरित होते हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग दांतों के अग्र-भाग को स्पर्श करता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा-ग्रंथों के समय में इनका उच्चारण पोस्ट डेण्ट्ल (Postdental) के तुल्य होता था और इनका उच्चारण दाँतों के ऊपरी भाग के स्पर्श से होता था।

(७) दन्त्य स् का उच्चारण Sin के s के तुल्य होता है, मूर्धन्य ष का उच्चारण Shun के Sh के तुल्य होता है और तालव्य श् का उच्चारण दोनों के मध्य भाग से होता है और इस ऊष्म ध्वनि का उच्चारण जैसे जर्मन भाषा के Ich (इश्) में ch का।

(८) भारतवर्ष में विसर्ग (:) का प्राय: कठोर ह् के तुल्य उच्चारण होता है और इसके साथ ही पूर्ववर्ती स्वर की ध्वनि संलग्न रहती है।

(९) अनुस्वार पूर्णतया नासिक्य ध्वनि है। इसमें विराम के कारण कोई अन्तर नहीं आता है। इसका उच्चारण फ्रेंच भाषा के Bon (वों) में n के तुल्य है।

(१०) ईसवीय सन् के प्रारम्भ से संस्कृत का उच्चारण बलाघातयुक्त उदात्त (Stress Accent) के साथ होता आ रहा है, जैसा कि लेटिन भाषा में। प्राचीन काल में यह उदात्त संगीतात्मक (Musical Accent) था। इस प्रकार यह बलाघात उपान्त्य दीर्घ स्वर पर होता है। जैसे—(कालिदा́स), जब उपान्त्य ह्रस्व होता है तब उससे पूर्ववर्त्ती दीर्घ स्वर पर बलाघात होता है। जैसे—हिमा́लय। यदि अन्त्य की ओर से तीन ह्रस्व होते हैं तो उनसे पूर्ववर्ती चतुर्थ दीर्घ स्वर पर बलाघात होता है। जैसे—का́रयति।

———

अध्याय २

सन्धि-नियम (Rules of Sandhi)

१६—संस्कृत भाषा में प्रत्येक वाक्य एक अविच्छिन्न शृंखला माना जाता है। सन्धि का अर्थ है—जोड़ना। इसके द्वारा शब्दों के अन्तिम और प्रारम्भिक वर्णों का एकीकरण किया जाता है। सन्धि-नियमों के दो आधार हैं :—**प्रकृतिभाव का अभाव, २—समीकरण का प्रयोग।**

सन्धि के अभाव के द्वारा ही कतिपय स्थानों पर विराम का बोध होता है, जबकि अन्य भाषाओं में इसके लिए विराम-चिह्नों का प्रयोग किया जाता है।

यद्यपि **पदान्त सन्धि** और **पदान्तर्गत सन्धि** दोनों में ही सन्धि-नियम समान रूप से लगते हैं, तथापि भ्रम-निवारणार्थ दोनों का अन्तर समझ लेना उचित है। पदान्त सन्धि में पद के अन्तिम वर्ण और दूसरे पद के प्रारम्भिक वर्ण में संधि होती है। पदान्तर्गत-सन्धि में धातु और शब्द के बाद कृत्, तद्धित या अन्य सुप् और तिङ् प्रत्यय लगने पर जो सन्धि-नियम लगते हैं, उन्हें पदान्तर्गत सन्धि कहते हैं।

(क) पदान्त संधि के नियम, कुछ अपवादों को छोड़कर, समस्त पदों में और भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सु तथा य से प्रारम्भ होने-वाले तद्धित प्रत्ययों को छोड़कर अन्य वर्णों से प्रारम्भ होने वाले तद्धित प्रत्ययों से पूर्व शब्द के अंतिम वर्ण में लगते हैं।

क—पदान्त सन्धि (External Sandhi)

स्वरों का वर्गीकरण (Classification of Vowels)

१७—स्वर निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त हैं—

अ—१. **सामान्य स्वर : अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, लृ**

२. **गुण स्वर : अ ए ओ अर् अल्**

३. **वृद्धि स्वर : आ ऐ औ आर्**[1]

---

1. लृ का वृद्धिस्वर आल् होगा, किन्तु इसका प्रयोग नहीं मिलता है।

(क) गुण स्वरों में सामान्य स्वरों के साथ पहले अ की ध्वनि आती है (यह अ ध्वनि परिवर्तित नहीं होती है), वृद्धि स्वरों में यह अ स्वर दीर्घ आ का रूप धारण करता है, इस प्रकार गुण स्वर में वृद्धि अर्थात् अ का आ हो जाता है।[1]

आ—(१) निम्नलिखित स्वर अन्तःस्थ के रूप में परिवर्तित होते हैं—
इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, तथा मिश्रित स्वर (जिनका उत्तरार्द्ध इ या उ हैं)।
(२) जो अन्तस्थ के रूप में परिवर्तित नहीं होते हैं :—अ, आ।

स्वर-संधि (Combination of final and Initial vowels)

१८—(अकः सवर्णे दीर्घः) **सवर्ण दीर्घ-सन्धि**—यदि पद के अन्त में ह्रस्व या दीर्घ सामान्य स्वर होते हैं और बाद में भी समान स्वर होगा तो दोनों के स्थान पर दीर्घ स्वर हो जाएगा। जैसे—सा+अपि+ईक्षते= सापीक्षते, किन्तु+उदेति=किंतूदेति, कर्तृ+ऋजु=कर्तॄजु।

१९—अ और आ—

(क) (आद्गुणः) **गुण-सन्धि**—अ और आ के बाद सामान्य स्वर होंगे तो दोनों के स्थान पर गुण स्वर हो जाएगा। जैसे—तव+इन्द्रः=तवेन्द्रः, सा +उक्त्वा=सोक्त्वा, सा+ऋद्धिः=सर्द्धिः।

(ख) (वृद्धिरेचि) **वृद्धि-सन्धि**—अ और आ के बाद ए या ओ होगा तो क्रमशः वृद्धि-स्वर ऐ, औ होंगे। जैसे—तव+एव=तवैव, सा+ओषधिः= सौषधिः।

(ग) अ और आ के बाद ऐ या औ स्वर होगा तो ऐ औ ही रहेंगे। जैसे —सा+औत्सुक्यवती=सौत्सुक्यवती।

---

१. तुलनात्मक भाषाविज्ञान प्रकट करता है कि इस अपश्रुति में गुण-स्वर सामान्य स्थिति का बोध कराते हैं, यदि इनमें उदात्त स्वर का अभाव होता है तो वे सामान्य स्वर का रूप धारण करते हैं। वृद्धि-स्वर गुण स्वरों का ही परिवर्धित रूप है। य, व, र (ये गुण-स्वरों के समकक्ष हैं) को ही संप्रसारण होकर क्रमशः इ, उ, ऋ हो जाते हैं।

२०—(इको यणचि) ह्रस्व और दीर्घ इ, ई, उ, ऊ, और ऋ के बाद असवर्ण (असमान) स्वर होगा तो इनको क्रमशः य् व्, र् हो जाएँगे। जैसे— दधि+अत्र=दध्यत्र, कर्तृ+उत=कर्त्रुत, मधु+इव=मध्विव, नदी+अर्थम्=नद्यर्थम्।

२१—गुण स्वर ए और ओ के साथ निम्नलिखित संधियाँ होती हैं—

(क) यदि बाद में अ होगा तो ए और ओ पूर्ववत् रहेंगे तथा बाद के अ का लोप होकर अवग्रह (ऽ) चिह्न लगेगा। जैसे— ते+अपि=तेऽपि, सो+अपि=सोऽपि।

(ख) ए और ओ के बाद अन्य कोई भी सामान्य या मिश्रित स्वर होगा तो ए और ओ का अ शेष रहेगा। ए के स्थान पर अय् और ओ के स्थान पर अव् करके य् व् का लोप होने पर अ शेष रहता है। ऐसे स्थानों पर कोई संधिकार्य नहीं होगा। जैसे—सखे+इह=सख इह, प्रभो+एहि= प्रभ एहि।

२२—वृद्धि स्वर ऐ के स्थान पर आय् होकर य्-लोप होने से आ शेष रहता है और औ के स्थान पर आव् शेष रहता है, बाद में कोई भी स्वर हो तो। आव् के व् का लोप नहीं होता है। जैसे—श्रियै+अर्थः=श्रिया अर्थः, तौ+इति=ताविति।

(क) पूर्वोक्त तीन स्थानों पर (२१ ख और २२) में य् और व् का लोप होने से (गौण) प्रकृति-भाव होता है।

स्वर-संधि के अपवाद नियम (Irregular Vowel Sandhi)

२३—निम्नलिखित स्थानों पर गुण के स्थान पर वृद्धि एकादेश होगा—

(क) उपसर्ग के अन्तिम अ या आ के बाद धातु का ऋ हो तो।
जैसे–उप+ऋषति—उपार्षति, आ+ऋच्छति=आर्च्छति।

(ख) प्र उपसर्ग के बाद क्त-प्रत्ययान्त ऊढ (वह्+क्त) हो तो।
प्र+ऊढः—प्रौढः (उठाया हुआ, उन्नत किया हुआ)।

(ग) अ (अट्) के बाद धातु का प्रारम्भिक स्वर हो तो।
जैसे—अ+उनत्=औनत् (उसने गीला किया)। (गीला करना अर्थवाली उद् धातु का यह रूप है)।

स्वर-संधि के अभाव वाले स्थल (प्रकृति-भाव)
(Absence of vowel Sandhi)

२४—विस्मयसूचक निपातों (Interjectional Particles) में यदि स्वर हो या उनका अन्तिम अक्षर स्वर हो तो। जैसे—आ, इ, उ, हे, अहो के साथ संधि नहीं होती है। जैसे-इ इन्द्र (हे इन्द्र), आ एवम् (क्या यह ऐसा ही है ?), अहो अपेहि (अरे दूर हो)।

२५—धातु-रूप और शब्द-रूपों के द्वि-वचन के ई, ऊ, ए के बाद कोई स्वर हो तो। (द्वि-वचन के ए के बाद अ का लोप नहीं होता है)। ऐसे स्थलों को प्रगृह्य (पृथक्) कहते हैं। इसी प्रकार अदस् शब्द के प्र० बहु० अमी के साथ भी संधि नहीं होती है। जैसे—कवी इमौ (ये दो कवि), साधू इमौ (ये दो साधु), विद्ये इमे (ये दो विद्याएँ), याचेते अर्थम् (ये दो धन मांगते हैं), अमी अश्वाः (ये घोड़े)।

२६—रामायण और महाभारत, स्मृति ग्रन्थ और अन्य ग्रन्थ जो साहित्यिक संस्कृत के ग्रन्थ नहीं माने जाते हैं, उनमें श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में प्रथम और द्वितीय चरण (पाद) में इन संधि-नियमों का प्रयोग नहीं हुआ है।

हल् (व्यंजन) संधि
(Combination of final and Initial Consonants)

२७—किसी भी शब्द के अन्तिम वर्ण जब निम्नलिखित आठ संधि-योग्य वर्णों के रूप में होते हैं, तब हल्-संधि के नियम लगते हैं। ये वर्ण हैं—क्, ट्, त्, प्, ङ्, न्, म् और : (विसर्ग)। सारणी (नियम ६) में जो ३४ व्यंजन दिये हुए हैं वे निम्नलिखित रूप से आठ वर्णों के रूप में शेष रहते हैं—

अन्तिम-वर्ण घोष और अल्पप्राण रहेगा. तालव्य-प्राण (श-सहित) और ह् के स्थान पर क् या ट् (ञ् को ङ्) होते हैं, ष् को ट्, स् और र् को विसर्ग, ण् य् ल् और व् ये शब्द के अन्त में नहीं मिलते हैं। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि वर्ग के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ तथा पूरा चवर्ग पूर्णतया लुप्त रहता है और उनके स्थान पर चार घोष वर्ण क्, ट्, त, प् तथा नासिक्य—वर्ण ङ्, न्, म् और षष्ठ तथा सप्तम कोष्ठ में से केवल विसर्ग शेष रहता है।

२८—शब्द के अन्त में एक से अधिक व्यंजन नहीं रह सकते हैं। केवल शब्द या धातु के र् के बाद क्, ट्, त्, प् शेष रह सकते हैं, यदि प्रत्यय के क्, त् आदि होंगे तो उनका लोप हो जाएगा। अन्य अन्तिम संयुक्त वर्णों में से उपर्युक्त आठ वर्णों के रूप में ही केवल एक वर्ण अन्त में शेष रहेगा। अतः भवन्त् का भवन् (होता हुआ) शेष रहता है, अबिभर्त् का अविभः (उसने ढोया) शेष रहेगा (प्रत्यय होने से त् का लोप हुआ है और र् को विसर्ग हुआ है), किन्तु ऊर्क् (बल)(यहाँ पर ज् के स्थान पर क् है), अमार्ट् (उसने धोया) में मृज् धातु के ज् के स्थान पर ट् है)।

व्यंजनों का वर्गीकरण (Classification of Consonants)

२९—**व्यंजनों के उच्चारण-स्थान**। (Place or organ of articulation)

(१) कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ और नासिका ये वर्णों के उच्चारण-स्थान कहे जाते हैं।

(२) उपर्युक्त चार स्थानों अर्थात् कण्ठ, तालु, मूर्धा और दन्त के साथ जिह्वा का संयोग होने से कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दन्त्य वर्ण उत्पन्न होते हैं। दोनों ओष्ठों के संयोग से ओष्ठ्य वर्ण उत्पन्न होते हैं।

(३) पांचों वर्गों के नासिक्य वर्णों के उच्चारण में कुछ श्वास नासिका के मार्ग से निकलता है और जिह्वा तथा ओष्ठ अपने वर्गों के अनुसार उच्चारण-स्थानों को स्पर्श करते हैं। वास्तविक अनुस्वार केवल नासिका के द्वारा बोला जाता है, किन्तु अनुस्वार से पूर्व जो स्वर होता है, उसके लिए जिह्वा अपने विशिष्ट स्थान को स्पर्श करती है।

(४) अन्तःस्थ य, र, ल, व क्रमशः तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य हैं। प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के अनुसार इनका उच्चारण अपने विभिन्न स्थानों के साथ जिह्वा के अपूर्ण संयोग के द्वारा होता है। र और ल प्रायः एक-दूसरे से बदले जाते हैं और ल र से निकला है।

(५) ऊष्म श, ष, स ये कठोर घर्ष वर्ण हैं। इनका उच्चारण क्रमशः तालु, मूर्धा और दन्त के साथ जिह्वा के अपूर्ण संयोग के द्वारा होता है। संस्कृत में कोमल ऊष्म वर्ण ज़ (अंग्रेजी z और फ्रेंच j) का समकक्ष कोई वर्ण प्राप्त नहीं होता है।

(६) ह और विसर्ग (:) ये क्रमशः कोमल और कठोर घर्ष वर्ण हैं। इनका उच्चारण जिह्वा का विभिन्न स्थानों से साक्षात् संयोग हुए विना होता है और उनके उच्चारण में पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वर के अनुसार जिह्वा विभिन्न स्थानों का स्पर्श करती है। ह यह घ (g-h), झ (j-h), ध (d-h), भ (b-h) के उत्तर भाग के समकक्ष है और यह वस्तुतः उत्तर भाग से ही निकली हुई ध्वनि है। यह कोमल वर्णों से पूर्व ही प्राप्त होती है। विसर्ग घोष महाप्राण वर्ण ख (k-h) आदि के उत्तरार्द्ध के समकक्ष है। यह स्वरों के बाद तथा कतिपय कठोर व्यंजनों के पूर्व प्राप्त होता है। भारतवर्ष में विसर्ग का उच्चारण प्रायः कठोर ह् के तुल्य होता है और साथ ही इसके वाद पूर्ववर्ती स्वर की कुछ ध्वनि सुनाई पड़ती है। जैसे—कः में ह् के वाद ह्रस्व अ की ध्वनि रहती है। इसी प्रकार कविः में ह् के वाद इ और ऋतुः में ह् के वाद उ की ध्वनि रहती है।

३०—व्यंजनों की विशेषताएँ (Quality of Consonants)

व्यंजनों के निम्नलिखित भेद हैं :

(१) कठोर (श्वास, अघोष) ये वर्ण नियम ६ पर दी गई सारिणी में १, २ और ७ कोष्ठक में दिये गये हैं। अथवा कोमल वर्ण (नाद, घोष)। शेष सभी वर्ण जो कोष्ठक के ३, ४, ५, ६, में हैं तथा अनुस्वार (साथ ही सभी सामान्य और मिश्रित स्वर)।

(२) महाप्राण वर्ण, ये २, ४, ७ कोष्ठक में हैं तथा ह् वर्ण, अथवा अल्पप्राण वर्ण, शेष सभी वर्ण अल्पप्राण हैं। अतः च् का क् में परिवर्तन स्थान-परिवर्तन कहा जाएगा (तालव्य से कण्ठ्य), और च् का ज् में परिवर्तन यह गुण-परिवर्तन है

(कठोर से कोमल), किन्तु च् को ग् (कठोर तालव्य से कोमल कण्ठ्य) और त् जो ज् (कठोर दन्त्य से कोमल तालव्य) में दोनों बातें हैं। स्थान और गुण दोनों का परिवर्तन है।

३१—यह स्मरण रखना चाहिए कि नियम २७ में वर्णित ८ वर्णों के रूप में जब अन्तिम व्यंजन परिवर्तित हो जाएँगे, तभी हल्-संधि के नियम लगेंगे, अन्यथा नहीं। तत्पश्चात् इन वर्णों में जो परिवर्तन होगा उसमें निर्वचन को आधार नहीं माना जाएगा (विसर्ग में कुछ स्थानों पर निर्वचन को आधार माना जाता है)। इन अन्तिम अक्षरों में प्रायः निम्नलिखित ६ वर्ण ही प्राप्त होते हैं—क्, त्, प्, न्, म् और विसर्ग। अन्तिम वर्णों के स्थान पर जो परिवर्तन होते हैं उनको संक्षेप में दो प्रकार का कहा जा सकता है: १—गुण-परिवर्तन, २—स्थान-परिवर्तन।

१—व्यंजनों में गुण-परिवर्तन (Changes of Quality)

३२—यदि अन्तिम वर्ण के बाद आगामी पद का प्रथम वर्ण कोमल वर्ण होगा तो अन्तिम वर्ण को कोमल वर्ण हो जायगा और कठोर वर्ण से पूर्ववर्ती अन्तिम वर्ण को कठोर वर्ण होगा।

(क) यह नियम अन्तिम पांच कठोर वर्णों (क्, ट्, त्, प् और विसर्ग) में ही लगता है। नियम ६ और ३६ में वर्णित नासिक्य वर्णों में गुण-परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु उनमें से दो न् और म् में कठोर ध्वनि त् और विसर्ग (३७) के तुल्य स्थान-परिवर्तन होता है।

(ख) अतः अन्तिम क्, ट्, त्, प् के स्थान पर नाद वर्ण ग्, ड्, द्, ब् क्रमशः हो जाते हैं। जैसे—सम्यक्+उक्तम्=सम्यगुक्तम् (ठीक कहा); दिक्+गजः =दिग्गजः (दिग्गज); परिव्राट्+अयम्=परिव्राडयम् (यह एक संन्यासी है), परिव्राट्+गच्छति=परिव्राड्गच्छति (संन्यासी जाता है); सरित्+अत्र= सरिदत्र (नदी यहाँ है); महत्+धनुः=महद्धनुः (बड़ा धनुष); ककुप्+अत्र =ककुबत्र (यहां दिशा), अप्+जः=अब्जः (कमल, जल में होने वाला)।

३३—क्, ट्, त्, प् के बाद न् और म् से प्रारम्भ होने वाला कोई शब्द होगा तो इनको क्रमशः ङ्, ण्, न्, म् ये नासिक्य वर्ण हो जाएँगे। यद्यपि यह

नियम वैकल्पिक है, परन्तु व्यवहार में यह अनिवार्य रूप से लगता है। जैसे—दिक्+नागः=दिग्नागः, दिङ्नागः (दिग्गज): जगत्+नाथः=जगद्-नाथः, जगन्नाथः (संसार के स्वामी); षट्+मासः=षण्मासः (छः महीने), प्राक्+मुखः=प्राङ्मुखः (पूर्व की ओर मुँह वाला)।

३४—अन्तिम त् को ल् हो जाता है बाद में ल् हो तो। त् को द् होकर यह ल् होता है। जैसे—तत्+लब्धम्=तल्लब्धम् (वह पाया)।

३५—नासिक्य वर्णों का समकक्ष कोई कठोर वर्ण नहीं है, अतः बाद में कठोर वर्ण होने पर उनमें कोई गुण-परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु कतिपय स्थानों पर न् के बाद एक ऊष्म वर्ण तथा न् या ङ् के बाद कोई कठोर वर्ण दोनों के बीच में जोड़ दिया जाता है। मौलिक ञ् और ण् अन्तिम वर्ण के रूप में कभी प्राप्त नहीं होते हैं (नियम २७)। कण्ठ्य ङ् का प्रयोग अन्त में बहुत कम मिलता है। उसमें परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु उसके बाद श्, ष्, स् ऊष्म वर्ण होंगे तो बीच में क् और जोड़ दिया जाता है। जैसे—प्राङ्+शेते=प्राङ्क्शेते (वह पूर्व की ओर सोता है)। सभी व्यंजनों से पूर्व अन्तिम म् को अनुस्वार हो जाता है (नियम ४२)। अधिकांश वर्णों से पूर्व न् में कोई परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु बाद में कोई भी चवर्ग, मूर्धन्य (ष् को छोड़कर), कठोर दन्त्य त्, थ् और अन्तःस्थ ल् होगा तो न् में परिवर्तन होगा। न् के परिवर्तनों की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

३६—(अ) निम्नलिखित स्थानों पर न् (दन्त्य नासिक्य) में कोई परि-वर्तन नहीं होता है:—

(१) स्वरों से पूर्व (देखें नियम ५२)। जैसे—तान् उवाच (उसने उनसे कहा)।

(२) सभी कंठ्य, क्, ख्, ग्, घ् तथा ह् से पूर्व। जैसे—बुद्धिमान् कोऽपि (एक बुद्धिमान्), तान् हत्वा (उनको मार कर)।

(३) सभी पवर्ग, प्, फ्, ब्, भ्, म् से पूर्व। जैसे—एतान् पाशान् (इन बेड़ियों को), बान्धवान् मम (मेरे सम्बन्धियों को)।

(४) कोमल दन्त्य वर्ण द्, ध्, न् से पहले। जैसे—मत्स्यान् धत्त

(मछलियों को रखो), राजपुत्रान् नयति (वह राजकुमारों को ले जाता है)।

(५) अन्तःस्थ य्, र्, व् से पूर्व। जैसे—हंसान् रक्षति (वह हंसों की रक्षा करता है)।

(६) मूर्धन्य ष् और दन्त्य स् से पूर्व। स् से पूर्व त् का विकल्प से आगम होता है। जैसे—तान् षट् (उन ६ को), तान् सहते या तान्त्सहते (वह उनको सहन करता है)।

(आ) निम्नलिखित स्थानों पर न् में परिवर्तन होता है।

(१) कठोर तालव्य च्, छ्, मूर्धन्य ट्, ठ्, और दन्त्य त्, थ् से पूर्व न् के स्थान पर अनुस्वार के साथ क्रमशः तालव्य श्, मूर्धन्य ष् और दन्त्य स् हो जाते हैं।[1] जैसे—हसन्+चकार=हसंश्चकार (उसने हँसते हुए यह किया); पाशान्+छेत्तुं =पाशाँश्छेत्तुम् (बन्धनों को काटने के लिए); चलन्+टिट्टिभः =चलंष्टिट्टिभः (चलती हुई टिटिहरी); पतन्+तरुः= पतंस्तरुः (गिरता हुआ वृक्ष)।

(२) कोमल तालव्य ज् झ् और श् से पूर्ववर्ती न् को ञ् होता है (नियम ४० देखें)।

(३) मूर्धन्य ड् और ढ् से पहले न् को ण् होता है (नियम ४१ देखें)।

(४) अन्तःस्थ ल् से पहले न् को ल् होता है। जैसे—महान्+ लाभः=महाँल्लाभः।

२—स्थान-परिवर्तन (changes of Place)

३७—निम्नलिखित ४ अन्तिम व्यंजनों में ही परिवर्तन होता है—त्, न्, स्, और विसर्ग।

---

१. यह आगम प्रतीत होने वाला ऊष्म वर्ण वस्तुतः भारत-यूरोपीय स् का ही अवशिष्ट रूप है, जोकि पुंल्लिग द्वितीया बहुवचन (-न्स्) और प्रथमा एकवचन में (-न्स्, नियम ८८, ८९ देखें) मिलता है। प्राचीनतम वैदिक काल में यह ऊष्मवर्ण वहीं पाया जाता है, जहाँ पर ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तिसंगत है, किन्तु संस्कृत में कठोर तालव्य, मूर्धन्य और दन्त्य वर्णों से पूर्ववर्ती न् के साथ प्रत्येक स्थान पर यह ऊष्म वर्ण संधि-स्थलों पर प्रचलित है।

(क) दन्त्य के बाद चवर्ग होगा तो दन्त्य को चवर्ग होगा और बाद में मूर्धन्य होगा तो दन्त्य को मूर्धन्य होगा।

(ख) विसर्ग और कुछ अंश तक म् परवर्ती व्यंजन के स्थानों के अनुकूल हो जाते हैं।

१—अन्तिम त् (final त्)

३८—अन्तिम त् को च् या ज् हो जाता है, बाद में तालव्य-वर्ण (च्, छ्, ज्, झ्, श्) हो तो। जैसे—तत्+च=तच्च (और वह), तत्+छिनत्ति=तच्छिनत्ति (वह उस वस्तु को काटता है), तत्+जायते=तज्जायते (वह उत्पन्न होता है), तत्+शृणोति=तच्शृणोति, किन्तु व्यवहार में तच्छृणोति[1] (वह उसको सुनता है) रूप होता है।

३९—अन्तिम त् को मूर्धन्य वर्ण ड् या ढ् हो जाते हैं बाद में ट्, ठ्, ड्, ढ् हों तो। बाद में ष् हो तो नहीं। जैसे—एतत्+ठक्कुरः=एतट्ठक्कुरः (उसकी वह मूर्ति), तत्+डयते=तड्डयते (वह उड़ता है), तत्+ढौकते=तड्ढौकते (वह पहुँचता) है।

२—अन्तिम न् (final न्)

४०—अन्तिम न् के बाद ज्, झ् और श्[2] होंगे तो न् को ञ् हो जाता है। जैसे—तान्+जयति=ताञ्जयति (वह उनको जीतता है), तान्+शार्दूलान्=ताञ्शार्दूलान्, ताञ्छार्दूलान् (उन चीतों को)।

४१—अन्तिम न् को ण् हो जाता है बादमें ड् या ढ्[3] हों तो। बाद में ष् होगा तो नहीं। जैसे—महान्+डमरः महाण्डमरः (बड़ा हल्ला)।

३—अन्तिम म् (final म्)

४२ (अ)—बाद में कोई स्वर होगा तो अन्तिम म् में कोई परिवर्तन नहीं होगा। जैसे—किम्+अत्र=किमत्र (यहां क्या है?)।

(आ) अन्तिम म् को अनुस्वार हो जाता है बाद में कोई व्यंजन हो तो।

१. बाद में अन्तःस्थ, ऊष्म और ह् होंगे तो म् को अनुस्वार अवश्य होगा। जैसे—तम्+वेद=तं वेद (मैं उसको जानता हूँ), करु-

---

१. यहाँ पर प्रारम्भिक श् को छ् हो जाता है (देखो नियम ५३)।

२. बाद में च्, छ् हों तो न् के स्थान-परिवर्तन के लिए देखो नियम ३६ आ १।

३. ट्, ठ् और ष् से पहले न् के परिवर्तन के लिए देखो नियम ३६ अ ६; आ १।

णम् + रोदिति = करुणं रोदिति (वह करुण रोदन करता है), मोक्षम् + सेवेत = मोक्षं सेवेत (मोक्ष की सेवा करनी चाहिए), मधुरम् + हसति = मधुरं हसति (वह मधुर ढंग में हँसता है)।

२. क से म[1] तक कोई वर्ण बाद में हो तो म् को विकल्प से अनुस्वार होता है और उस अनुस्वार को आगामी वर्ण के अनुसार उसी वर्ग का अन्तिम अक्षर(पंचम वर्ण)[2] हो जाता है:—(यह परसवर्ण का कार्य यूरोपीय संस्करणों में प्रायः नहीं किया गया है)। जैसे-किम् + करोषि = किंकरोषि (किङ्करोषि) (क्या कर रहे हो?), शत्रुम् + जहि = शत्रुंजहि (शत्रुञ्जहि) (शत्रु को मारो), किम् + फलम् = किं फलम् (किम्फलम्) (क्या लाभ ?), गुरुम् + नमति = गुरुं नमति (गुरुन्नमति) (गुरु को नमस्कार करता है), शास्त्रम् मीमांसते = शास्त्रं मीमांसते (या शास्त्रम्मीमांसते) (वह शास्त्र पढ़ता है), (क) म् के स्थान पर परसवर्ण से जो रूप बनता है, वह निम्नलिखित स्थानों पर निर्दिष्ट कार्य करने पर भी वही रूप बनेगा, अन्तिम न् के बाद ज्, झ् हों (नियम ४०); ड् और ढ् हों (४१) और न् हो, तथा अन्तिम त् के बाद न् हो (३३)। इस प्रकार 'कान्तान्न' (= कान्तान् + न, कान्तात् + न, कान्ताम् + न) में कान्तान् पुंल्लिग द्वितीया बहुवचन हो सकता है (३६ अ ४), कान्त का पुंल्लिग पंचमी एकवचन कान्तात् (३३) और स्त्रीलिंग द्वितीया एकवचन कान्ताम् (४२ आ २) हो सकता है। इन तीनों अवस्थाओं में 'कान्तान्न' ही बनेगा।

४३—पदान्त में कठोर स् और उसके स्थानीय कोमल र् को विसर्ग हो जाता है—

१. यदि कठोर तालव्य, मूर्धन्य या दन्त्य (च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्) वर्ण बाद में हों तो विसर्ग के स्थान पर परवर्ती वर्ण के

---

१. प्रारम्भिक ङ्, ञ्, ण् नहीं मिलते हैं।

२. वैदिक भाषा में यह परसवर्ण सामान्यतया प्राप्त होता है।

अनुसार ऊष्म वर्ण (श्, ष् स्) होगा। जैसे—पूर्णः+चन्द्रः =पूर्णश्चन्द्रः (पूर्ण चन्द्रमा), नद्याः+तीरम् =नद्यास्तीरम् (नदी का किनारा)।

२. विसर्ग के बाद कठोर कण्ठ्य या ओष्ठ्य (क्, ख्, प् फ्) वर्ण होगा तो विसर्ग को विसर्ग ही रहेगा।[1] जैसे—ततः कामः (तब कामदेव), नद्याः पारम् (नदी के पार)।

३. विसर्ग के बाद ऊष्म वर्ण होगा तो विसर्ग को विसर्ग ही रहेगा या उसको परसवर्ण हो जाएगा।[2] जैसे—सुप्तः शिशुः, सुप्त-श्शिशुः (बालक सोया है), प्रथमः सर्गः, प्रथमस्सर्गः (पहला सर्ग या अध्याय)।

४४—अ या आ को छोड़कर किसी स्वर के बाद विसर्ग होगा और उसके बाद कोई कोमल वर्ण (व्यंजन या स्वर) होगा तो विसर्ग को र् हो जाएगा। जैसे—कविः+अयम्=कविरयम् (यह कवि), गौः+गच्छति= गौर्गच्छति (गाय जाती है), वायुः+वाति=वायुर्वाति (हवा चलती है)।

४५—(१) अन्तिम वर्ण आः के विसर्ग का लोप हो जाता है, यदि बाद में कोई स्वर या कोमल व्यंजन हो तो। जैसे—अश्वाः+अमी=अश्वा अमी (वे घोड़े), आगताः+ऋषयः=आगता ऋषयः (ऋषि आये), हताः+गजाः =हता गजाः (हाथी मरे)। माः+भिः =माभिः, मास् (चन्द्रमा) शब्द का तृतीया बहुवचन में यह रूप है।

(२) (क)—अन्तिम वर्ण अः के विसर्ग का लोप हो जाता है बाद में अ के अतिरिक्त कोई स्वर हो तो। जैसे—कुतः+आगतः= कुत आगतः (कहाँ से आये ?), कः+एषः=क एषः (यह कौन है ?), कः ऋषिः=क ऋषिः (कौन ऋषि है ?)।

(ख) अन्तिम अः के बाद कोमल व्यंजन और अ होगा तो अः को ओ

---

१. देखो नियम ३६ अ/२, ३, आ १ में कठोर स्पर्श वर्णों से पूर्व न् को होने वाले कार्य।

२. यह परसवर्ण का कार्य वस्तुतः मूल संधि के रूप में था और प्राचीन वैदिक शिक्षाकार इसको आवश्यक मानते हैं।

हो जायेगा और उस ओ के बाद अ का लोप हो जायेगा (देखो नियम २१ क)। जैसे—आनीतः+दीपः=आनीतो दीपः (दीपक लाया गया)। मनः+भिः=मनोभिः, मनस् (मन) शब्द का तृतीया बहुवचन में यह रूप है। नरः+अयम्=नरोऽयम् (यह आदमी)।

४६—कुछ स्थानों पर जहाँ व्युत्पत्ति के आधार पर र् के स्थान पर विसर्ग हैं, ऐसे अन्तिम अः और आः के विसर्ग का लोप नियम ४५ के अनुसार नहीं होता है। अपितु सामान्य नियम ४४ के अनुसार अः का अर् और आः का आर् शेष रहेगा।[1] जैसे—पुनः+अपि पुनरपि (फिर भी), भ्रातः+देहि=भ्रातर्देहि (हे भाई, दो), द्वाः+एषा=द्वारेषा (यह द्वार)।

४७—र् के बाद र् होगा तो पहले र् का लोप हो जाएगा और उससे पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाएगा। जैसे—विधुः+राजते=विधू राजते (चन्द्रमा शोभित होता है), पुनः+रोगी=पुना रोगी (फिर बीमार)।

४८—सः (वह) और एषः (यह) (नियम ११० क) के विसर्ग का सर्वत्र लोप हो जाता है, केवल वाक्य के अन्त में यह विसर्ग शेष रहेगा। यदि बाद में अ होगा तो सः को सो और एषः को एषो हो जायेगा (नियम ४५ का २ ख)। जैसे—सः+ददाति=स ददाति (वह देता है), सः+इन्द्रः=स इन्द्रः (वह इन्द्र), किन्तु सः+अभवत्=सोऽभवत् (वह था)। मृतः+सः (वह मरा) में विसर्ग का लोप नहीं होता है।

४९—भोः के विसर्ग का लोप हो जाता है, बाद में कोई स्वर या कोमल व्यंजन हो तो। यह भोः अव्यय भवत् (आप) शब्द का सम्बोधन में एक अनियमित संक्षिप्त रूप है, यह भवत् के भवः से भोः बना है। इसका विस्मय-सूचक के रूप में प्रयोग होता था। जैसे—भोः+ईशान=भो ईशान (हे ईश्वर), भोः+देवाः=भो देवाः (हे देवो), किन्तु भोः+छेत्तः=भोश्छेत्तः (हे काटने वाले) में विसर्ग का लोप नहीं होगा।

---

१. ऐसे शब्द हैं—पुनर् (फिर), प्रातर् (प्रातःकाल), अन्तर् (अन्दर), स्वर् (स्वर्ग), अहर् (दिन), द्वार् (द्वार), वार् (जल)। ऋकारान्त शब्दों का सम्बोधन में एकवचन रूप, जैसे पितर् (पिता) (नियम १०१), और ऋ अन्तवाली धातुओं के कुछ रूप, जैसे—अजागर् (जागा) जागृ धातु का लङ् प्र० और म० एक०।

(क) भगवत् शब्द के सम्बोधन भगवः का संक्षिप्त रूप भगोः (हे आदरणीय) है। उसके साथ भी उपर्युक्त नियम लगेगा।

५०—जिन शब्दों के अन्त में मूल रूप में र् है, उनके र् को र् ही रहता है, बाद में सप्तमी बहु० का सु हो तो। जैसे—वार्+सु+=वार्षु (जल में)। (क) अहर् (नियम ६१ का २ देखें) और स्वर् (स्वर्गवाचक अव्यय) के र् को र् ही रहता है, समास में उत्तरपद में पति शब्द हो तो। जैसे—अहर्पतिः (दिन का स्वामी), स्वर्पतिः (स्वर्ग का स्वामी)।

व्यंजनों का द्वित्व होना (Doubling of Consonants)

५१—स्वरों के बाद शब्द का प्रथम वर्ण छ् होगा तो उसको द्वित्व हो जाता है। ह्रस्व स्वर और आ तथा मा निपात के बाद यह द्वित्व अवश्य होता है, अन्यत्र विकल्प से। जैसे—तव+छाया=तवच्छाया (तेरी छाया), आ+छादयति=आच्छादयति (वह ढकता है), मा+छिदत्=माच्छिदत (वह न काटे), किन्तु बदरीछाया, बदरीच्छाया (बेर की छाया) में विकल्प से द्वित्व होता है।

(क) एक शब्द के अन्दर प्रत्येक स्वर के बाद छ् को द्वित्व होता है। जैसे—इच्छति (वह चाहता है), म्लेच्छः (म्लेच्छ)।

५२—ङ् और न् से पहले कोई ह्रस्व स्वर हो और बाद में कोई भी स्वर हो तो ङ् और न् को द्वित्व हो जाता है। जैसे—प्रत्यङ्+आस्ते=प्रत्यङ्ङास्ते(वह पश्चिम की ओर मुँह करके बैठता है); धावन्+अश्वः=धावन्नश्वः (दौड़ता हुआ घोड़ा)। किन्तु कवीन्+आह्वयस्व (कवियों को बुलाओ) में दीर्घ स्वर पहले होने से न् को द्वित्व नहीं होगा।

प्रथम वर्ण का महाप्राण होना (Initial Aspiration)

५३—च् (नियम ३८) और ञ् (नियम ४०) के बाद शब्द का प्रारंभिक श् हो तो उसे छ् हो जाता है, यदि उस श् के बाद कोई कठोर व्यंजन न हो तो। यह नियम वैकल्पिक है, परन्तु व्यवहार में नियमित रूप से लगता है जैसे—तच्+श्लोकेन=तच्छ्लोकेन (उस श्लोक के द्वारा), धावन्+शशः=धावञ्छशः (दौड़ता हुआ खरगोश)।

(क) क्, ट्, त्, प् के बाद भी यह नियम लगता है, परन्तु साधारणतया इस नियम का प्रयोग नहीं होता। वाक्शतम् का वाक्छतम् (सौ बातें) हो सकता है।

५४—क्, ट्, त्, प् के बाद शब्द के प्रारम्भिक ह् को पूर्ववर्ण के अनुसार महाप्राण वर्ण हो जाता है। अर्थात्—(१) क् को ग् होगा और ह् को घ्, (२) ट् को ड् और ह् को ढ्, (३) त् को द् और ह् को ध्, (प् को ब् और ह् को भ्। जैसे—वाक् + हि=वाग्घि (क्योंकि वाणी), तत् + हि= तद्धि (क्योंकि वह)।

५५—यदि धातु के प्रारम्भ में ग्, द् ब् हैं और उनका अन्तिम वर्ण घ्, ध् भ् या ह् है, यदि ऐसी धातुओं में से अन्तिम वर्ण में महाप्राण या ह्-ध्वनि लुप्त होती है तो प्रारम्भिक वर्ण में महाप्राण ध्वनि आ जाएगी। यह एक प्रकार से क्षतिपूर्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार ग् को घ्, द् को ध् और ब् को भ् हो जायेगा। जैसे—दुह् शब्द (दुहनेवाला) का धुक् और बुध् (विद्वान्) का भुत् हो जाता है।

अन्तरंग-संधि (Internal Sandhi)

५६—अन्तरंग सन्धि के नियम शब्दों और धातुओं के अन्तिम वर्णों पर लागू होते हैं, बाद में कोई भी सुप् (नियम ७३ क में वर्णित व्यंजन से प्रारंभ होने वाले सुप् प्रत्ययों को छोड़कर), तिङ्, कृत्, प्रत्यय (देखें नियम १८२, १) और स्वर या य् से प्रारम्भ होने वाला कोई तद्धित प्रत्यय (१८२, २) हो तो। ये नियम शब्दों और धातुओं के उदाहरणों को ठीक स्मरण करने से ही जाने

१. ग्रीक और संस्कृत भाषा में कुछ मूल धातुएँ ऐसी थीं, जिनका प्रथम वर्ण महाप्राण वर्ण था। ऐसी धातुओं के लिए कुछ ध्वनि-नियम थे, जिनके अनुसार यह आवश्यक था कि प्रारम्भ और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण वर्ण नहीं रह सकते थे। इस नियम का परिणाम यह था कि यदि प्रथम वर्ण महाप्राण है तो अन्तिम वर्ण से महाप्राण ध्वनि हट जाती थी; यदि प्रथम वर्ण में महाप्राण ध्वनि नहीं रहती थी तो अन्तिम वर्ण में महाप्राण ध्वनि सुनाई पड़ती थी। यह नियम उसी प्राचीन ऐतिहासिक नियम का अवशेष है। फलस्वरूप यदि अन्तिम वर्ण से महाप्राण ध्वनि हटेगी तो प्रथम वर्ण में वह पुनः सुनाई पड़ेगी।

जा सकते हैं। इनमें से कुछ नियम बहिरंग सन्धि के समान ही हैं। बहिरंग सन्धि से जो नियम विशेष उल्लेखनीय हैं, उनका ही यहाँ पर उल्लेख किया गया है।

अन्तिम स्वर (Final Vowels)

५७—कतिपय स्थानों पर स्वर (और सवर्ण स्वर) बाद में हो तो इ और ई को इय्, उ और ऊ को उव्, ऋ को इर् हो जाते हैं (नियम १८ और २०)। जैसे—धी+इ=धियि, स० १ (बुद्धि में), भू+इ=भुवि (पृथ्वी पर), युयु+उः=युयुवुः (वे मिले), गॄ+अति=गिरति (वह निगलता है)।

५८—अन्तिम ॠ को ईर् होता है, बाद में व्यंजन से प्रारम्भ होनेवाला कोई सुप् या तिङ् प्रत्यय हो तो। यदि ॠ से पूर्व ओष्ठ्य वर्ण होगा तो ॠ को उर् होगा। यदि एक व्यंजन पहले होगा तो ऋ को रि हो जायेगा, बाद में य् हो तो (देखें १५४, ३) जैसे—गॄ का कर्मवाच्य लट् प्र०१ गीर्यते (निगला जाता है), गीर्णः (निगला गया), गॄ का क्त-प्रत्ययान्त रूप। पॄ का कर्म०-लट् प्र०१ पूर्यते (पूरा किया जाता है), क्त-प्रत्ययान्त रूप पूर्णः (पूरा किया) कृ- कर्म०लट् प्र०१-क्रियते (किया जाता है)।

५९—ए को अय्, ऐ को आय्, ओ को अव् और औ को आव् होते हैं, बाद में अजादि (स्वर से प्रारम्भ होने वाला) प्रत्यय या य् हो तो (२१, २२)। जैसे ने+अनम्=नयनम् (नेत्र), रै+ए=राये (धन के लिए), गो+ए=गवे (गाय के लिए), नौ+अः=नावः (नौकाएँ), गौ+यः=गव्यः (गाय का)।

अन्तिम व्यंजन (Final Consonants)

६०—बहिरंग सन्धि से विशेष उल्लेखनीय अन्तर यह है कि इसमें धातु और शब्दों के अन्तिम व्यंजनों में कोई परिवर्तन नहीं आता है। (देखो नियम ३२), बाद में स्वर, अन्तःस्थ और नासिक्य से प्रारम्भ होनेवाला कोई प्रत्यय हो तो।[1] यदि अन्य वर्ण बाद में होंगे तो उनमें बहिरंग सन्धि के नियम

1. कृत् प्रत्यय का न बाद में होगा तो द् को भी न् हो जाएगा। जैसे—अन्न (अन्न) में अद्+न है। यदि तद्धित प्रत्यय मत् और मय बाद में होंगे तो शब्द के त् और द् को न् हो जाएगा। जैसे—विद्युत्+मत्=विद्युन्मत् (बिजली से युक्त), मृत् +मय=मृन्मय (मिट्टी से बना हुआ)।

लगेंगे। जैसे—प्राञ्चः (पूर्वी), वचानि (मैं बोलूँ), वाच्य (बोलने योग्य), वच्मि (मैं बोलता हूँ); किन्तु वक्ति (वह बोलता है) में व्यंजन-सन्धि होगी।

६१—शब्द या धातु के अन्त में दो व्यंजन नहीं रह सकते हैं (नियम २८ देखें), अतः जिन शब्दों या धातुओं के अंत में व्यंजन होते हैं, उनके बाद अपृक्त (स्वर-रहित केवल एक व्यंजनवर्ण) सुप् या तिङ् प्रत्यय का लोप हो जाता है। अन्त में जो व्यंजन बच जाता है, उसको बहिरंग सन्धि के नियमानुसार रखा जाता है जैसे—प्राञ्च् + स् = प्राङ् (पूर्वी), प्र० एक० का रूप है। यहाँ पर पहले प्रत्यय के स् का लोप होगा और ञ् तथा च् को ङ् और क् होंगे (नियम २७), बाद में अन्तिम क् (नियम २८) का लोप हो जाएगा। इसी प्रकार अदोह् + त् = अधोक् (५५) (उसने दुहा), दुह् + लङ् प्र०१।

६२—महाप्राण वर्णों (Aspirates) के बाद स्वर, अन्तःस्थ और नासिक्य (६०) के अतिरिक्त अन्य कोई वर्ण होगा तो महाप्राण ध्वनि का लोप हो जायगा, अर्थात् वर्ग के चतुर्थ वर्ण को तृतीय वर्ण और द्वितीय वर्ण को प्रथम वर्ण हो जाएगा। जैसे—रुन्ध् + ध्वे = रुन्द्ध्वे (तुम रोकते हो), लभ् + स्ये = लप्स्ये (मैं पाऊँगा)। किन्तु युधि (युद्ध में), लोभ्यः (चाहने योग्य) में महाप्राण-ध्वनि रहेगी।

(क) लुप्त हुई महाप्राण ध्वनि धातु या शब्द के पूर्ववर्ण में पुनः आ जाती है, यदि बाद में ध्व् (धि के साथ नहीं), भ्, स् होंगे तो (५५वें नियम के अनुसार)। जैसे—अभुद्ध्वम् (तुमने जाना), भुद्भिः (तृ०३), भुत्सु (स०३)। किन्तु दुग्धि (दुहो)—दुह् + लोट् म०१ में द् को ध् नहीं होगा।

यदि महाप्राण ध्वनि का लोप हुआ है और बाद में त् और थ् हैं तो त् और थ् को ध् हो जाता है, अर्थात् महाप्राण ध्वनि अगले वर्ण पर चली जाती है।[2]

---

१. संस्कृत व्याकरण के अनुसार एक शब्द के प्रारम्भ और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण ध्वनि नहीं रह सकती है। इसी प्रकार एक शब्द के अन्त में और आगामी शब्द के प्रारम्भ में दोनों स्थानों पर महाप्राण ध्वनि नहीं रहेगी।

२. धा (रखना) धातु इसका अपवाद है। त् और थ् बाद में होने पर (६२ क के सादृश्य पर) धा को धत् हो जाता है। (देखो आगे नियम १३४, जुहोत्यादिगण १)

जैसे—लभ्+तः=लब्धः (पाया), रुन्ध्+थः=रुन्द्धः (तुम दोनों रोकते हो), बन्ध्+तुम्=बन्द्धुम् (बाँधने को)।

६३—तालव्य वर्ण (Palatals)—(क) च् के बाद कोई व्यंजन होगा तो च् को क् या ग् अवश्य हो जाता है (देखो नियम ६१, २७, ६ कोष्ठक १), ज् को अधिकांश स्थानों पर क् या ग्[1] हो जाता है, अन्य स्थानों पर मूर्धन्य वर्ण ट्, ड् या ष् होता है। जैसे—उक्त (कहा), वच्+क्त, युक्त (जोड़ा) युज्+क्त, रुग्ण (टूटा हुआ) रुज्+क्त (देखो नियम ६५)। किन्तु निम्न-लिखित स्थानों पर ज् को मूर्धन्य वर्ण ट्, ड् या ष् हुआ है—राट् (राजा), राज्+स्, प्र०१, मृड्ढि (धोओ) मृज्+लोट् म०१, राष्ट्र (देश) राज्+त्र नि० ६४)।

(ख) बाद में ध्, पदसंज्ञक सुप् (भ्याम् आदि), (नि० ७३ क) और प्र०१ का स् होगा तो श् को ट् या ड्, कभी-कभी क् या ग्, होते हैं। त् या थ् बाद में होंगे तो श् को ष् होता है (नि० ६४)। बाद में भविष्यत् काल का या धातुरूप से सम्बद्ध कोई स् होगा तो श् को क् हो जाएगा। ऐसे स्थानों पर क्+स्=क्ष् होगा। जैसे—विश् का स०३ में विट्सु (प्रजाओं में) होगा, विश्+क्त=विष्ट (प्रविष्ट हुआ), विश्+लृट् उ०१=वेक्ष्यामि (नि० ६७) (मैं प्रविष्ट होऊँगा)।

(ग) च् और ज् के बाद न् को ञ् होता है, किन्तु श् के बाद नहीं। जैसे—याच्+ना=याच्ञा (माँगना), यज्+नः=यज्ञः (यज्ञ), किन्तु प्रश्+नः=प्रश्नः (प्रश्न) ही होगा।

(घ) प्रछ् (पूछना) धातु के छ् को श् के तुल्य ही कार्य होते हैं। जैसे—प्रच्छ्+क्त=पृष्ट (पूछा), प्रच्छ्+लृट् उ०१=प्रक्ष्यामि (पूछूँगा), प्रच्छ्+न=प्रश्न (प्रश्न) (बहिरंग सन्धि में अर्थात् अन्तिम छ् को तथा पद-संज्ञक सुप्, भ्याम् आदि से पूर्व छ् को ट् या ड् हो जाता है)।

६४—मूर्धन्य (Cerebrals) के बाद आनेवाले दन्त्य को भी मूर्धन्य वर्ण

---

१. धातुरूपों में स् से पहले ज् को क् अवश्य हो जाता है। (नि० १४४, ४)।

हो जाता है (नि० ३६)। जैसे—इष्+त=इष्ट (चाहा), द्विष्+धि=द्विड्ढि (द्वेष करो), षट्+नाम्=षण्णाम् (छः का) (नि० ३३)।

(क) शब्द-रूपों में सर्वत्र तथा धातु-रूपों में ध् से पहले ष् को नियमित रूप से मूर्धन्य (ट् या ड्) हो जाते हैं (नि० ८०)। धातु-रूपों में स् से पहले नियमित रूप से ष् को क् हो जाता है (नि० ६३ ख और ६७) जैसे—द्विष् का द्वेक्षि (तुम द्वेष करते हो)।

६५—न् को ण् होना (Change of dental न् to cerebral ण्)

ऋ, ॠ, र्, ष् के बाद न् को ण् हो जाता है, बाद में कोई स्वर या न्, म्, य्, व् हों तो। ऋ आदि के बाद कोई स्वर, कवर्ग, पवर्ग, य्, व्, ह्, बीच में होगा तब भी न् को ण् हो जाएगा। जैसे—नृ+नाम्=नृणाम् (मनुष्यों का), कर्+नः= कर्णः (कान), दूषणम्(दोष) यहाँ बीच में स्वर का व्यवधान है, बृंहणम् (पोषक) (अनुस्वार, ह् और स्वर का व्यवधान है), अर्केण (सूर्य के द्वारा) (कवर्ग और स्वर का व्यवधान), क्षिप्णुः (फेंकना) (स्वर और पवर्ग का व्यवधान), प्रेम्णा (प्रेम से) (स्वर और पवर्ग का व्यवधान), ब्रह्मण्यः (ब्राह्मणों के लिए हितकारी) (स्वर, ह् पवर्ग और स्वर का व्यवधान तथा न् के बाद य् है), निषण्णः (बैठा) (न् के बाद न् है और दोनों को ण् हो जाता है), प्रायेण (प्रायः) (स्वर, य् और स्वर का व्यवधान)।

किन्तु निम्नलिखित स्थानों पर पूर्वोक्त कारणवश न् को ण् नहीं होता है:—अर्चनम् (पूजा करना) (चवर्ग का व्यवधान है), अर्णवेन (समुद्र के द्वारा) (टवर्ग का व्यवधान), अर्धेन (आधे के द्वारा) (दन्त्य का व्यवधान), कुर्वन्ति (वे करते हैं), (न् के बाद त् है), रामान्-राम द्वि०३ (रामों को) (यहाँ न् अन्तिम वर्ण है)

सूचना—उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि बीच में आनेवाले वर्णों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। एक से अधिक भी वर्ण बीच में होंगे तो भी न् को ण् हो जाता है। जैसे—रामायण शब्द में र् और न् के बीच में पाँच वर्ण हैं (तीन स्वर, एक पवर्ग और एक अन्तःस्थ)।

न् को ण् करने की सारिणी

(Table showing when न् changes to ण्

वर्ण के बाद	व्यवधान हो तो	न् को ण्	न् के बाद वर्ण हो तो
ऋ, ॠ, र्, ष्	स्वर, कवर्ग (ह् सहित, पवर्ग (व् सहित), य् और अनुस्वार ।	न् को ण् होता है ।	स्वर, न्, म्, य्, व्

६६—(अ) न् को होने वाले कार्य—

१—य् और व् बाद में होंगे तो न् वैसा ही रहेगा । जैसे— हन्यते (मारा जाता है), तन्वन् (फैलाता हुआ) ।

२—धातु के अन्तिम न् के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है, बाद में स् हो तो । जैसे—जिघांसति (हन्+इच्छार्थक सन् प्रत्यय, वह मारना चाहता है), मंस्यते (मन्+लृट्, वह सोचेगा) । यदि नपुंसकलिंग बहु० में होने वाला स् या ष् का आगम होगा तो भी उससे पहले न् को अनुस्वार हो जाएगा (नि० ७१ ग, ८३) । जैसे—यशांसि (यशस्+प्र०३, यश), हवींषि (हविस् +प्र०३, हवि) ।

(आ)—**दन्त्य स् को होनेवाले कार्य—**

१—निम्नलिखित स्थानों पर धातु या शब्द के अन्तिम स् को त् हो जाता है—

(क) वस् (रहना) और घस् (खाना) धातुओं के स् को त् हो जाता है, बाद में विकरण (भविष्यत्, लुङ् और सन् प्रत्यय) का स् होगा तो । जैसे—वत्स्यति (वस्+लृट्, वह रहेगा) (नि० १५१ ख ३),अवात्सीत् (वस्+लुङ्, वह रहा) (१४४, १),जिघत्सति (घस्+सन्, वह खाना चाहता है) (१७१, ५) ।

(ख) लिट् के स्थान पर होनेवाले क्वसु (वस्) प्रत्ययान्त शब्दों के स् को त् हो जाता है, बाद में भ् या स् (तथा नपुं० प्र० द्वि०१) हो तो (८६) । जैसे—चकृवद्भिः (कृ+लिट्=चकृवस्+भिः), चकृवत्सु (स०३) चकृवत् (नपुं० प्र० द्वि०१) ।

२—निम्नलिखित स्थानों पर स् का लोप हो जाता है—

(क) दो स्पर्श (क से म तक) वर्णों के मध्यवर्ती स् का लोप होता है । जैसे—अभक्त (अ+भक्+स्+त, भज्+लुङ्+प्र०१, बाँटा), चष्टे

(चक्ष्+लट्+प्र०१, कहता है) (मूलरूप में चक्ष् धातु चक्ष्+स् है अतः चक्ष्+ते में स् का लोप है)। उद् उपसर्ग के बाद स्था (रुकना) और स्तम्भ् (सहारा देना) धातु के स् का लोप हो जाता है। जैसे—उत्थाय (उठकर, उद्+स्थाय), उत्तम्भित (उठा हुआ, उद्+स्तम्भित)।

(ख) स् का लोप हो जाता है, बाद में कोमल दन्त्य वर्ण हो तो। जैसे—शाधि (शास्+लोट् म०१ शास्+धि, आज्ञा दो)। जहाँ पर स् को ष् हो जाता है, वहाँ लोप होने पर अगले दन्त्य वर्ण को मूर्धन्य वर्ण हो जायेगा। जैसे—अस्तोढ्वम् (अ+स्तोष्+ध्वम्, स्तु+लुङ्+म०३, तुमने स्तुति की)।

६७—स् को ष् होना—(change of dental स् to cerebral ष्)

अ, आ के अतिरिक्त (अनुस्वार और विसर्ग बीच में होंगे तो भी) अन्य कोई स्वर पूर्व में होगा अथवा क् या र् पहले होंगे तो दन्त्य स् को ष् हो जाता है, बाद में स्वर, त्, थ्, न्, म्, य्, व् हों तो। जैसे—सर्पिस् (घी) के रूप होंगे—सर्पिषा (घी से), सर्पींषि (प्र०३) सर्पिःषु (स०३) (नि० ४३, ३)। वाच् का रूप होगा—वाक्षु (स०३, वाणियों में)। गिर् (वाणी) का गीर्षु (स०३) (नि० ८२)। स्था (रुकना) धातु का तिष्ठति (लट् प्र०१, रुकता है)। भू (होना) का भविष्यति (होगा)। स्वप् (सोना) का सुष्वाप (सोया)। चक्षुस् का चक्षुष्मत् (आँखवाला)। किन्तु उपर्युक्त कारणों से इन स्थानों पर स् को ष् नहीं हुआ—सर्पिः (स् अन्तिम वर्ण है), मनसा (मन से, यहाँ पहले अ है), तमिस्रम् (अँधेरा, बाद में र् है)।

स् को ष्, परिवर्तनसारिणी (Table showing when स् changes to ष्)

वर्ण पहले हों तो	होता है	बाद में वर्ण हों तो
अ, आ (बीच में अनुस्वार और विसर्ग हों तो भी) के अतिरिक्त कोई भी स्वर, क् या र्	स् को ष्	स्वर, त्, थ्, न्, म्, य्, व्

सूचना—न् को ण् और स् को ष् के नियम पूरी सावधानी से स्मरण कर लेने चाहिएँ, क्योंकि शब्दरूप और धातु-रूपों में ये नियम नियमित रूप से लगते हैं।

६८—य्, र्, ल् (नि० ६० और ४२ आ १) बाद में होंगे तो म् में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यदि बाद में व् से प्रारम्भ होने वाला कोई प्रत्यय होगा तो म् को न् हो जाएगा। जैसे—काम्यः (चाहने योग्य), ताम्रः (लाल रंग), अम्लः (खट्टा); किन्तु जगन्वान् (गम्+क्वसु, गया हुआ) में म् को न् होगा।

६९—(क) स् बाद में हो तो ह् को घ् के तुल्य माना जाता है तथा द् से प्रारम्भ होनेवाली धातुओं के भी ह् को घ् माना जाता है, बाद में त्, थ्, ध् और स् हो तो। जैसे—लेह्+सि=लेक्षि (तुम चाटते हो) (६७), दह् +स्यति=धक्ष्यति (वह जलायेगा) (५५), दह्+त=दग्ध (जला हुआ) (६२ ख), दिह्+ध्वे=धिग्ध्वे (तुम तेल आदि से चिकना करो) (६२ क)। इसी प्रकार स्निह् (स्नेह करना) और मुह् (किंकर्तव्यविमूढ होना) धातुओं को क्त-प्रत्यय होने पर ह् को घ् के तुल्य कार्य होता है। जैसे—स्निग्ध (चिकना, स्निह्+त), मुग्ध (मूर्ख, मुह्+त)।

(ख) अन्य धातुओं में ह् को ढ् हो जाता है और बाद के त, थ् और ध् को ढ् होगा तथा ढ् से पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाएगा। और पहले ढ् का लोप हो जाएगा। जैसे—लिह्+त=लीढ (चाटा), मुह्+त=मूढ (मूर्ख)। इसी प्रकार वह् और सह् धातुओं के ह् को भी ढ् होता है और इन धातुओं के स्वर में कुछ परिवर्तन होता है। जैसे—ऊढ[1] (वह्+त) (ढोया), वोढुम्[2] (वह्+तुम्, ढोने को), सोढुम् (सह्+तुम्, सहने को)।

नह् धातु ६९ ख का अपवाद है। इसमें ह् को ध् होता है। जैसे—नद्ध (नह्+त, बाँधा)। दृह् धातु नियम ६९ क और ख दोनों का अपवाद है। इसमें ह् को ढ् होता है और पूर्ववर्ती ऋ को दीर्घ नहीं होता। दृह्+त= दृढ (दृढ).

---

१. व को सम्प्रसारण होकर उ हो जाता है (नियम १७ की पाद-टिप्पणी), बाद में उस उ को दीर्घ ऊ हो जाता है।

२. यह ओ भारत-ईरानी azh का प्रतिनिधित्व करता है। यह बाद के दन्त्य को मूर्धन्य महाप्राण ढ् करके ओ हो जाता है, जैसा कि अस् अन्त वाले शब्दों में अस् को (az होकर) ओ हो जाता है। जैसे—मनस्+भिः=मनोभिः (नि० ४५ ख)।

अध्याय ३

शब्दरूप (Declension)

७०—शब्दरूप या धातुज शब्दों के रूप सुप् प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं। इनको सरलता से ३ शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—१—संज्ञा शब्द (विशेषण शब्द-सहित), २—संख्यावाचक, ३—सर्वनाम।

संस्कृत में तीन लिंग, तीन वचन और आठ विभक्तियां (कारक) होती हैं। इनके नाम आदि निम्नलिखित हैं :

(क) **तीन लिंग**—(Genders)—पुंलिंग (Masculine), स्त्रीलिंग (Feminine), नपुंसकलिंग (Neuter)।

(ख) **तीन वचन** (Numbers)—एकवचन, (Singular), (द्विवचन) (Dual), बहुवचन (Plural)।

(ग) **आठ विभक्तियां** (Cases)—प्रथमा (Nominative), संबोधन (Vocative), द्वितीया (Accusative), तृतीया (Instrumental), चतुर्थी (Dative), पंचमी (Ablative), षष्ठी (Genitive), सप्तमी[1] (Locative)।

७१—साधारणतया शब्दों के अन्त में ये **सुप्** (शब्दों के अन्त में लगने वाले कारक-चिह्न) लगते हैं —

	एकवचन			द्विवचन			बहुवचन		
	पुं०	स्त्री०	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र०	स्		—२	औ		ई	अस्		इ३
सं०–१			—	औ		ई	अस्		इ
द्वि०	अम्		—	औ		ई	अस्		इ

१. भारतीय वैयाकरणों के अनुसार यह क्रम है। वे संबोधन को पृथक् विभक्ति नहीं मानते हैं। सुविधा के लिए एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में जिन विभक्तियों में समानता है, उनको एक वर्ग में रखा गया है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
	पुं० स्त्री० नपुं०	पुं० स्त्री० नपुं०	पुं० स्त्री० नपुं०
तृ०	आ	भ्याम्	भिस्
च०	ए	भ्याम्	भ्यस्
पं०	अस्	भ्याम्	भ्यस्
ष०	अस्	ओस्	आम्
स०	इ	ओस्	सु

१—प्रथमा और संबोधन के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता है, केवल स्वर में अन्तर होता है। संबोधन एकवचन में निम्नलिखित स्थानों पर शब्द-रूपों में अन्तर होता है—अजन्त (स्वर अन्त वाले) पुँलिग और स्त्रीलिंग शब्दों में तथा अत्, अन्, इन्, अस् (नि० ७६क), यस्, वस् अन्तवाले हलन्त पुंलिग शब्दों में।

२—नपुंसकलिंग प्रथमा और द्वितीया एकवचन में केवल शब्द ही शेष रहता है, केवल अ अन्तवाले शब्दों में म् और जुड़ जाता है।

३—नपुं० में प्र०, सं० और द्वि० बहु० में अजन्त शब्दों के बाद इ से पहले न् और जुड़ जाता है। जिन शब्दों के अन्त में स्पर्श या ऊष्मवर्ण (ह् को छोड़कर कोई भी व्यंजन) होते हैं, उनको भी प्र०, सं०, द्वि०, बहु० में अंतिम व्यंजन से पहले न् जुड़ जाता है और बाद में अगले वर्ण के अनुसार न् को कार्य होते हैं।

७२—च्, त्, न्, स् और ऋ अन्तवाले शब्दों के शब्द-रूपों में पदस्थानों और भस्थानों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि यदि शब्द के दो अंग होते हैं तो वहाँ पर **सर्वनामस्थान (पंचस्थान)** (**Strong**) और **असर्वनामस्थान (अपंचस्थान)** (**Weak**) का अन्तर रहेगा। यदि शब्द के तीन अंग होते हैं तो **पंचस्थान** (**Strong**), **पदस्थान** (**weak**) और **भस्थान** (**weekest**) ये तीन अन्तर होंगे। (क) उदात्त स्वर का स्थान-परिवर्तन ही इस अन्तर का कारण है। पंचस्थानों में जहाँ शब्द पर उदात्त स्वर है, वहाँ शब्द अपने पूर्ण रूप में रहता है। अपंचस्थानों में उदात्त स्वर प्रत्यय पर रहता है, अतः शब्द अपने संक्षिप्त रूप में रहता है। ऐसे ही कारण से दीर्घ-स्वरान्त स्त्रीलिंग शब्दों को संबोधन एकवचन में ह्रस्व हो जाता है क्योंकि उदात्त अन्तिम स्वर

पर न होकर प्रथम स्वर पर आ जाता है।

७३—निम्न स्थानों पर सर्वनामस्थान (पंचस्थान) वाले रूप होते हैं—

(क) पुं० शब्द[1]—प्रथमा और संबोधन १, २, ३; द्वितीया—१, २।

(ख) नपुं० ,, —प्रथमा, सं० और द्वितीया—केवल बहुवचन।

(क) जिन शब्दों में तीन अंग होते हैं, उनमें हलादि[2] (व्यंजनों से प्रारम्भ होने वाली) विभक्ति (भ्याम्, भिः, भ्यः, सु) से पहले पद-स्थान वाला अंग रहेगा। शेष अजादि भस्थान वाले प्रत्ययों से पहले भस्थान वाला अंग रहेगा। जैसे—प्रत्यञ्चौ (प्र०२), प्रत्यग्भिः (तृ०३), प्रतीचोः (प०२) (९३)।

(ख) तीन अंगों वाले नपुंसकलिंग शब्दों से प्र०, सं० और द्वि० एकवचन में पदस्थान वाला अंग रहेगा तथा प्र०, सं० और द्वि० के द्विवचन में भस्थान वाला अंग रहेगा। जैसे—प्रत्यक् (एक०), प्रतीची (द्वि०), प्रत्यञ्चि (बहु०) (९३)। शेष विभक्तियों में पुंलिंग के तुल्य रूप बनते हैं।

हलन्त शब्द
संज्ञा शब्द (Nouns)

७४. सुविधा के लिए शब्दरूप दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं:—

१. व्यंजनान्त शब्द[3]—(अ) अपरिवर्तनशील, (आ) परिवर्तनशील।

२. अजन्त शब्द—(अ) अ और आ अन्त वाले, (आ) इ और उ अन्त वाले, (इ) ई और ऊ अन्त वाले, (ई) ऋ अन्त वाले, (उ) ऐ, ओ, औ अन्त वाले शब्द।

१(अ) अपरिवर्तनशील शब्द (Unchangeable Stems)

७५. ऐसे शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, क्योंकि कवर्ग, मूर्धन्य,

---

१. ऋ (१०१) अन्त वाले शब्दों को छोड़कर प्रायः सभी परिवर्तनशील शब्दों के स्त्रीलिंग रूप ई प्रत्यय (१००) लगाकर बनते हैं।

२. परिवर्तनशील शब्दों में पदस्थान मानना इसलिए अधिक सुविधाजनक है, क्योंकि समास में पूर्वपद में इनका पदस्थान वाला रूप प्राप्त होता है।

३. कतिपय वैयाकरण अजन्त शब्दों के रूप अकारान्त (२ अ) शब्दों से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि संस्कृत के अधिकांश शब्दों के रूप अकारान्त के तुल्य चलते हैं। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हलन्त शब्दों से शब्दरूप प्रारम्भ करना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इन शब्दों में सुप् प्रत्यय (७१) बिना किसी परिवर्तन के सीधे लगते हैं। अकारान्त शब्दों के रूपों में सुप् में बहुत परिवर्तन होते हैं, अतः प्रारम्भिक छात्रों को समझने में असुविधा होती है।

नासिक्य या अन्तःस्थ (र् को छोड़कर) अन्तवाले शब्द हैं ही नहीं। हलादि प्रत्यय बाद में होने पर इनमें केवल सन्धि-नियम ही लगते हैं (१६ क), अन्य कोई परिवर्तन नहीं होता है। प्रत्येक हलन्त (व्यंजनान्त) शब्द के रूप पुंलिंग और स्त्रीलिंग में सर्वथा वही रहते हैं और नपुंसकलिंग में प्र०, सं० और द्वि० के द्विव० तथा बहु० में ही अन्तर होता है।

७६—अजादि (स्वर से प्रारम्भ होने वाला) प्रत्यय बाद में होने पर हलन्त शब्दों का अपना अन्तिम व्यंजन सुरक्षित रहता है (७१); किन्तु पदान्त में पुं० और स्त्री० में प्र०१ के स् का लोप हो जाता है और स०३ सु से पूर्व उन्हें निम्नलिखित वर्णों में से कोई एक वर्ण हो जाता है—क्, ट्, त्, प् या विसर्ग (:) (२७); इनको भ् से प्रारम्भ होने वाला प्रत्यय बाद में होने पर क्रमशः ग्, ड्, द्, ब् या र् हो जाता है।

(क) अस् प्रत्यय अन्त वाले (८३) शब्दों को छोड़कर शेष पुं० और स्त्री० शब्दों के सं०१ में वही रूप होते हैं, जो प्र०१ में होते हैं।

(ख) इस प्रकार के शब्दों के नपुं० प्र०, सं० और द्वि० बहु० के रूप बहुत कम प्राप्त होते हैं। जैसे—०भाज् (युक्त, वाले) के रूप—प्र०१—०भाक् का बहुवचन ०भाञ्जि।

तवर्ग अन्तवाले शब्द (Stems in Dentals)

७७—**सुहृद्** (मित्र, शाब्दिक अर्थ—अच्छे हृदय वाला)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० सं०	सुहृत् (२७)	सुहृदौ	सुहृदः
द्वि०	सुहृदम्	,,	,,
तृ०	सुहृदा	सुहृद्भ्याम्	सुहृद्भिः
च०	सुहृदे	,,	सुहृद्भ्यः
पं०	सुहृदः	,,	,,
ष०	,,	सुहृदोः	सुहृदाम्
स०	सुहृदि	,,	सुहृत्सु

(क) नियमित रूप से चलनेवाले अपरिवर्तनशील शब्दों के लिए निम्नलिखित विभक्तियों के रूप स्मरण करने से काम चल जाएगा—प्र०१ और

प्र०, तृ० तथा स० बहु० । जैसे—०जित् (जीतने वाला) के ०जित्, ०जितः, ०जिद्भिः, ०जित्सु । ०मथ् (मारनेवाला) के ०मत्, ०मथः, ०मद्भिः, ०मत्सु । ०वृध् (बढ़ाने वाला) के ०वृत्, वृधः, ०वृद्भिः, ०वृत्सु ।

पवर्ग अन्तवाले शब्द (Stems in Labials)

७८—प् और भ् अन्तवाले थोड़े ही शब्द प्राप्त होते हैं । उनके रूप सुहृद् के तुल्य ही चलते हैं ।

शब्द	प्र० १	प्र० ३	तृ० ३	स० ३
धर्मगुप् (धर्मरक्षक, पुं०)	०गुप्	०गुपः	०गुब्भिः	०गुप्सु
ककुभ् (दिशा, स्त्री०)	ककुप्	ककुभः	ककुब्भिः	ककुप्सु

तालव्य अन्तवाले शब्द (Stems in Palatals)

७९—तालव्य (च्, ज्, श्) अन्तवाले शब्दों में निम्नलिखित स्थानों पर स्थान-परिवर्तन होता है—शब्द का अन्तिम वर्ण हो या बाद में व्यंजन से प्रारम्भ होनेवाला कोई प्रत्यय हो तो (नि० ६३) । च् को सदा कण्ठ्य वर्ण (क् या ग्) होता है । ज् तथा श् को अधिकांश स्थानों पर कण्ठ्य वर्ण (क् या ग्) होता है, किन्तु कुछ स्थानों पर मूर्धन्य वर्ण (ट्, ड्) भी होता है ।

शब्द	प्र० १	प्र० ३	तृ० ३	स० ३
वाच्[1] (वाणी) स्त्री०	वाक्	वाचः	वाग्भिः	वाक्षु (६७)
असृज् (रक्त) नपुं०	असृक्	असृञ्जि	असृग्भिः	असृक्षु
रुज् (रोग) स्त्री०	रुक्	रुजः	रुग्भिः	रुक्षु
सम्राज् (सम्राट्) पुं०	सम्राट्	सम्राजः	सम्राड्भिः	सम्राट्सु
दिश् (दिशा) स्त्री०	दिक्	दिशः	दिग्भिः	दिक्षु
विश् (प्रजा) पुं०	विट्	विशः	विड्भिः	विट्सु

(क) वाच् के तुल्य इन शब्दों के रूप चलेंगे—त्वच् (स्त्री०, त्वचा), रुच् (स्त्री०, कान्ति), स्रुच् (स्त्री० स्रुवा), जलमुच् (पुं०, बादल, शब्दार्थ—जल बरसाने वाला) ।

(ख) रुज् के तुल्य चलनेवाले शब्द—ऋत्विज् (पुं०, पुरोहित, शब्दार्थ—

---

१. अञ्च् धातु से बने अच् अन्त वाले शब्द परिवर्तनशील हैं (नि० ९३) ।

(ऋतुओं में यज्ञ करनेवाला), वणिज् (पुं०, वैश्य), भिषज् (पुं०, वैद्य), स्रज् (स्त्री०, माला), ऊर्ज् (स्त्री०, बल) (प्र०१ में ऊर्क् २८)।

(ग) सम्राज् के तुल्य चलने वाले शब्द—परिव्राज् (पुं०, संन्यासी)।

(घ) दिश् के तुल्य चलने वाले शब्द ०दृश् (देखनेवाला), स्पृश् (छूनेवाला) (समास का अन्तिम शब्द होने पर इनके रूप दिश् के तुल्य चलेंगे)।

मूर्धन्य अन्तवाले शब्द (Stems in Cerebrals)

८०—मूर्धन्य अन्तवाले शब्दों में केवल ष् अन्तवाले शब्द ही प्राप्त होते हैं। ष् को पदस्थानों में ट् या ड् होता है।

शब्द	प्र०१	प्र०३	तृ०३	स०३
द्विष् (शत्रु) पुं०	द्विट्	द्विषः	द्विड्भिः	द्विट्सु
प्रावृष् (वर्षा ऋतु) स्त्री०	प्रावृट्	प्रावृषः	प्रावृड्भिः	प्रावृट्सु

हकारान्त शब्द (Stems in ह्)

८१—अधिकांश हकारान्त शब्दों के ह् को कण्ठ्य (क् या ग्) हो जाता है, यदि ह् अन्तिम वर्ण हो या बाद में व्यंजन प्रारम्भ होने वाला प्रत्यय हो। किन्तु ०लिह् (चाटना) के ह् को मूर्धन्य (ट् या ड्) होता है (नि० ६६ ख) और उपानह् (स्त्री० जूता, शब्दार्थ—जो बांधा जाता है) के ह् को दन्त्य (त् या द्) होता है, उपर्युक्त स्थानों में।

शब्द	प्र०१	प्र०३	तृ०३	स०३
०दुह् (दुहनेवाला)	०धुक्	०दुहः	०धुग्भिः	०धुक्षु(६२)
०द्रुह् (द्रोहकरनेवाला)	०ध्रुक्	०द्रुहः	०ध्रुग्भिः	०ध्रुक्षु
उष्णिह् (स्त्री०, वैदिक छन्द)	उष्णिक्	उष्णिहः	उष्णिग्भिः	उष्णिक्षु
मधुलिह्(पुं०,शहद की मक्खी)	०लिट्	०लिहः	०लिड्भिः	०लिट्सु
उपानह्(स्त्री०,जूता)	उपानत्	०नहः	०नद्भिः	०नत्सु

रकारान्त शब्द[1] (Stems in र्)

८२—प्रथमा एक० में जब र् अन्तिम वर्ण होता है तो उसको विसर्ग हो जाता है, सप्तमी बहु० सु बाद में हो तो र् रहेगा (नि० ५०)। र् से पूर्ववर्ती

---

१. अन्तःस्थ य्, व्, ल् अन्तवाले कोई शब्द नहीं हैं।

इ या उ को दीर्घ हो जाता है, जब र् अन्तिम वर्ण हो या उसके बाद कोई व्यंजन हो तो।

शब्द	प्र०१	प्र०३	तृ०३	स०३
द्वार् (स्त्री०,द्वार)	द्वाः	द्वारः	द्वार्भिः	द्वार्षु (६७)
गिर् (स्त्री०,वाणी)	गीः	गिरः	गीर्भिः	गीर्षु
पुर् (स्त्री०नगर)	पूः	पुरः	पूर्भिः	पूर्षु

सकारान्त शब्द (Stems in स्)

८३—प्रायः सारे सकारान्त शब्द कृत्-प्रत्यय अस्, इस्, उस् से बनते हैं और प्रायः नपुं० होते हैं। नपुं०, प्र०, सं०, द्वि० के बहु० में न् का आगम होने से पहले अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है। पुं० और स्त्री० में आनेवाले प्रायः सभी सकारान्त शब्द समस्त होते हैं और विशेषण के रूप में आते हैं। सकारान्त शब्द उनका अन्तिम शब्द होता है। इन स्थानों पर प्र०१ में अस् के अ को दीर्घ हो जाता है।

यथा—**यशस्** (नपुं०, यश), **हविस्** (नपुं०, हवि); **आयुस्** (नपुं०, आयु)।

एकवचन

प्र०सं०द्वि०	यशः	हविः	आयुः
तृ०	यशसा	हविषा (६७)	आयुषा (६७)
च०	यशसे	हविषे	आयुषे
पं० ष०	यशसः	हविषः	आयुषः
स०	यशसि	हविषि	आयुषि

द्विवचन

प्र० सं० द्वि०	यशसी	हविषी	आयुषी
तृ० च० पं	यशोभ्याम् (४५, २)	हविर्भ्याम्(४४)	आयुर्भ्याम्
ष० स०	यशसोः	हविषोः	आयुषोः

बहुवचन

प्र० सं० द्वि०	यशांसि(६६, २)	हवींषि	आयूंषि
तृ०	यशोभिः	हविर्भिः	आयुर्भिः

च० पं०	यशोभ्यः	हविर्भ्यः	आयुर्भ्यः
ष०	यशसाम्	हविषाम्	आयुषाम्
स०	यशःसु	हविःषु (६७)	आयुःषु (६७)

क—**सुमनस्** (प्रसन्नचित्त शब्द का पुं० प्र०१ में सुमनाः (सं० सुमनः) रूप बनता है, नपुं० प्र०१ में सुमनः बनेगा। **दीर्घायुस्** का सभी लिंगों में प्र०१ में दीर्घायुः रूप ही बनता है। इसी प्रकार **अङ्गिरस्** (पुं०, ऋषि का नाम), **उशनस्** (पुं०, ऋषि का नाम) और **उषस्** (स्त्री०, ऊषा) के प्र०१ में अङ्गिराः, उशनाः (उशना भी) और उषाः रूप बनते हैं।

ख—**आशिस्**[1] (स्त्री०, आशीर्वाद) शब्द के इ को दीर्घ ई हो जाती है (जैसे—इर् अन्तवाले शब्दों में) प्र०१ में तथा व्यंजन से प्रारम्भ होने वाले (हलादि) प्रत्यय बाद में होंगे तो। प्र०१—आशीः, प्र०३—आशिषः, तृ०३—आशीर्भिः, स०३—आशीःषु।

ग—**दोस्**—(नपुं०, बाहु) शब्द के रूप नियमित ढंग से चलते हैं। प्र०१—दोः, प्र०२—दोषी, तृ०३—दोर्भिः, स०३—दोःषु।

१ (आ) परिवर्तनशील शब्द (Changeable Stems)

८४—त्, न्, स् और च् अन्तवाले शब्दों में नियमित रूप से परिवर्तन होता है। त् अन्तवाले शब्द हैं—अत् (मत् और वत्) प्रत्ययान्त शब्द। न् अन्तवाले—अन् (मन् और वन्) प्रत्ययान्त, इन् (मिन् और विन्) प्रत्ययान्त। स् अन्तवाले—यस् (तुलनार्थक प्रत्यय), वस् (लिट् के स्थान पर होनेवाला क्वसु प्रत्यय)। च् अन्तवाले—अच् (यह वस्तुतः अञ्च् धातु है, जिसका अर्थ है झुकना)।

अत् (८५-८६), इन् (८७), यस् (८८) अन्तवाले शब्दों में दो भेद होते हैं—सर्वनामस्थान (strong), पदस्थान (weak)। अन् (९०-९२), वस् (८९) और अच् (९३) अन्तवाले शब्दों के तीन भेद होते हैं—सर्वनामस्थान (strong), पदस्थान (middle), भस्थान (weakest) (७३)।

---

१. आशिस् शब्द इस् प्रत्यय लगाकर नहीं बनता है, अपितु आ उपसर्ग के साथ शास् धातु का रूप है। इसमें शास् के आ को इ हो जाता है।

दो अंगवाले संज्ञा-शब्द (Nouns with two stems)

८५—(१) अत् अन्तवाले शब्द वर्तमान काल के शतृ और भविष्यत् काल के स्य+शतृ (१५६) से बने हुए पुं० और नपुं० शब्द होते हैं।[1] सर्वनामस्थान में अत् का अन्त् रहेगा, अन्यत्र अत् रहेगा।[2] जैसे—अद्+अत् (शतृ) (खाता हुआ) के दो अंग हैं—अदन्त् और अदत्।

अदत्—पुंलिंग

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० सं०	अदन्	अदन्तौ	अदन्तः
द्वि०	अदन्तम्	,,	अदतः
तृ०	अदता	अदद्भ्याम्	अदद्भिः
च०	अदते	,,	अदद्भ्यः
पं०	अदतः	,,	,,
ष०	,,	अदतोः	अदताम्
स०	अदति	,,	अदत्सु

नपुंसकलिंग

प्र०, द्वि०	अदत्	अदती	अदन्ति

क—महत् (महान्, मूलरूप में यह शतृ-प्रत्ययान्त रूप था[3]) के सर्वनामस्थान (पंचस्थान) में अत् को आन्त् हो जाता है।

प्र०१	महान्	प्र०३ पुं०	महान्तः	प्र०३ नपुं० महान्ति
द्वि०१	महान्तम्		महतः	
तृ०	महता		महद्भिः	
सं०१	महन्	स०३	महत्सु	

८६—मत्वर्थक (रखने वाला, वाला अर्थ) मत् और वत् प्रत्यय से बने विशेषण-शब्दों के रूपों में शतृ (अत्)—प्रत्ययान्त रूपों से केवल एक स्थान

१. स्त्री-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए देखें नियम ९५।

२, लेटिन और ग्रीक में सर्वत्र न् रहने से यह भेद प्राप्त नहीं होता है। जैसे—लेटिन में edentis।

३. महत् शब्द मह् (मूलरूप में मघ्) धातु से बना है। तुलना करो—लेटिन—Mag-nus।

पर पुंलिंग में अन्तर होता है, वह है—पुं० प्र०१ में अत् का आन् हो जाएगा। शेष रूप शतृ-प्रत्ययान्त के तुल्य चलेंगे। जैसे—**अग्निमत्** (पुं० नपुं०, यज्ञिय अग्नि को धारण करने वाला)[1]।

प्र०१ पुं०	अग्निमान्	प्र०३ ०मन्तः	नपुं० ०मन्ति
द्वि०	अग्निमन्तम्	०मतः	
सं०	अग्निमन्	स०३ ०मत्सु	

२—**ज्ञानवत्** (पुं० और नपुं०, **ज्ञानवान्**)[2]

प्र०१ पुं०	ज्ञानवान्	प्र०३	ज्ञानवन्तः	नपुं० ०वन्ति
द्वि०२	ज्ञानवन्तम्	द्वि०३	ज्ञानवतः	

(क) भवत् शब्द जब शतृ-प्रत्ययान्त भू धातु से बना हुआ होगा तो उसके रूप अदत् के तुल्य चलेंगे। इसमें सारे रूपों में प्रथम स्वर पर उदात्त स्वर रहेगा। इसका अर्थ होगा—होता हुआ। किन्तु 'आप' अर्थ वाले भवत् शब्द के रूप ज्ञानवत् के तुल्य चलेंगे। यह मत् अन्तवाले शब्दों के तुल्य माना जाएगा। प्र०१ भवान्, द्वि०१ भवन्तम्। सं०१ में भवन् के अतिरिक्त एक अनियमित रूप भोः (नि० ४९) (आप) भी बनता है। यह प्राचीन भवस् का ही संक्षिप्त रूप है।

(ख) **कियत्** (कितना), **इयत्** (इतना) के रूप ज्ञानमत् के ही तुल्य चलते हैं।

प्र०१	कियान्	प्र०३ कियन्तः	नपुं० कियन्ति
द्वि०१	कियन्तम्	द्वि०३ कियतः	

८७—(२) पुं० और नपुं० में मत्वर्थक (रखनेवाला) इन् प्रत्यय से बने हुए विशेषण-शब्द बहुत अधिक हैं। ये शब्द अकारान्त शब्दों से इन् प्रत्यय लगाकर बनते हैं। जैसे—बल (शक्ति) से (बलवान्)। निम्नलिखित स्थानों पर ऐसे शब्दों के अन्तिम न् का लोप हो जाता है—पदस्थान (भ्याम् आदि), नपुंसकलिंग में प्र०१ और द्वि०१ पुं०। प्र०१ में इ को दीर्घ ई हो जाती है

---

१. स्त्री-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए देखें नियम ९५।

२. स्त्री-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए देखें नियम ९५।

और अन्तिम न् का लोप होता है। नपुं० प्र०, सं० और द्वि० के बहु० में इ को दीर्घ ई होता है। जैसे—**धनिन्** (धनवान्)—

पुंलिंग

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	धनी	धनिनः
द्वि०	धनिनम्	,,
तृ०	धनिना	धनिभिः
सं०	धनिन्	

नपुंसकलिंग

	एकवचन	बहुवचन
प्र० द्वि०	धनि	धनीनि
सं०	धनि, धनिन्	

(क) मिन् और विन् प्रत्यय भी मत्वर्थ में होते हैं। इनके रूप भी इन्-प्रत्ययान्त के तुल्य चलेंगे। जैसे—मनस्विन् (मनस्वी), वाग्मिन् (वाच्+मिन्, उत्तम वक्ता)। स्वामिन् (पुं० स्वामी, शब्दार्थ—धन का स्वामी) के रूप संज्ञाशब्द के तुल्य चलते हैं।

८८—(३) तुलनार्थक ईयस् (पुं० और नपुं)[1]—प्रत्ययान्त को पंचस्थानों में ईयस् हो जाता है। जैसे—**गरीयस्**—(गुरु+ईयस्, गुरुतर)—

पुंलिंग

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	गरीयान्	गरीयांसः
सं०	गरीयन्	—
द्वि०	गरीयांसम्	गरीयसः
तृ०	गरीयसा	गरीयोभिः

नपुंसकलिंग

प्र० द्वि०	गरीयः	गरीयसी	गरीयांसि

तीन अंगों वाले संज्ञा शब्द (Nouns with three stems)

८९—(१) लिट् के स्थान पर होनेवाले क्वसु (वस्)[1] प्रत्यय से बने हुए पुं० नपुं० शब्दों के तीन अंग होते हैं—पंचस्थान में वांस्, पदस्थान में वत्[2] और भस्थान में उष् (नि० ६७ और १५७)। जैसे—**चकृवस्**[3] (कृ+वस्, जिसने काम कर लिया है)—

चकृवस्	**पुंलिंग**		
प्र०	चकृवान्	चकृवांसौ	चकृवांसः
सं०	चकृवन्	,,	,,
द्वि०	चकृवांसम्	चकृवांसौ	चकृषः
तृ०	चकृषा	चकृवद्भ्याम्	चकृवद्भिः
स०	चकृषि	चकृषोः	चकृवत्सु

नपुंसकलिंग

प्र०	चकृवत्	चकृषी	चकृवांसि

(क) वस्-प्रत्ययान्त कुछ शब्दों में बीच में इ का आगम भी होता है। जहाँ पर वस् को उस् होता है वहाँ पर इ का लोप हो जाता है। जैसे—तस्थिवस् का प्र०१ में तस्थिवान्, किन्तु तृ०१ में तस्थुषा।

(ख) इस प्रकार के कुछ उपयुक्त शब्दों के रूप नीचे दिए जा रहे हैं। (१५७)

धातु	अर्थ	शब्द	प्र०१	प्र०३	द्वि०३	तृ० ३
स्था	रुकना	**तस्थिवस्**	तस्थिवान्	तस्थिवांसः	तस्थुषः	तस्थिवद्भिः
नी	ले जाना	**निनीवस्**	निनीवान्	निनीवांसः	निन्युषः	निनीवद्भिः

---

१. स्त्री-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए देखें नियम ९५।

२. वैदिक काल में भ् से पूर्व स् को त् होना प्रारम्भ हो गया था। बाद में वही स०३ में तथा नपुं० प्र० और द्वि०१ में भी होने लगा। वस् ही अनुदात्त वाले स्थानों पर उस् होता है (नि० १३७, २ ग)।

३. व्याकरण के प्रारम्भिक छात्र वस्-प्रत्ययान्त रूपों में तथा तवत्-प्रत्ययान्त रूपों में कुछ स्थानों पर भ्रम करते हैं, क्योंकि दोनों का प्र०१ में वान् अन्त में रहता है। जैसे—कृ+तवत् के रूप होंगे—पुं० प्र०१ कृतवान् (किया), द्वि०१ कृतवन्तम् (नि० १६१)।

धातु	अर्थ	शब्द	प्र०१	प्र०३	द्वि०३	तृ०३
भू	होना	**बभूवस्**	बभूवान्	बभूवांसः	बभूवुषः	बभूवद्भिः
तन्	फैलाना	**तेनिवस्**	तेनिवान्	तेनिवांसः	तेनुषः	तेनिवद्भिः
हन्	मारना	**जघ्निवस्**	जघ्निवान्	जघ्निवांसः	जघ्नुषः	जघ्निवद्भिः
गम्	जाना	**जगन्वस्**[1]	जगन्वान्	जगन्वांसः	जग्मुषः	जगन्वद्भिः
गम्	जाना	**जग्मिवस्**	जग्मिवान्	जग्मिवांसः	,,	जग्मिवद्भिः
विद्	जानना	**विद्वस्**[2]	विद्वान्	विद्वांसः	विदुषः	विद्वद्भिः

९०—(२) अन् (मन् तथा वन् भी) अन्तवाले पुंलिंग तथा नपुं०[3] शब्दों में पंचस्थान में अन् का आन्, भ-स्थान में अन् का न् और पदस्थान में अन् का अ रहेगा। पुं० प्र०१ में अन् का आ शेष रहेगा, अन्तिम न् का लोप हो जाता है। स०१ तथा नपुंसक० प्र० सं० और द्वि० के द्विवचन में अन् के अ का लोप विकल्प से होता है। यदि मन् और वन् से पूर्ववर्ती कोई व्यंजन होगा तो भस्थानों में अन् के अ का लोप नहीं होगा, अर्थात् अन् ही रहेगा।

सामान्यतया एक साथ तीन व्यंजनों का होना निषिद्ध है। तथापि जिन शब्दों में साधारण अन् लगा हुआ है, उनमें तीन व्यंजन भी पाये जाते हैं। जैसे—आत्मना में दो व्यंजन हैं, किन्तु तक्ष्णा और मूर्ध्ना में तीन व्यंजन हैं। अन् अन्तवाले शब्दों के उदाहरण—

१—**राजन्** (राजा) पुं०

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	राजा	राजानः
सं०	राजन्	,,
द्वि०	राजानम्	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभिः
स०	राज्ञि, राजनि	राजसु

२—**नामन्** (नाम), नपुं० (लेटिन—No-men)

प्र०, द्वि०,	नाम	नाम्नी, नामनी	नामानि
सं०	नाम, नामन्	,,	,,

१. म् के स्थान पर न् के लिए देखें नियम ६८।

२. विद्वस् में धातु को द्वित्व नहीं होता। ग्रीक में भी ऐसा ही है।

३. स्त्री-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए देखें नियम ९५।

तृ०	नाम्ना	नामभ्याम्	नामभिः
स०	नाम्नि, नामनि	नाम्नोः	नामसु

३—ब्रह्मन् (ब्रह्मा) पुं०

(इसमें अन् के अ का लोप नहीं होगा।)

प्र०	ब्रह्मा	ब्रह्माणः
सं०	ब्रह्मन्	,,
द्वि०	ब्रह्माणम् (६५)	ब्रह्मणः
तृ०	ब्रह्मणा	ब्रह्मभिः

४—ग्रावन् (पत्थर) पुं०

प्र०	ग्रावा	ग्रावाणः
द्वि०	ग्रावाणम्	ग्राव्णः
तृ०	ग्राव्णा	ग्रावभिः

२—(क)—अन् अन्तवाले अपवाद (Irregular stems in अन्)

६१—(१) पन्थन् (मार्ग) पुं० का पंचस्थान में पन्थान्, पदस्थान में पथि, भस्थान में पथ् रूप रहता है। प्र०१ में अनियमित रूप से स्[1] लगता है—

प्र०	पन्थाः	पन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	पथः
तृ०	पथा	पथिभिः

(२) अहन् (दिन) नपुं० (पदस्थान में अहस् होगा)—

प्र०,सं०,द्वि०	अहः[2]	अह्नी, अहनी	अहानि
तृ०	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
स०	अह्नि, अहनि	अह्नोः	अहःसु

१. इस स् का कारण यह है कि प्राचीन भाषा में इस शब्द के रूप दो प्रकार से चलते थे—(१) पन्था शब्द—प्र०१ पन्थाः, द्वि०१ पन्थाम्। (२) पन्थान् शब्द—प्र०१ पन्था, द्वि० पन्थानम्।

२. प्र०, सं०, द्वि० के एक० में न् का विसर्ग रहता है और समास में जब अहन् पहला शब्द होगा तो इसे अहर् माना जाता है (४६)। अतः अहरहः (प्रतिदिन), अहर्गणः (दिनों का समूह)। अहोरात्र (पुं०, नपुं०) (दिन और रात) में न् को र् नहीं होता।

(३) **श्वन्** (कुत्ता) पुं० भस्थानों में श्वन् का शुन्[1] रहेगा। व् को सम्प्रसारण होकर उ हो जाता है। शेष स्थानों पर राजन् के तुल्य रूप होंगे।

प्र०	श्वा	श्वानः
सं०	श्वन्	"
द्वि०	श्वानम्	शुनः
तृ०	शुना	श्वभिः

(४) **युवन्** (युवा) पुं० (लेटिन—juven-is) का भस्थानों में यून् रूप हो जाता है। इसको सम्प्रसारण और सवर्ण दीर्घ होकर (यु+उन्) यून् बनता है। (तुलना करो लेटिन—jun-ior) :—

प्र०	युवा	युवानः
सं०	युवन्	"
द्वि०	युवानम्	यूनः
तृ०	यूना	युवभिः

(५) **मघवन्** (इन्द्र, शब्दार्थ—समृद्धियुक्त) पुं० का भस्थानों में सम्प्रसारण और एकादेश होकर मघोन्[2] रूप रहता है:—

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	मघवा	मघवानः
सं०	मघवन्	"
द्वि०	मघवानम्	मघोनः
तृ०	मघोना	मघवभिः

९२—हन् (मारना) धातु जब समस्त पद के अन्त में संज्ञा शब्द के तुल्य होती है, तब अधिकांश में इसके रूप अन् अन्तवाले शब्दों के तुल्य चलते हैं। पंचस्थानों में हन् (प्र० १ में हन् का हा), पदस्थानों में ह और भस्थानों में घ्न् रहेगा।

---

१. ग्रीक में भी इसी प्रकार Śunaḥ रूप बनता है।

२. इसके मघवत् वाले रूप भी मिलते हैं। जैसे—प्र० १ मघवान्, ष० १ मघवतः।

ब्रह्महन् (ब्राह्मण को मारनेवाला) पुं०

प्र०	ब्रह्महा	ब्रह्महणः
सं०	ब्रह्महन्	,,
द्वि०	ब्रह्महणम् (६५)	ब्रह्मघ्नः[1]
तृ०	ब्रह्मघ्ना	ब्रह्महभिः
स०	ब्रह्मघ्नि, ब्रह्महणि	ब्रह्महसु

३—अच् अन्तवाले विशेषण शब्द (Adjectives in अच्)

६३—इन शब्दों का अर्थ[2] प्रायः "ओर" शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है। अच् अन्तवाले शब्दों का पंचस्थान में अञ्च्, पदस्थानों में अच् और भस्थानों में य् पहले होगा तो अच् को ईच् और व् पहले होगा तो अच् को ऊच् होगा।[3]

प्रत्यच्(पीछे की ओर, पश्चिम की ओर) पुं०, नपुं०[4]

पुंलिंग

प्र०, सं०	प्रत्यङ् (६१)	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	,,	प्रतीचः
तृ०	प्रतीचा	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भिः
स०	प्रतीचि	प्रतीचोः	प्रत्यक्षु(३०,६७)

नपुंसकलिंग

प्र०, द्वि०	प्रत्यक्	प्रतीची	प्रत्यञ्चि

---

१. यहाँ पर न् को ण् (६५) सम्भवतः इसलिए नहीं होता है, क्योंकि न् से पहले कवर्ग वर्ण घ् है।

२. ये शब्द वस्तुतः अञ्च् (झुकना) धातु से बने हुए समस्त पद हैं, किन्तु यह अञ्च् धातु प्रयोग में प्रत्यय का स्थान धारण किए हुए है।

३. यच् और वच् को सम्प्रसारण होने पर इच् और उच् होगा। यहाँ पर अनियमित रूप से जो दीर्घ ई या ऊ दिखाई पड़ता है, उसका कारण यह प्रतीत होता है कि यहाँ पर सम्प्रसारण अन्तरंग न होकर बहिरंग है और वह समास के संधिस्थल पर है। यदि सम्प्रसारण होकर स्वर ह्रस्व इ या उ होता तो ऐसा प्रतीत होत कि यह अलग अञ्च् धातु न होकर कोई च् प्रत्यय लगा है जैसे—प्रतिच्, अनुच् अतएव शब्द के अन्तिम स्वर को दीर्घ किया गया है।

४. स्त्री-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए देखो नियम (६५)।

(क) इसी प्रकार चलने वाले अन्य शब्द—

पंचस्थान	पदस्थान	भस्थान
न्यञ्च् (नीचे की ओर)	न्यक्	नीच्
सम्यञ्च् (ठीक)	सम्यक्	समीच्
तिर्यञ्च् (तिरछा)	तिर्यक्	तिरश्च्[1]
उदञ्च् (ऊपर की ओर)	उदक्	उदीच्[2]
अन्वञ्च् (पीछे की ओर)	अन्वक्	अनूच्
विष्वञ्च् (चारों ओर व्याप्त)	विष्वक्	विषूच्

(ख) पराच् (हटाया हुआ), प्राच् (आगे पूर्वी) और अवाच् (नीचे की ओर, दक्षिणी) शब्दों के दो अंग होते हैं। पंचस्थानों में क्रमशः पराञ्च्, प्राञ्च् और अवाञ्च् तथा पदस्थानों में पराच्, प्राच् और अवाच् होते हैं।

प्राच्—पुंलिंग

प्र०, सं०	प्राङ् (६१)	प्राञ्चः
द्वि०	प्राञ्चम्	प्राचः
तृ०	प्राचा	प्राग्भिः
स०	प्राचि	प्राक्षु

९४—परिवर्तनशील शब्दों के विषय में प्रारम्भिक छात्रों के लिए निम्नलिखित संकेत विशेष उपयोगी होंगे :—

१—अत् और अच् अन्तवाले शब्दों को छोड़कर शेष प्रत्ययान्त शब्दों के पुं० प्र०१ में स्वर को दीर्घ हो जाता है। जैसे—अग्निमत्—अग्निमान्, ज्ञानवत्—ज्ञानवान्, गरीयस्—गरीयान्, चक्रवस्—चक्रवान्, राजन्—राजा, ब्रह्मन्—ब्रह्मा, युवन्—युवा, धनिन्—धनी, वाग्मिन्—वाग्मी, मनस्विन्—मनस्वी। किन्तु अदत् का अदन् और प्रत्यच् का प्रत्यङ् बनेगा।

२—परिवर्तनशील शब्दों का पुं० प्र० १ में अन्त में नासिक्य वर्ण (पंचम

---

१. तिरस् (तुलना करो लेटिन—trans)+अच् (पार जाना, तिरछा जाना) से तिर्यञ्च् बनता है। इसका पुं० और नपुं० संज्ञा शब्द होने पर पशु अर्थ होता है।

२. यहां पर अ से पहले य् नहीं है, फिर भी सादृश्य के आधार पर ई हो जाती है।

वर्ण) रहेगा, किन्तु न् अन्तवाले (अन्, मन्, वन्, इन्, मिन्, विन्) शब्दों में अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाएगा और न् का लोप होगा।

३—सभी परिवर्तनशील शब्द जिनके पुं० प्र०१ में स्वर को दीर्घ होता है, उनके संबोधन एक० में ह्रस्व स्वर रहेगा और अन्तिम न् का लोप नहीं होगा। जैसे—अग्निमत्—सं० १ अग्निमन्। इसी प्रकार ज्ञानवन्, गरीयन्, चकृवन्, राजन्, ब्रह्मन्, युवन्, धनिन्, वाग्मिन्, मनस्विन्।

(क) परिवर्तनशील अन्य शब्दों में प्र०१ और सं०१ में केवल अन्तर यह रहता है कि सं०१ में प्रथम स्वर पर ही उदात्त स्वर रहेगा और प्र०१ में अन्तिम स्वर पर उदात्त रहता है। जैसे—अदन्—(सं०१),—अदन् (प्र०१), प्रत्यङ् (सं०१), प्रत्यङ् (प्र०१)।

९५—स्त्रीप्रत्ययान्त रूप बनाना (Formation of the Feminine stems) परिवर्तनशील शब्दों को स्त्रीप्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिए उनके अन्त में ई लगाया जाता है और इनके रूप नदी (१००) के तुल्य चलते हैं। दो अंग वाले शब्दों में अपंचस्थान वाले अंग में ई लगेगा तथा तीन अंग वाले शब्दों में भस्थानवाले अंग में ई लगेगा। जैसे—अदत्—अदती, अग्निमत्—अग्निमती, ज्ञानवत्—ज्ञानवती, धनिन्—धनिनी, वाग्मिन्—वाग्मिनी, मनस्विन्—मनस्विनी, गरीयस्—गरीयसी, चकृवस्—चक्रुषी, राजन्—राज्ञी (रानी), ०नामन्—०नाम्नी (नामवाली, विशेषण), श्वन्—शुनी (कुतिया), ०हन्—०घ्नी (मारनेवाली), प्रत्यच्—प्रतीची, प्राच्—प्राची।

(क) शतृ—(अत्)—प्रत्ययान्त शब्दों के स्त्रीलिंग शब्द इस प्रकार बनते हैं:—भ्वादिगण, दिवादि०, तुदादि०, चुरादि० (१२५) वाली धातुओं में पंचस्थानवाले पुं० के रूप अन्त् (१५६) में ई लगेगा, अर्थात् अत् का अन्ती रूप होगा। शेष गणों की धातुओं में केवल ई लगेगा, अर्थात् अत् का अती रूप होगा जैसे—भवत्—भवन्ती (होती हुई)[1], तुदत्—तुदन्ती[2] (दुःख देती हुई), दीव्यत्—दीव्यन्ती (खेलती हुई), चोरयत्—चोरयन्ती (चुराती हुई)।

---

१. किन्तु भवत् (आप) शब्द का स्त्रीलिंग में भवती बनेगा (८६ क)।

२. यदि धातु का अंग उदात्त अ से समाप्त होता है तो विकल्प से अती वाला भी रूप बनेगा और अन्तिम ई पर उदात्त स्वर रहेगा। जैसे—तुदत्—तुदती, भविष्यत्—भविष्यती भी रूप बनेगा।

किन्तु निम्नलिखित धातुओं में केवल अती लगेगा—जुह्वत्—जुह्वती (हवन करती हुई), युञ्जत्—युञ्जती (जोड़ती हुई), सुन्वत्—सुन्वन्ती (रस निचोड़ती हुई), कुर्वत्—कुर्वती (करती हुई), क्रीणत्—क्रीणती (खरीदती हुई)।

(ख) भविष्यत् स्य से शतृ-प्रत्ययान्त शब्दों का स्त्रीलिंग भी शतृ-प्रत्ययान्त के तुल्य ही बनता है। जैसे—भविष्यत्—भविष्यन्ती[1] (होनेवाली), करिष्यत्—करिष्यन्ती (करने-वाली)।

(ग) वन् अन्तवाले कुछ विशेषण शब्दों का स्त्रीलिंग शब्द ०वरी अन्त वाला रूप बनता है। जैसे—पीवन् (मोटा)—पीवरी (मोटी)। युवन्(युवक) (९१,४) के दो स्त्रीप्रत्ययान्त रूप बनते हैं—युवति, युवती।

परिवर्तनशील शब्दों के अपवाद संज्ञा शब्द
(Irregular Nouns with changeable stems)

९६—(१) **अप्** (स्त्री०, जल) शब्द सदा स्त्रीलिंग है। प्र० और सं० में अ को आ हो जाता है तथा भ् बाद में होने पर प् को त् (द्) होता है। प्र०३ आपः, द्वि०३ अपः, तृ० ३ अद्भिः, स० ३ अप्सु।

(२) **अनड्वह्** (पुं०, बैल, शब्दार्थ—अनस्+वह्, गाड़ी ढोनेवाला) के तीन अंग होते हैं:—(१) पंचस्थानों में अन्तिम स्वर को दीर्घ होने से अनड्वाह्, (२) पदस्थानों में अनडुत् (अनडुड् को असवर्ण करने से, नि०२७), (३) भस्थानों में सम्प्रसारण करने से व् को उ होकर अनडुह् होगा। प्रथमा और सम्बोधन अनियमित रूप से बनते हैं, अर्थात वत् अन्तवाले शब्दों के तुल्य रूप होंगे।

प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहः
सं०	अनड्वन्	,,
द्वि०	अनड्वाहम्	अनडुहः
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भिः
स०	अनडुहि	अनडुत्सु

(३) **पुमंस्**[2] (पुं०, आदमी) शब्द के तीन अंग होते हैं—पंचस्थानों में

१. दे० पादटिप्पणी संख्या २, पृ० ५२।

२. यह सम्भवतः पुं+मस् का प्राचीन समस्त रूप है। लेटिन में भी पुरुष अर्थ में मास् शब्द मिलता है। उसका ही समकक्ष मस् शब्द होगा।

पुमांस्, भस्थान में वर्ण-लोप होकर पुंस् और पदस्थान में पुम् (अन्तिम स् का लोप हो जाता है, नियम २८ और १६ क) :—

प्र०	पुमान् (नि० ८६, १)	पुमांसः
सं०	पुमन्	,,
द्वि०	पुमांसम्	पुंसः
तृ०	पुंसा	पुंभिः
स०	पुंसि	पुंसु

२—अजन्त शब्द (Stems ending in vowels)

९७—(अ) अकारान्त (पुं० और नपुं०) और आकारान्त[1] (स्त्री०) शब्दः—जैसे—कान्त[2] (प्रिय, कम् धातु का क्त-प्रत्ययान्त रूप)—

एकवचन

	पुंलिंग	नपुं०	स्त्री०
प्र०	कान्तः	कान्तम्	कान्ता
सं०	कान्त	कान्त	कान्ते[3]
द्वि०	कान्तम्	कान्तम्	कान्ताम्
तृ०	कान्तेन	कान्तेन	कान्तया[4]
च०	कान्ताय	कान्ताय	कान्तायै[5]
पं०	कान्तात्[6]	कान्तात्	कान्तायाः

---

१. यह अ ग्रीक अस्, अन् (-os, -on) लेटिन् अस् (-us) अम् (-um) का समकक्ष है। आ ग्रीक आ और लेटिन आ का समकक्ष है।

२. कुछ अः, आ, अम् अन्त वाले विशेषण शब्दों के रूप सर्वनाम शब्दों के तुल्य चलते हैं (११०)।

३. अम्बा (माता) का सं० अम्ब होता है।

४. ये सुप् (अन्तिम अंश) मूलरूप में सर्वनाम शब्दों के रूपों से आए हैं। (११०)

५. स्त्रीलिंग शब्दों के ये अन्त्य अवयव ईकारान्त (मूलरूप में या अन्त वाले) स्त्रीलिंग शब्दों के प्रभाव से आए हैं। जैसे—नद्यै, नद्याः, नद्याम् (नि० १००) के अनुकरण पर इन शब्दों में यै (या+ए), याः (या+अस्) और याम् लगे हैं।

६. अन्तिम अवयव आत् लेटिन और ग्रीक में भी प्राप्त होता है।

ष०	कान्तस्य	कान्तस्य	कान्तायाः
स०	कान्ते	कान्ते	कान्तायाम्

द्विवचन

	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०सं०द्वि०	कान्तौ	कान्ते	कान्ते
तृ०च०पं०	कान्ताभ्याम्	कान्ताभ्याम्	कान्ताभ्याम्
ष० स०	कान्तयोः	कान्तयोः	कान्तयोः

बहुवचन

प्र० सं०	कान्ताः	कान्तानि[1]	कान्ताः
द्वि०	कान्तान्[2]	कान्तानि	,,
तृ०	कान्तैः[3]	कान्तैः	कान्ताभिः
च० पं०	कान्तेभ्यः	कान्तेभ्यः	कान्ताभ्यः
ष०	कान्तानाम्	कान्तानाम्	कान्तानाम्
स०	कान्तेषु	कान्तेषु	कान्तासु

९८—(ख) इकारान्त और उकारान्त (पुं०, स्त्री०, नपुं०) शब्द :—

शुचि (पवित्र)　　　　एकवचन　　　　मृदु (कोमल)

	पुं०	स्त्री	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र०	शुचिः	शुचिः	शुचि	मृदुः	मृदुः	मृदु
सं०	शुचे	शुचे	शुचि	मृदो	मृदो	मृदु
द्वि०	शुचिम्	शुचिम्	शुचि	मृदुम्	मृदुम्	मृदु
तृ०	शुचिना	शुच्या	शुचिना	मृदुना	मृद्वा	मृदुना
च०	शुचये	शुच्यै[4]	शुचिने	मृदवे	मृद्वै	मृदुने

१. अन् अन्त वाले शब्दों के प्रभाव के कारण आनि और नाम् अन्त में लगते हैं। जैसे—नामन् का नामानि और आत्मन् का आत्मनाम्।

२. मूलरूप में यह अन्तिम अंश आंस् था (नि० ३६ आ पाद-टिप्पणी १)। गाथिक और ग्रीक में आंस् (-ans) ही मिलता है।

३. यह अन्तिम अवयव ऐः कुछ ग्रीक शब्दों की चतुर्थी में प्राप्त होता है।

४. देखो नियम ९७ पाद-टिप्पणी ५।

पं० ष०	शुचेः	शुच्याः	शुचिनः	मृदोः	मृद्वाः	मृदुनः
स०	शुचौ[1]	शुच्याम्	शुचिनि	मृदौ	मृद्वाम्	मृदुनि

द्विवचन

	पुंलिंग	स्त्री०	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र०सं०द्वि०	शुची	शुची	शुचिनी	मृदू	मृदू	मृदुनी
तृ०च०पं०	शुचिभ्याम्	शुचिभ्याम्	शुचिभ्याम्	मृदुभ्याम्	मृदुभ्याम्	मृदुभ्याम्
ष० सं०	शुच्योः	शुच्योः	शुचिनोः	मृद्वोः	मृद्वोः	मृदुनोः

बहुवचन

प्र० सं०	शुचयः	शुचयः	शुचीनि	मृदवः	मृदवः	मृदूनि
द्वि०	शुचीन्	शुचीः	,,	मृदून्	मृदूः	मृदूनि
तृ०	शुचिभिः	शुचिभिः	शुचिभिः	मृदुभिः	मृदुभिः	मृदुभिः
च० पं०	शुचिभ्यः	शुचिभ्यः	शुचिभ्यः	मृदुभ्यः	मृदुभ्यः	मृदुभ्यः
ष०	शुचीनाम्	शुचीनाम्	शुचीनाम्	मृदूनाम्	मृदूनाम्	मृदूनाम्
स०	शुचिषु	शुचिषु	शुचिषु	मृदुषु	मृदुषु	मृदुषु

(क) सभी नपुंसक विशेषण शब्दों(संज्ञा शब्द नहीं) के रूप(प्र० सं० द्वि० सभी वचन के अतिरिक्त) सर्वत्र पुंलिंग शब्दों के तुल्य भी चलते हैं तथा स्त्रीलिंग विशेषण और संज्ञा शब्दों के रूप च०, पं०, ष० और स० के एकवचन में पुंलिंग की तरह भी चलते हैं। जैसे—मति (बुद्धि, स्त्री०) के स०१ में मत्याम् और मतौ रूप होंगे, किन्तु वारि (नपुं० जल) का स०१ में वारिणि ही रूप बनेगा।

(ख) नपुंसक शब्दों का सं०१ में पुं० के तुल्य भी रूप बनता है। जैसे—वारि का वारि, वारे, मधु का मधु, मधो।

(ग) उ अन्तवाले स्त्रीलिंग विशेषण शब्दों के अन्त में ई लगाकर भी विशेषण शब्द बनते हैं। जैसे—तनु, तन्वी (स्त्री०, पतली), लघु, लघ्वी (स्त्री० हलकी) पृथु (स्त्री० चौड़ी), पृथ्वी (चौड़ी अर्थात् विशाल पृथ्वी)।

---

१. यह अन्तिम अवयव वस्तुतः उकारान्त शब्दों के उ के स्थान पर होने वाला वृद्धिस्वर भी है, नकि इ का औ है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उकारान्त शब्दों का प्रचलन अधिक था, इकारान्त शब्द भी प्रायः उकारान्त की तरह चलते थे, अतः उकारान्त के प्रभाव के कारण स०१ में औ अन्त में लगने लगा।

अपवाद-शब्द (Irregularities)

६६—(१) **पति** (पुं०, पति) शब्द एकवचन भस्थानों पर अनियमित है। जैसे—तृ०१ पत्या, च०१ पत्ये, पं० और ष०१ पत्युः[1], स०१ पत्यौ। जब इसका अर्थ स्वामी होता है या समास के अन्त में होता है तो इसके रूप नियमित रूप से (शुचि के तुल्य) चलते हैं। पति का स्त्री० शब्द पत्नी है।

(२) **सखि** (पुं०, मित्र) के कुछ अनियमित रूप बनते हैं। इसके अतिरिक्त पंचस्थानों पर वृद्धि वाला सखाय् अंग रहता है।

प्र०१	सखा	सखायौ	सखायः
सं०	सखे	"	"
द्वि०	सखायम्	सखायौ	सखीन्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः
च०	सख्ये	"	सखिभ्यः
पं०	सख्युः	"	"
ष०	"	सख्योः	सखीनाम्
स०	सख्यौ	"	सखिषु

पंचस्थान में सखाय् रहेगा तथा अपंचस्थान में सखि के रूप नियमितरूप से चलेंगे। सखि का स्त्रीलिंग शब्द सखी है। सखि शब्द समास का अन्तिम शब्द होगा तो उसे टच् (अ) प्रत्यय होकर—सख हो जाएगा।

(३) नपुंसकलिंग शब्द **अक्षि** (आँख), अस्थि (हड्डी), दधि (दही), सक्थि (जांघ) को भस्थान में इ के स्थान पर अन् हो जाता है। जैसे—अक्षि का अक्षन्, दधि का दधन्। इनके रूप नामन् के तुल्य चलेंगे।

प्र०, सं०, द्वि०	अक्षि	अक्षिणी	अक्षीणि
तृ०	अक्ष्णा	अक्षिभ्याम्	अक्षिभिः
ष०	अक्ष्णः	अक्ष्णोः	अक्ष्णाम्

(४) **द्यु** (स्त्री०, आकाश) (मूलरूप में यह दिउ Diu था जो कि द्यो Dyo का भस्थान का रूप था, १०२ क) हलादि (व्यंजन से प्रारम्भ होनेवाले) सुप् बाद में होने पर द्यु रूप रहता है। प्र०, सं० के एकवचन में वृद्धि होकर

[1] यह अन्तिम अवयव सम्भवतः सम्बन्धवाचक पितृ आदि शब्दों के पं० और षष्ठी एक० के प्रभाव के कारण है (नि० १०१)। जैसे—पितृ का पितुः है।

द्यौः रूप होता है। अजादि (स्वर से प्रारम्भ होनेवाले) सुप् बाद में होने पर दिव् रूप रहता है।

द्यु शब्द

	एक०	बहु०
प्र०	द्यौः	दिवः
सं०	द्यौः[1]	दिवः
द्वि०	दिवम्	दिवः
तृ०	दिवा	द्युभिः
च०	दिवे	द्युभ्यः
पं०	दिवः	,,
ष०	,,	दिवाम्
स०	दिवि	द्युषु

१००. (इ) **ईकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्द।** ये शब्द एकाच् (एक स्वर वाले) या अनेकाच् (अनेक स्वर वाले) हैं, तदनुसार इनके रूपों में अन्तर होता है :—

(१) यदि ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द एकाच् हैं तो अजादि विभक्ति बाद में होने पर उन्हें क्रमशः इय् और उव् होंगे। यदि शब्द अनेकाच् होंगे तो उनके ई को य् और ऊ को व् होंगे।

(२) एकाच् शब्दों में सुप् विभक्तियाँ सामान्य रूप से सर्वत्र लगेंगी (७१)। इनके स्त्रीलिंग में ऐ, आः और आम्[2] अन्तवाले रूप भी बनते हैं। अनेकाच् शब्दों में ऐ, आः और आम् वाले रूप नियमितरूप से लगते हैं।

(३) एकाच् शब्दों के प्र० और सं०१ में स् (:) वाले रूप बनते हैं। अनेकाच् शब्दों में सं०१ में ई को इ और ऊ को उ हो जाता है।

---

१. संस्कृत में प्र० और सं०१ में वही रूप रहता है, केवल स्वर में अन्तर होता है। ग्रीक में सं० १ का स्वतन्त्र रूप बनता है।

२. ये विभक्ति-चिह्न अनेकाच् ईकारान्त (मूलरूप में या अन्त वाले) शब्दों से प्रारम्भ हुए। इनके अन्त में विभक्ति-चिह्न ए, अः आदि लगे। जैसे—या+ए=यै, या+अः=याः, या+अम्=याम्। स०१ में अम् का उद्गम अज्ञात है।

(४) अनेकाच् शब्दों में प्र०१ में ई के बाद स् (:) नहीं रहता है, केवल लक्ष्माः (लक्ष्मी), तन्त्रीः (वीणा) और तन्द्रीः (सुस्त) में विसर्ग रहता है। तन्द्री में स् लोप भी होता है।

(५) अनेकाच् शब्दों के द्वि०१ में ईम् और ऊम् रहता है तथा द्वि०३ में ईः और ऊः।

	धी (बुद्धि) स्त्री०			भू (पृथ्वी) स्त्री०		
प्र०	धीः	धियौ	धियः	भूः	भुवौ	भुवः
सं०	,,	,,	,,	,,	,,	,,
द्वि०	धियम्	,,	,,	भुवम्	,,	,,
तृ०	धिया	धीभ्याम्	धीभिः	भुवा	भूभ्याम्	भूभिः
च०	धिये	,,	धीभ्यः	भुवे	,,	भूभ्यः
पं०	धियः	,,	,,	भुवः	,,	,,
ष०	,,	धियोः	धियाम्	,,	भुवोः	भुवाम्
स०	धियि	,,	धीषु	भुवि	,,	भूषु

	नदी (नदी) स्त्री०			वधू (वहू) स्त्री०		
प्र०	नदी	नद्यौ	नद्यः	वधूः	वध्वौ	वध्वः
सं०	नदि	,,	,,	वधु	,,	,,
द्वि०	नदीम्	,,	नदीः	वधूम्	,,	वधूः
तृ०	नद्या	नदीभ्याम्	नदीभिः	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः
च०	नद्यै	,,	नदीभ्यः	वध्वै[1]	,,	वधूभ्यः
पं०	नद्याः	,,	,,	वध्वाः[1]	,,	,,
ष०	,,	नद्योः	नदीनाम्	,,	वध्वोः	वधूनाम्
स०	नद्याम्	,,	नदीषु	वध्वाम्[1]	,,	वधूषु

(क) **स्त्री** (स्त्री०, औरत) शब्द यद्यपि एकाच् है, फिर भी अधिकांश रूप में ईकारान्त अनेकाच् शब्दों की विशेषताएँ इसमें रहती हैं (१००,

१ स्त्री० के विशेष विभक्ति-चिह्न ऐ, आः और आम् यहाँ पर अनेकाच् ईकारान्त शब्दों के प्रभाव के कारण ही हैं, जैसा कि आकारान्त शब्दों के रूपों में होते हैं (नि० ९७)।

२-५)। इसमें स्त्री० वाले विशेष विभक्ति-चिह्न लगते हैं। सं०१ में ई को ह्रस्व इ होती है, प्र० १ में स् (:) नहीं रहता है तथा द्वि०१ में ईम् और द्वि०३ में ई: वाले रूप भी विकल्प से होते हैं। यह शब्द मूलरूप में वस्तुतः दो अच् वाला था।

प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः
सं०	स्त्रि	,,	,,
द्वि०	स्त्रियम्, स्त्रीम्	,,	स्त्रियः स्त्रीः
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः
च०	स्त्रियै	,,	स्त्रीभ्यः
पं०	स्त्रियाः	,,	,,
ष०	,,	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
स०	स्त्रियाम्	,,	स्त्रीषु

१०१. (ई) **ऋकारान्त (पुं० और स्त्री०) शब्द**। मूलरूप में ये शब्द अर् अन्तवाले हलन्त शब्द थे। इनके रूप प्रायः अन् अन्तवाले (९०) शब्दों के तुल्य चलते हैं। ये शब्द अधिकांशतः तृ-प्रत्ययान्त (अर्थात् तर् प्रत्ययान्त, ग्रीक-तर् लेटिन-tor) हैं। पंचस्थान में तृ को तर् या तार् होता है, पदस्थान में तृ और भस्थान में त्र्। पुं० और स्त्री० के शब्द रूपों में केवल द्वि० ३ में ही अन्तर होता है।

सम्बन्धवाचक शब्दों में पंचस्थान में गुणवाला रूप (अर्) रहता है तथा अन्य तृ-अन्तवाले शब्दों में वृद्धिवाला रूप (आर्) रहता है। ष०१ में उः, स०१ में अरि, सं०१ में अः, पुं० द्वि०३ में ॠन् और स्त्री०, द्वि०३ में ॠः, ष०३ में ॠणाम् होता है।

दातृ (देनेवाला) पुं०

प्र०	दाता	दातारौ	दातारः
सं०	दातः	,,	,,
द्वि०	दातारम्	,,	दातॄन्

तृ०	दात्रा	दातृभ्याम्	दातृभिः
च०	दात्रे	,,	दातृभ्यः
पं०	दातुः	,,	,,
ष०	,,	दात्रोः	दातॄणाम्
स०	दातरि	,,	दातृषु

	पितृ (पिता) **पुंलिंग**			**मातृ** (माता) **स्त्री०**		
प्र०	पिता	पितरौ	पितरः	माता	मातरौ	मातरः
सं०	पितः	,,	,,	मातः	,,	,,
द्वि०	पितरम्	,,	पितॄन्	मातरम्	,,	मातॄः
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः	मात्रा	मातृभ्याम्	मातृभिः
च०	पित्रे	,,	पितृभ्यः	मात्रे	,,	मातृभ्यः
पं०	पितुः	,,	,,	मातुः	,,	,,
ष०	,,	पित्रोः	पितॄणाम्	,,	मात्रोः	मातॄणाम्
स०	पितरि	,,	पितृषु	मातरि	,,	मातृषु

(क) **नप्तृ** (पुं०, नाती), **भर्तृ** (पुं०, पति) और **स्वसृ** (स्त्री०, बहिन) शब्द यद्यपि सम्बन्धवाचक हैं, तथापि इनके रूप पंचस्थान में दातृ के तुल्य चलेंगे और इनमें वृद्धिवाला आर् रूप लगेगा। जैसे—नप्तृ—द्वि०१ नप्तारम्, भर्तृ—द्वि०१ भर्तारम्,—स्वसृ—द्वि०१ स्वसारम्। द्वि०३ में स्वसॄः बनता है।

(ख) **नृ** (पुं०, मनुष्य) शब्द का पंचस्थान में गुणवाला रूप नर् होता है। ष०३ में दो रूप होते हैं—नृणाम्, नॄणाम्। संस्कृत साहित्य में इसके तृ०, च०, पं०, ष० एकवचन के रूप प्राप्त नहीं होते हैं (ऋग्वेद में च० १ नरे और ष० १ नरः रूप मिलते हैं)। जैसे—प्र०१ ना, प्र०३ नरः, द्वि०१ नरम्, द्वि०३ नॄन्, तृ० १ न्रा, तृ०३ नृभिः, स०१ नरि, स०३ नृषु।

(ग) **क्रोष्टृ** (पुं०, गीदड़, शब्दार्थ—चिल्लानेवाला) शब्द को पदस्थान में क्रोष्टु हो जाता है। जैसे—प्र०३ क्रोष्टारः, तृ०३ क्रोष्टुभिः।

(घ) तृ—अन्तवाले शब्दों के रूप नपुंसक लिंग में शुचि के तुल्य चलते हैं। जैसे—प्र० धातृ, धातृणी, धातॄणि, तृ०१ धातृणा, तृ०३ धातृभिः।

(ङ) तृ—प्रत्ययान्त के रूप स्त्री० में अन्त में ई लगाकर बनाए जाते हैं।

जैसे—दातृ—स्त्री० दात्री (देनेवाली)। इनके रूप नदी के तुल्य चलते हैं।

(उ) एजन्त (ऐ, ओ, औ अन्तवाले) शब्द

१०२—निम्नलिखित एजन्त शब्द ही प्राप्त होते हैं—रै (पुं०, धन), गो (पुं० बैल, स्त्री० गाय), द्यो (स्त्री०, आकाश) और नौ (स्त्री० नाव)। स्वर बाद में होने पर रै के ऐ को आय् होता है तथा व्यंजन बाद में होने पर ऐ को आ हो जाता है। गो शब्द को पंचस्थान में वृद्धि होकर गौ हो जाता है तथा द्वि०१ और द्वि०३ में औ को आ होता है। पं०१ और ष०१ में पूर्वरूप होकर गोः (अवः को ओः) रूप बनता है।

ये शब्द अजन्त और हलन्त शब्दों की मध्यगत अवस्था को प्रकट करते हैं। हलन्त शब्दों से इनकी समानता यह है कि इनके अन्त में सुप् प्रत्यय सामान्यरूप से लगते हैं और अजन्त शब्दों से समानता यह है कि प्र०१ में अन्त में स् (:) लगता है और पदस्थान में इन शब्दों के अन्त में स्वर रहता है।

रै (धन)

प्र०	राः	रायौ	रायः	च०	राये	राभ्याम्	राभ्यः
सं०	,,	,,	,,	पं०	रायः	,,	,,
द्वि०	रायम्	,,	,,	ष०	,,	रायोः	रायाम्
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः	स०	रायि	,,	रासु

	गो (पुं०, बैल, स्त्री०, गाय)			नौ, (स्त्री० नाव)		
प्र०	गौः	गावौ	गावः	नौः	नावौ	नावः
सं०	,,	,,	,,	,,	,,	,,
द्वि०	गाम्	,,	गाः	नावम्	,,	नावः
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः	नावा	नौभ्याम्	नौभिः
च०	गवे	,,	गोभ्यः	नावे	,,	नौभ्यः
पं०	गोः	,,	,,	नावः	,,	,,
ष०	गोः	गवोः	गवाम्	नावः	नावोः	नावाम्
स०	गवि	,,	गोषु	नावि	,,	नौषु

(क) **द्यो** (आकाश) के रूप गो शब्द के तुल्य चलते हैं। प्र० १में द्यु (९९; ४) के तुल्य द्यौः रूप बनेगा। द्विवचन और बहुवचन में केवल पंचस्थान के

रूप ही प्राप्त होते हैं। जैसे— प्र० द्यौः, द्यावौ, द्यावः। द्वि० द्याम्, द्यावौ। च० १—द्यवे। पं०, ष०१—द्योः। स०१—द्यवि।

तुलनार्थक प्रत्यय (Degrees of Comparison)

१०३. (१) विशेषण शब्दों (तथा संज्ञा शब्दों) से दो की तुलना में तद्धित प्रत्यय **तर** और बहुतों की तुलना में **तम** प्रत्यय लगते हैं। ये प्रत्यय पदस्थान या भस्थानवाले अंग में लगते हैं। जैसे—शुचि—शुचितर, शुचितम। प्राच्—प्राक्तर, प्राक्तम। धनिन्—धनितर, धनितम। विद्वस्—विद्वत्तर, विद्वत्तम। प्रत्यच्, प्रत्यक्तर, प्रत्यक्तम।

(क) तर और तम का स्त्रीलिंग आ लगाकर बनता है, किन्तु जब तम-प्रत्ययान्त शब्द संख्येय शब्द होगा तो उसका स्त्रीलिंग ई लगाकर (१०७) बनेगा।

(२) **तुलनार्थक तद्धित प्रत्यय ईयस्** (दो की तुलना में) और **इष्ठ** (बहुतों की तुलना में) मूल शब्द से लगते हैं और इनको प्रायः गुण होता है और इन पर उदात्त स्वर होता है। ईयस् और इष्ठ प्रत्यय लगने पर शब्द के अन्तिम स्वर का लोप होकर एकाच् शब्द हो जाता है। जैसे—अणु (सूक्ष्म) का अण् होकर अणीयस्, अणिष्ठ। गुरु[1] (भारी) (गर्)—गरीयस्, गरिष्ठ। लघु (हलका) लघ्—लघीयस्, लघिष्ठ। दूर (दूर) (दव्)—दवीयस्, दविष्ठ। वर (अच्छा) (वर्)—वरीयस् (अधिक अच्छा), वरिष्ठ (उत्तम)। क्षुद्र (नीच) (क्षोद्)—क्षोदीयस्। युवन् (युवा, आयु में छोटा) (यव्)—यवीयस्। ह्रस्व (छोटा) (ह्रस्)—ह्रसीयस्। कुछ अनियमित रूप ये हैं :—दीर्घ (लम्बा) (द्राघ्)—द्राघीयस्। बहुल (अधिक) (बंह्)—बंहीयस्।

(क) कुछ शब्दों के साथ ईयस् के स्थान पर यस् ही लगाया जाता है। जैसे—ज्या—ज्यायस् (प्रशस्यतर), ज्येष्ठ (प्रशस्यतम)। भू (बहुत)—भूयस् (अपेक्षाकृत अधिक), भूयिष्ठ (बहुत अधिक)। प्री (प्रिय)—प्रेयस् (प्रियतर), प्रेष्ठ (प्रियतम)। श्र (अच्छा)—श्रेयस् (अपेक्षाकृत अच्छा), श्रेष्ठ (उत्तम)। स्थिर (दृढ) (स्थ)—स्थेयस् (दृढतर)।

---

१. मूल शब्द गरु था। ग्रीक और लेटिन में भी ऐसा ही है। समीकरण से गुरु होता है।

(ख) ईयस् और इष्ठ प्रत्यय करने पर कुछ शब्दों के रूपों में अन्तर हो जाता है। जैसे—अन्तिक (समीप) को नेद्—नेदीयस्, नेदिष्ठ (अत्यन्त समीप) अल्प (थोड़ा) को कन्—कनीयस् (कुछ कम), कनिष्ठ (बहुत कम)। वृद्ध (वृद्ध) को वर्ष्—वर्षीयस् (अधिक वृद्ध), वर्षिष्ठ (सबसे अधिक वृद्ध)।

संख्या-वाचक शब्द (Numerals)

संख्याएँ (Cardinals)

१. एक
२. द्व[1]
३. त्रि (लेटिन—tri)
४. चतुर् (quatuor)
५. पञ्च
६. षष् (sex)
७. सप्त
८. अष्ट
९. नव (Novem)
१०. दश
११. एकादश
१२. द्वादश[2]
१३. त्रयोदश[3]
१४. चतुर्दश
१५. पञ्चदश
१६. षोडश[4]
१७. सप्तदश
१८. अष्टादश
१९. नवदश, ऊनविंशति
२०. विंशति
२१. एकविंशति
२२. द्वाविंशति
२३. त्रयोविंशति
२८. अष्टाविंशति
२९. नवविंशति, ऊनत्रिंशत्
३०. त्रिंशत्
३९. नवत्रिंशत्, ऊनचत्वारिंशत्
४०. चत्वारिंशत्[5]

---

१. समास में प्रथम पद में यह द्वि शब्द रहता है।
२. यहाँ पर द्वा पुराना द्विवचन का रूप है। द्वादश—दो और दस।
३. त्रि का प्रथमा बहु० त्रय: (१०५, ४५, २) के स्थान पर त्रयो है।
४. षष्+दश का षज्+दश होकर षोडश रूप बनता है (देखो ६९ ख, पादटिप्पणी २)।
५. चत्वारि (१०५) का चत्वारिं रूप है, जैसे—त्रि से त्रिं-शत्।

४९. नवचत्वारिंशत्, ऊनपञ्चाशत्
५०. पञ्चाशत्
६०. षष्टि
७०. सप्तति
८०. अशीति
८२. द्व्यशीति
९०. नवति
९६. षण्णवति
१००. शतम्
१०१. एकशतम्, एकाधिकं शतम्
१०२. द्विशतम्, द्व्यधिकं शतम्
१०३. त्रिशतम्, त्र्यधिकं शतम्
११०. दशशतम्, दशाधिकं शतम्
२००. द्वे शते, द्विशतम्
३००. त्रीणि शतानि, त्रिशतम्
१०००. दश शतानि, सहस्रम्
१००,००० लक्ष (lakh)
१,०००,००० नियुतम्
१०,०००,००० कोटि (crore)

(क) ऊपर २० से १०० तक जो संख्याएँ नहीं दीगयी हैं, उनके लिए निम्नलिखित बातें ध्यान रखें—(१) २० (विंशति), और ३० (त्रिंशत्) से पहले द्वि को द्वा, त्रि को त्रयः और अष्ट को अष्टा होता है। जैसे—द्वात्रिंशत् (३२), त्रयस्त्रिंशत् (३३), अष्टात्रिंशत् (३८), (२) ८० (अशीति) से पहले २, ३, ८ के लिए क्रमशः द्वि, त्रि, अष्ट रहेंगे। (३) ४०, ५०, ६०, ७० और ९० से पहले ये दोनों रूप रहेंगे, अर्थात्—द्वा—द्वि, त्रयः—त्रि और अष्टा—अष्ट।

(ख) १९, २९ आदि के लिए एक अन्य रूप प्राचीन क्त-प्रत्ययान्त ऊन (न्यून) शब्द लगाकर भी बनता है। जैसे—१९ के लिए ऊनविंशति (अर्थात् एक कम वीस)। अन्य संख्याओं से पहले भी ऊन शब्द लगाकर इस प्रकार के अन्य शब्द बनाए जा सकते हैं। जैसे—त्र्यूनत्रिंशत् (तीन कम तीस, अर्थात् २७)।

(ग) इसीप्रकार १०१, १०२, आदि के लिए 'अधिक' विशेषण लगाकर अन्य शब्द बनाए जाते हैं। जैसे—द्व्यधिकं शतम् (दो अधिक सौ, अर्थात् १०२)।

(घ) द्विशतम्, त्रिशतम् आदि के दो अर्थ हैं—(१) १०२ और २००, (२) १०३ और ३००। इनका यह अन्तर स्वर के आधार पर जाना जा सकता

है। यदि शतम् के श पर उदात्त-स्वर होगा तो इनका अर्थ होगा—१०२, १०३ आदि। यदि शतम् के त पर उदात्त स्वर होगा तो इनका अर्थ होगा—२००, ३०० आदि।

संख्या-शब्दों के रूप (Declension of Cardinals)

१०५. केवल प्रथम चार संख्या-शब्दों के रूप तीनों लिंगों में चलते हैं।

(१) एक शब्द के रूप तीनों लिंगों में सर्वनाम विशेषणशब्दों के अनुकरण पर सर्व (१२० ख) के तुल्य तीनों लिंगों में चलेंगे। जैसे—पुं०—एकः, स्त्री०—एका, नपुं०—एकम्।

(२) द्व (दो) के रूप कान्त शब्द के द्विवचन के तुल्य चलेंगे। प्र०, द्वि०—पुं० द्वौ, स्त्री० द्वे, नपुं० द्वे; तृ०, च०, पं०—द्वाभ्याम्; ष०, स०—द्वयोः।

(३) त्रि (तीन) के रूप पुं० और नपुं० में शुचि के बहु० के तुल्य चलते हैं, केवल षष्ठी बहु० में त्रयाणाम् बनता है, जो कि त्रय शब्द से बना हुआ है। (ऋग्वेद में त्रि शब्द का ष०३ का नियमित रूप त्रीणाम् मिलता है)। स्त्रीलिंग में त्रि के स्थान पर तिसृ शब्द के रूप चलते हैं। साधारण ऋकारान्त शब्दों से प्र०, द्वि०, और ष० में अन्तर होता है।

(४) चतुर् (चार) शब्द पुं० और नपुं० में सर्वनामस्थान में चत्वार् शब्द रहता है (तु० करो—लेटिन—quatuor) यद्यपि यह शब्द हलन्त है, तथापि ष० ३ में विभक्ति से पहले न् जुड़ जाता है। जैसे—षष् को (षण्णाम् में)। इसको स्त्रीलिंग में चतसृ हो जाता है और इसके रूप तिसृ के तुल्य चलते हैं।

	त्रि शब्द			चतुर् शब्द		
	पुं०	नपुं०	स्त्री०	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०, सं०	त्रयः	त्रीणि	तिस्रः	चत्वारः	चत्वारि	चतस्रः
द्वि०	त्रीन्	त्रीणि	तिस्रः	चतुरः	चत्वारि	चतस्रः
तृ०	त्रिभिः	त्रिभिः	तिसृभिः	चतुर्भिः	चतुर्भिः	चतसृभिः
च०, पं०,	त्रिभ्यः	त्रिभ्यः	तिसृभ्यः	चतुर्भ्यः	चतुर्भ्यः	चतसृभ्यः
ष०	त्रयाणाम्	त्रयाणाम्,	तिसृणाम् (नि० १०१ख)	चतुर्णाम्	चतुर्णाम्	चतसृणाम्
स०	त्रिषु	त्रिषु	तिसृषु	चतुर्षु	चतुर्षु	चतसृषु

१०६—(क) षष् (छः) के रूप—प्र०, द्वि० षट् (२७), तृ० षड्भिः, च० पं० षड्भ्यः, ष० षण्णाम्, स० षट्सु ।

(ख) पञ्च (पाँच) शब्द के रूप अन् अन्तवाले नपुंसकलिंग शब्द (६०, २) के तुल्य चलते हैं, केवल षष्ठी में कान्त के तुल्य रूप होगा । प्र०, द्वि० पञ्च, तृ० पञ्चभिः, च० पं० पञ्चभ्यः, ष० पञ्चानाम्, स० पञ्चसु ।

सप्त (सात) से दश (दस) तक के रूप पञ्च के तुल्य ही चलते हैं । अष्ट निम्नलिखित अन्य (प्राचीन) रूप भी मिलते हैं—प्र० द्वि० अष्टौ, तृ० अष्टाभिः, च० पं० अष्टाभ्यः, स० अष्टासु ।[1]

(ग) ३ से १९ तक के संख्या-शब्दों का बहुवचनान्त विशेषण के रूप में प्रयोग होता है। इनके वचन और विभक्ति विशेष्य के तुल्य होंगे । (३ और ४ संख्याशब्दों में लिंग की एकरूपता भी होती है) । २० से ९९ तक संख्याशब्द स्त्रीलिंग हैं । ये तथा शतम् और सहस्रम् शब्द एकवचन में ही प्रयुक्त होते हैं । इनका विशेष्य शब्द उसी विभक्ति में होता है या षष्ठी विभक्ति में । जैसे—शतेन दासीभिः या शतेन दासीनाम् ।(सौ दासियों ने या सौ दासियों के साथ)

संख्येय शब्द (ordinals)

१०७. 'प्रथम' से 'दशम' तक संख्येय शब्द विभिन्न प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं:—थ (मूलरूप में त), म, य, ईय, अथवा प्रथम को द्वितीय और चतुर्थ के साथ मिलाकर। जैसे—थम=थ+म, तीय=त+ईय। 'एकादश' से 'नवदश' तक संख्येय शब्द संख्या-वाचक शब्दों के तुल्य ही होते हैं, अन्तर केवल इतना होता है कि ये अकारान्त शब्द हो जाते हैं और इनके रूप कान्त शब्द के तुल्य चलते हैं तथा इनके स्वर में अन्तर होता है । 'विंश' या 'विंशतितम' (२० वाँ) से लेकर आगे के संख्येय शब्द या तो संख्या-शब्दों के संक्षिप्त रूप हो जाते हैं या उनके अन्त में तम प्रत्यय लग जाता है । जैसे—विंशति का

---

1. अष्टौ और अष्टा (लेटिन—octo, गाथिक—ahtau) प्राचीन द्विवचन के रूप हैं । इनका सम्भवतः अर्थ था—दो चौकड़ी (सम्भवतः दोनों हाथों की चार-चार अंगुलियों को लक्ष्य करके यह प्रयोग है) ।

विंश या विंशतितम। प्रथम से तुरीय (४ र्थ) तक शब्दों को छोड़कर शेष शब्दों के स्त्रीलिंग शब्द ई प्रत्यय लगाकर बनते हैं। प्रथम आदि के आ प्रत्यय लगाकर। जैसे—प्रथम से प्रथमा, पञ्चम से पञ्चमी।

१ म—प्रथमः, स्त्री० प्रथमा
२ य—द्वितीयः, स्त्री० द्वितीया
(प्राचीन द्वित शब्द से ईय)
३ य—तृतीयः, स्त्री० तृतीया
(लेटिन—ter-tius)
४ र्थ—चतुर्थः, स्त्री० चतुर्थी
(ले०—quar-tus),
तुरीयः, स्त्री० तुरीया
(क्तुरीय के स्थान पर),
तुर्यः, स्त्री० तुर्या
(क्तुर्य के स्थान पर)
५ म—पञ्चमः, स्त्री० पञ्चमी
६ ष्ठ—षष्ठः, (ले० sex-tus)
७ म—सप्तमः, (ले० Septimus)
८ म—अष्टमः
९ म—नवमः
१० म—दशमः, (ले० Decimus)

११ वाँ—एकादशः
१९ वाँ—नवदशः
ऊनविंशः
२० वाँ—विंशः, विंशतितमः
३० वाँ—त्रिंशः, त्रिंशत्तमः
४० वाँ—चत्वारिंशः, चत्वारिंशत्तमः
५० वाँ—पञ्चाशः, पञ्चाशत्तमः
६० वाँ—षष्टः, षष्टितमः
६१ वाँ—एकषष्टः, एकषष्टितमः
७० वाँ—सप्ततः, सप्ततितमः
७१ वाँ—एकसप्ततः, एकसप्ततितमः
८० वाँ—अशीतः, अशीतितमः
८१ वाँ—एकाशीतः, एकाशीतितमः
९० वाँ—नवतः, नवतितमः
९१ वाँ—एकनवतः, एकनवतितमः
१०० वाँ—शततमः

संख्यावाचक क्रियाविशेषण तथा उनके अन्य रूप
(Numeral Adverbs and other Derivatives)

१०८.—(क) **'बार' अर्थवाले क्रियाविशेषण (Multiplicative Adverbs)**—सकृत् (एक बार, शब्दार्थ—एक बार करना), द्विः (दो बार) (ले०—bi-s), त्रिः (तीन बार ले०—tri-s), चतुः (चार बार, चतुर् + स् के स्थान पर), पञ्चकृत्वः (पांच बार, शब्दार्थ—पांच वार करना), षट् कृत्वः (छः बार), इत्यादि।

(ख) **'प्रकार' अर्थ वाले क्रियाविशेषण (Adverbs of manner)** एकधा (एक प्रकार से), द्विधा या द्वेधा (दो प्रकार से), त्रेधा (तीन प्रकार से), चतुर्धा (चार प्रकार से), पञ्चधा (पांच प्रकार से), षोढा (छः प्रकार से), (देखो नि० १०४ पादटिप्पणी ३), सप्तधा (सात प्रकार से), अष्टधा (आठ प्रकार से), इत्यादि।

(ग) **विभाजक क्रियाविशेषण (Distributive Adverbs)**—एकशः (एक एक करके), द्विशः (दो दो करके), त्रिशः। (तीन तीन करके), पञ्चशः (पाँच पाँच करके), इत्यादि।

(घ) **समूहार्थक संज्ञाशब्द (Aggregative nouns)**—द्वय—विशेषण (दुहरा), द्वयम् (दोनों, जोड़ा); त्रय-त्रयी—विशेषण (तिहरा), त्रयम्-त्रयी—त्रितयम् (तीनों); चतुष्टय विशेषण—(चौहरा), चतुष्टयम् (चारों); पञ्चतय-विशे० (पंचहरा); अष्टतय—विशे० (अठहरा), अष्टतयम् (आठों); दशतय—विशे० (दसहरा, दसगुना), दशतयम् (दसों, दशक), इत्यादि।

सर्वनाम शब्द (Pronouns)

१०९. (अ) व्यक्तिवाचक सर्वनाम (Personal Pronouns)

अस्मद् शब्द

(समास में एक० में **मद्** और **बहु०** में अस्मद्)

अहम् (मैं)	आवाम् (हम दोनों)	वयम्[1] (हम सब)	प्र०
माम् (मुझ को)	आवाम् (हम दोनों को)	अस्मान् (हम सब को)	द्वि०
मया (मैंने)	आवाभ्याम् (हम दोनों ने)	अस्माभिः (हम सब ने)	तृ०
मह्यम् (मुझे)	आवाभ्याम् (हम दोनों को)	अस्मभ्यम् (हमें)	च०
मद् (मुझसे)	आवाभ्याम् (हम दोनों से)	अस्मद् (हमसे)	पं०
मम (मेरा)	आवयोः (हम दोनों का)	अस्माकम्[2] (हमारा)	ष०

१. वयम् के प्रभाव के कारण मूल यूपम् का परिवर्तित रूप यूयम् है।

२. अस्माकम् और युष्माकम् ये वस्तुतः षष्ठी बहु० के रूप नहीं हैं, अपितु सम्बन्धबोधक विशेषण अस्माक (हमारा) और युष्माक (तुम्हारा) के नपुं० एक० के रूप हैं। इनका ही षष्ठी बहु० के रूप में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार जर्मन भाषा में सम्बन्धबोधक सर्वनाम Mein (मेरा), Dein (तेरा), Sein (उसका) का व्यक्तिवाचक सर्वनाम के षष्ठी के रूप में प्रयोग होने लगा।

मयि (मुझ में)	आवयोः (हम दोनों में)	अस्मासु (हममें)	स०

युष्मद् शब्द

(समास में एक० में त्वद् और बहु० में युष्मद्)

त्वम् (तू)	युवाम् (तुम दोनों)	यूयम्[1] (तुम सब)	प्र०
त्वाम् (तुझ को)	युवाम् (तुम दोनों को)	युष्मान् (तुम सबको)	द्वि०
त्वया (तूने)	युवाभ्याम् (तुम दोनों ने)	युष्माभिः (तुम सबने)	तृ०
तुभ्यम् (तुझे)	युवाभ्याम् (तुम दोनों को)	युष्मभ्यम् (तुम्हें)	च०
त्वद् (तुझ से)	युवाभ्याम् (तुम दोनों से)	युष्मद् (तुम से)	पं०
तव (तेरा)	युवयोः (तुम दोनों का)	युष्माकम्[2] (तुम्हारा)	ष०
त्वयि(तुझ में)	युवयोः (तुम दोनों में)	युष्मासु (तुम में)	स०

(क) इन शब्दों के निम्नलिखित अनुदात्त रूप भी प्रयुक्त होते हैं। इनका वाक्य के प्रारम्भ में प्रयोग निषिद्ध है। द्वि० एक० मा, (मुझको), त्वा (तुझ को); च० ष० एक० मे (मुझे, मेरा), ते (तुझे, तेरा); द्वि० च० ष० द्विवचन —नौ (हम दोनों को, हम दोनों का), वाम् (तुम दोनों को, तुम दोनों का); द्वि० च० ष० बहु० नः (हमें, हमारा), (लेटिन—nos), वः (तुम्हें, तुम्हारा) (लेटिन—vos)।

(आ) संकेतात्मक सर्वनाम (Demonstrative Pronouns)

११०. तद् (त) शब्द (वह) (समास में तद्)। सर्वनाम शब्दों के रूप चलाने के लिए इसे आदर्श शब्द के रूप में लिया जा सकता है।

	तद्—पुं०			नपुं०			स्त्री०		
प्र०	सः[2]	तौ	ते	तद्	ते	तानि	सा	ते	ताः
द्वि०	तम्	,,	तान्	,,	,,	,,	ताम्	,,	,,
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः	तेन	ताभ्याम्	तैः	तया	ताभ्याम्	ताभिः
च०	तस्मै	,,	तेभ्यः	तस्मै	,,	तेभ्यः	तस्यै	,,	ताभ्यः
पं०	तस्मात्	,,	,,	तस्मात्	,,	,,	तस्याः	,,	,,
ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्[3]	तस्य	तयोः	तेषाम्	,,	तयोः	तासाम्[4]

१. देखो पृष्ठ ६९ पर पादटिप्पणी संख्या १।

२. देखो नि० ४८। सः, सा, तद्=गाथिक—sa, so, that-a, इंग्लिश्—that, लेटिन—is-tud।

३. लेटिन—is-torum.

४. लेटिन—is-tārum

स०	तस्मिन्	तयोः	तेषु	तस्मिन्	तयोः	तेषु	तस्याम्	तयोः	तासु

(क) त (वह) का ही एक समस्त शब्द एत (यह) है। इसके सारे रूप पूर्णतया त के तुल्य चलते हैं। जैसे—

	पुं० एक०	स्त्री० एक०	नपुं० एक०
प्र०	एषः (४८, ६७)	एषा	एतद्,
द्वि०	एतम्	एताम्	एतद्, इत्यादि।

१११. इदम् शब्द—अयम् (यह) के रूप चलाने में दोनों मूल सर्वनाम-शब्द 'अ' और 'इ' का प्रयोग किया गया है। यहाँ कुछ स्थानों पर इनका दुहरा रूप चला है।

	पुं०			नपुं०			स्त्री०		
प्र०	अयम्	इमौ	इमे	इदम्	इमे	इमानि	इयम्	इमे	इमाः
द्वि०	इमम्	,,	इमान्	,,	,,	,,	इमाम्	,,	,,
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः	शेष पुं० के तुल्य।			अनया	आभ्याम्	आभिः
च०	अस्मै	,,	एभ्यः				अस्यै	,,	आभ्यः
पं०	अस्मात्	,,	,,				अस्याः	,,	,,
ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्				,,	अनयोः	आसाम्
स०	अस्मिन्	,,	एषु				अस्याम्	,,	आसु

११२—अदस् शब्द—अदस् (वह) का पुं० स्त्री० प्रथमा एक० में विचित्र रूप असौ बनता है, नपुं० प्र०१ में अदस् (अदः)। अन्य स्थानों में इसका 'अमु' शब्द बनकर रूप चलता है। स्त्री० बहु० में अमु के स्थान पर 'अमू' रहता है। स्त्री० में द्वि० एक० तथा कुछ स्थलों पर द्विवचन में भी अमू रहता है। पुं० बहु० में द्वितीया को छोड़कर अन्यत्र 'अमी' रहता है।

	पुं०			नपुं०			स्त्री०		
प्र०	असौ	अमू	अमी	अदः	अमू	अमूनि	असौ	अमू	अमूः
द्वि०	अमुम्	,,	अमून्	,,	,,	,,	अमूम्	,,	,,
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	शेष पुं० के तुल्य			अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः				अमुष्यै	,,	अमूभ्यः

पं०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः	अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभिः
ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्	,,	अमुयोः	अमूषाम्
स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु	अमुष्याम्	,,	अमूषु

(क) एक अनुदात्त अपूर्ण सर्वनाम शब्द **'एन'** (वह) है। इसके रूप निम्न-लिखित विभक्तियों में चलते हैं—द्वितीया (सभी वचन), तृतीया (एक०), ष० स० द्विव०। जैसे—

	पुं०			स्त्री०			नपुं०		
द्वि०	एनम्	एनौ	एनान्	एनाम्	एने	एनाः	एनद्	एने	एनानि
तृ०	एनेन	—	—	एनया	—	—	एनेन	—	—
ष०	—	एनयोः	—	—	एनयोः	—	—	एनयोः	—
स०	—	एनयोः	—	—	एनयोः	—	—	एनयोः	—

(इ) प्रश्नवाचक सर्वनाम (Interrogative Pronoun)

११३. प्रश्नवाचक सर्वनाम शब्द **'क'** (कौन, क्या ?) के रूप पूर्णतया 'त' शब्द के तुल्य चलते हैं, केवल नपुं० प्र० और द्वि० एक० में किम् रूप होता है। जैसे—

	पुं०			स्त्री			नपुं०		
प्र०	कः	कौ	के	का	के	काः	किम्	के	कानि
स०	कस्मिन्	कयोः	केषु	कस्याम्	कयोः	कासु	कस्मिन्	कयोः	केषु

(क) तद्धित में 'क' शब्द का कि, कु या क रूप रहता है। जैसे—कियत् (कितना ?), कुत्र (कहाँ ?), कदा (कब ?)। समास में प्रथम पद होने पर इसका प्रायः 'किम्' शब्द के रूप में प्रयोग होता है, कभी-कभी 'कु' भी। जैसे—किरूप (विशेषण—किस रूप वाला ?), कुकर्मन् (नपुं०, कैसा कार्य ? अर्थात् कुत्सित कार्य)।

(ई) संबन्धवाचक सर्वनाम (Relative Pronoun)

११४—संबन्धवाचक **य** (जो) शब्द के रूप ठीक त शब्द के तुल्य चलते हैं। जैसे—

	पुं०			स्त्री०			नपुं०		
प्र०	यः	यौ	ये	या	ये	याः	यद्	ये	यानि
द्वि०	यम्	,,	यान्	याम्	,,	,,	,,	,,	,,
च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः	यस्यै	याभ्याम्	याभ्यः	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः

(उ) आत्मवाचक सर्वनाम (Reflexive Pronouns)

११५. (क) **स्वयम्** (स्वयं) यह अव्यय है। (मूलरूप में यह अयम् के तुल्य (प्रथमा एक० का रूप है)। यह किसी भी व्यक्ति या संख्या का बोध करा सकता है। जैसे—स्वयम्=मैं स्वयं, वह स्वयं, तुम स्वयं। इसका सामान्यतया प्रथमा विभक्ति का अर्थ रहता है। किन्तु यह प्रायः तृतीया और कभी-कभी षष्ठी का भी अर्थ बताता है। यह प्रायः 'अपने मन से' अर्थ भी बताता है।

(ख) **आत्मन्** (आत्मा) पुंलिंग शब्द है। इसके रूप ब्रह्मन् (६०, ३) के तुल्य चलते हैं। यह सभी व्यक्ति और सभी लिंगों का बोधक सर्वनाम है। इसका प्रयोग एकवचन में होता है।

(ग) **स्व शब्द**—स्वः, स्वा, स्वम् (लेटिन-Suus) (अपना) यह आत्म-वाचक विशेषण है। इसके रूप सर्व १२० ख के तुल्य चलते हैं। यह तीनों पुरुषों और तीनों वचनों का बोधक है (मेरा, तेरा, उसका, हमारा, तुम्हारा, उनका)। इसका (आत्मन् शब्द के तुल्य) कतिपय विभक्तियों में आत्म-वाचक सर्वनाम के तुल्य भी प्रयोग होता है। जैसे—स्वं निन्दन्ति (वे अपने आपकी निन्दा करते हैं)।

(घ) **निज शब्द**—निज शब्द वस्तुतः एक विशेषण है और इसका अर्थ है—निजी, स्वाभाविक, जन्मजात। इसका स्व शब्द के तुल्य प्रायः आत्म-वाचक सर्वनाम विशेषण के रूप में प्रयोग होता है।

(ऊ) स्वामित्वबोधक सर्वनाम (Possessive Pronouns)

११६. व्यक्तिवाचक सर्वनाम मद्, त्वद् आदि से ईय प्रत्यय लगाकर स्वा-मित्व-बोधक सर्वनाम बनते हैं। जैसे—मदीय (मेरा), त्वदीय (तेरा), अस्म-दीय (हमारा), युष्मदीय (तुम्हारा), तदीय (उसका, उनका)।

(क) षष्ठी-विभक्तयन्त रूप मम और तव से क प्रत्यय लगाकर भी स्वा-मित्व-बोधक सर्वनाम बनते हैं। जैसे—मामक (मेरा), तावक (तेरा)। (देखो नि० १०९, पादटिप्पणी २)। भवत् (आप) से भावत्क (आपका)।

(ऋ) समस्त सर्वनाम शब्द (Compound Pronouns)

११७. कतिपय सर्वनाम शब्दों के अन्त में दृश्, दृश और दृक्ष शब्द जोड़-कर निम्नलिखित समस्त सर्वनाम शब्द बनाए जाते हैं :—तादृश्, तादृश,

तादृक्ष (वैसा) (शब्दार्थ—वैसा दीखने वाला); यादृग्, यादृश्, यादृश (जैसा); ईदृश्, ईदृश, ईदृक्ष (ऐसा); कीदृश्, कीदृश (कैसा ?); मादृश (मुझ जैसा), त्वादृश (तुझ जैसा)।

(क) **स्त्रीप्रत्ययान्त रूप**—दृश् अन्त वाले समस्त शब्दों के स्त्रीलिंग शब्द भी पुं० और नपुं० के तुल्य ही रहते हैं, अर्थात् यह शकारान्त शब्द ही रहता है और पुं० और नपुं० के तुल्य रूप चलेंगे। तीनों लिंगों में तादृश् का प्र०१ में तादृक् होगा। दृश अन्तवाले शब्दों में स्त्रीलिंग में अन्त में ई लगेगा। जैसे—तादृश>तादृशी। दृक्ष अन्त वाले शब्दों में आ लगेगा। जैसे—तादृक्ष> तादृक्षा।

११८. **परिमाण-बोधक शब्द**—कतिपय सर्वनाम शब्दों के अन्त में वत् और यत् जोड़कर निम्नलिखित परिमाणबोधक शब्द बनाए जाते हैं:—तावत् (उतना), एतावत् (इतना), यावत् (जितना), इयत् (इतना), कियत् (कितना ?)। इनके रूप वत् अन्त वाले शब्दों (८६) के तुल्य चलेंगे और स्त्री-लिंग में अन्त में ई लगाकर ०ती अन्त वाले शब्द बनेंगे। जैसे—तावत्> तावती, इयत्>इयती।

(क) **कति** (कितने ?) (लेटिन—quot), तति (उतने) लेटिन—toti-dam), यति (जितने) के प्र० और द्वि० में रूप नहीं चलते हैं। अन्य विभ-क्तियों में केवल बहुवचन में शुचि (६८) के तुल्य रूप चलेंगे।

११९. प्रश्नवाचक शब्द के अन्त में चित्, चन या अपि लगा देने से अनिश्चय बोधक सर्वनाम शब्द बन जाता है और उसका अर्थ होता है—कोई। जैसे—कश्चित्, काचित्, किंचित्; कश्चन, काचन, किंचन; कोऽपि, कापि, किमपि (कोई)। क शब्द के अन्य विभक्ति वाले रूपों के बाद भी चित् आदि लगते हैं। कस्मैचित्, कस्मिंश्चित्, कस्यचन, कस्यापि।

(क) इसीप्रकार चित्, चन या अपि लगाकर अनिश्चय बोधक क्रिया-विशेषण शब्द भी बनाए जाते हैं। जैसे—कदा (कब ?), कदाचित्, कदाचन (कभी), क्व (कहाँ ?), न क्वापि (कहीं नहीं)।

(ख) प्रश्नवाचक सर्वनाम से पहले संबन्धवाचक सर्वनाम आ जाता है तो वह प्रश्नवाचक का अनिश्चयबोधक अर्थ कर देता है। जैसे—यः कः (जो

कोई), यस्य कस्य (जिस किसी का)। इसीप्रकार यः कश्चित्, यः कश्च, यः कश्चन (जो कोई)।

(ग) संबन्धवाचक सर्वनाम को यदि दो बार पढ़ दिया जाता है तो उसका विभाजक अर्थ हो जाता है। जैसे—यो यः (जो जो व्यक्ति), (इसके बाद द्विरुक्त संबन्धसूचक शब्द आता है, जैसे—स सः—वह वह व्यक्ति)।

(ए) सर्वनामज विशेषणशब्द (Pronominal Adjectives)

१२०. कतिपय विशेषण शब्द ऐसे हैं, जो सर्वनामों से या तत्समकक्ष शब्दों से बने हैं। इनके रूप पूर्णतया या आंशिक रूप से सर्वनाम-शब्द (जैसे—त शब्द) के तुल्य चलते हैं।

(क) अन्य (दूसरा), अन्यतर (दो में से एक), इतर (दूसरा), कतर (दो में से कौन ?), कतम (बहुतों में से कौन ?), एकतम (बहुतों में से एक) शब्द पूर्णरूप से सर्वनाम-शब्दों के तुल्य चलते हैं। इनमें नपुं० में प्र० सं० द्वि० के एक० में अन्त में द् लग जाता है। जैसे—अन्यः, अन्या, अन्यद् (लेटिन—aliu-d); चतुर्थी—पुं०, नपुं० अन्यस्मै, स्त्री० अन्यस्यै; स० अन्यस्मिन्, इत्यादि।

(ख) सर्व (प्रत्येक, सभी), उभय दोनों, एक० और बहु० में रूप चलेंगे)[1], एक (एक) (१०५), एकता(दो में से एक) शब्दों में नपुं० प्र०, द्वि० में अन्तमें द् न लगकर म् लगेगा। जैसे—सर्वः, सर्वा, सर्वम्, च० सर्वस्मै, पं० सर्वस्मात्, ष० सर्वस्य, स० सर्वस्मिन्। प्र० बहु०—पुं० सर्वे, स्त्री० सर्वाः, नपुं० सर्वाणि।

(ग) पूर्व (पूर्व दिशा, पहले), अवर (पश्चिम दिशा, बाद का), अधर (पश्चिम, घटिया), उत्तर(उत्तर दिशा, बाद का), दक्षिण (दक्षिण दिशा), पर (दूसरा, बाद का), अपर (दूसरा, घटिया), अन्तर (बाहरी), स्व (अपना) में नपुं० प्र० द्वि० एक० में अन्त में म् लगता है। पुं० और नपुं० में पं०, स० एक० में तथा पुं० प्र०३ में साधारण अकारान्त शब्द के तुल्य भी रूप चलेंगे। जैसे—पूर्व के रूप

---

१. किन्तु उभ (दोनों) शब्द के रूप केवल द्विवचन में (कान्त के तुल्य) चलेंगे।

	पुं०			नपुं०	
प्र० पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः	पूर्वम्	पूर्वे	पूर्वाणि
द्वि० पूर्वम्	,,	पूर्वान्	,,	,,	,,
पं० पूर्वस्मात् पूर्वात्	—	—	पूर्वस्मात्, पूर्वात्	—	—
स० पूर्वस्मिन्, पूर्वे	—	—	पूर्वस्मिन्, पूर्वे	—	—

(घ) अर्ध (आधा), अल्प (कम), कतिपय (कुछ), प्रथम (प्रथम), चरम (अन्तिम), द्वय (दुहरा), द्वितय (दुहरा) (इसीप्रकार य और तय अन्त वाले अन्य शब्द) के रूप सामान्य विशेषण शब्दों के तुल्य चलते हैं। इनके पुं० प्र० ३ में सर्वनाम शब्दों के तुल्य भी रूप बनते हैं। जैसे—चरम का पुं० प्र० ३—चरमे, चरमाः।

(ङ) द्वितीय (दूसरा) और तृतीय (तीसरा) शब्दों के ङित् विभक्तियों (अर्थात् च० पं० ष० स० के एक०) में सर्वनामशब्दों के तुल्य भी रूप चलेंगे। जैसे—पुं० नपुं० च० १—तृतीयाय, तृतीयस्मै, स० १—तृतीयायाम्, तृतीयस्याम्। पुं० प्र० ३—तृतीयाः।

(च) यदि ये सर्वनामज शब्द बहुव्रीहि समास (१८९) के अन्त में होंगे तो इनके रूप साधारण विशेषण शब्दों के तुल्य चलेंगे।

अध्याय ४

धातुरूप (Conjugation)

१२१. संस्कृत की धातुओं में दो प्रकार के तिङ् प्रत्यय लगते हैं—परस्मैपदी और आत्मनेपदी। **परस्मैपद** (सकर्मक, शब्दार्थ-दूसरे के लिए क्रियापद) को Active Voice कहते हैं। **आत्मनेपद** (स्वकर्मक, शब्दार्थ—अपने लिए क्रियापद) को Middle Voice कहते हैं। **कर्मवाच्य** में आत्मनेपद वाले तिङ् प्रत्यय लगते हैं। कर्मवाच्य में मुख्य अन्तर यह है कि सार्वधातुक लकारों (लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्) में धातु में य और लग जाता है। आर्धधातुक लकारों (शेष लकारों) में आत्मनेपदी रूप चलेंगे और लुङ् प्र०१ में 'इ' अन्त वाला रूप बनेगा।

(क) संस्कृत धातुओं के सभी लकारों के तीन वचन और तीन पुरुष में रूप चलते हैं। **तीन वचन हैं**—एकवचन, (Singular), द्विवचन (Dual), बहुवचन, (Plural)। **तीन पुरुष हैं**—प्रथम पुरुष या अन्य पुरुष (Third Person), मध्यमपुरुष (Second Person), उत्तमपुरुष (First Person),

१२२. संस्कृत में **५ काल** (Tenses) हैं। इनमें धातुओं के रूप चलते हैं। ये हैं :—१. वर्तमान काल (Present) लट् (साथ ही लोट् और विधिलिङ् लकार भी), २. अपूर्णभूत या अनद्यतन भूत (Imperfect)—लङ्, ३. पूर्ण भूत या परोक्ष भूत (Perfect)—लिट्, ४. भूत काल (Aorist)—लुङ् (साथ ही एक प्रकार का लिङ्, जिसे आशीर्लिङ् कहते हैं), ५. भविष्यत् (Future)—लृट्, लुट् (साथ ही लृङ् लकार, जो हेतुहेतुमद् भविष्यत् या एक प्रकार से भूत-भविष्यत् है।

वर्तमान, भूत और भविष्यत् कालों से संबद्ध कुछ कृदन्त रूप (Participles) भी हैं। इनके अतिरिक्त एक तुमुन्-प्रत्यय (Infinitive) (१६७) तथा किसी काल से असंबद्ध धातुज संज्ञा शब्द हैं।

(क) ग्रीक की अपेक्षा वेदोत्तरकालिक संस्कृत में धातुरूपों की संख्या बहुत कम है। श्रेण्य(Classical)संस्कृत में Pluperfect tense और Subjunctive

Mood नहीं हैं (लोट् उ० पु० में इसके अवशेष मिलते हैं)। इसी प्रकार वर्तमानकाल को छोड़कर अन्य कालों के आज्ञा या विधि-सूचक लकार प्राप्य नहीं हैं।

सार्वधातुक लकार (The Present System)

१२३. लिट्, लुङ्, लुट् लृट् और लृङ् में तिङ् प्रत्यय धातु से साक्षात् (या बीच में ऊष्म वर्ण लगाकर) लगते हैं, किन्तु सार्वधातुक लकारों (लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्) में एक विशेष अंग (Stem) बन जाता है। यह १० गणों के अनुसार १० प्रकार का होता है। अतः भारतीय वैयाकरणों ने सभी धातुओं को १० गणों में विभक्त किया है। दशम गण (चुरादिगण) वस्तुतः प्रक्रियान्त गण है। चुरादिगण में धातु से जो णिच् (अय्) प्रत्यय होता है, वह सभी स्थानों पर अपने णिच् को सुरक्षित रखता है, जिस प्रकार अन्य प्रक्रियान्त धातुएँ (णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, नामधातु) अपने प्रत्ययान्त रूप को सुरक्षित रखती हैं।

दस गण (The Ten Classes)

१२४. दस गण दो प्रकार के धातुरूपों में विभक्त हैं। **प्रथम वर्ग** में—भ्वादि, दिवादि, तुदादि और चुरादि गण हैं। इनका सार्वधातुक लकारों में अंग 'अ' अन्त वाला होता है और **इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।**

द्वितीय वर्ग में शेष सभी गण हैं। इनमें तिङ् प्रत्यय धातु से साक्षात् लगते हैं या उ, नु, ना, (नी, न्) विकरणों के बाद लगते हैं। **इनमें सार्वधातुक लकारों वाला अंग परिवर्तनशील** होता है, कहीं **पित्** (**Strong**) और कहीं **ङित्** (**Weak**)।

(अ) गणों का प्रथम वर्ग (First Conjugation)

१२५. (१) **प्रथम गण या भ्वादिगण**—इसमें धातु के अन्तिम वर्ण के बाद 'अ' विकरण लगता है। इसमें धातु पर उदात्त स्वर रहता है, अतः धातु के अन्तिम स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) को तथा उपधा (उपान्त्य, अन्तिम व्यंजन से पूर्ववर्ती स्वर) के ह्रस्व स्वर को गुण होता है। भू (होना) का सार्वधातुक लकारों में अंग 'भव' होता है। **बुध्** (जानना) का बोध।

(२) **षष्ठ गण या तुदादिगण**—इसमें धातु के अन्त में उदात्त अ विकरण लगता है। धातु अनुदात्त रहती है, अतः उसे गुण नहीं होता है। इस अ

विकरण से पूर्ववर्ती ऋ को इर् हो जाता है। इस प्रकार **तुद्** (दुःख देना) का तुद और **कॄ** (बखेरना) का किर अंग होता है।

(३) **चतुर्थ गण या दिवादिगण**—इसमें धातु के अन्त में य विकरण लगता है। इसमें धातु पर उदात्त स्वर रहता है (किन्तु कुछ धातुओं में गुण-रहित रूप रहता है, इससे प्रतीत होता है, कि मूलरूप में य विकरण उदात्त रहा होगा)। जैसे—**नह्** (बाँधना) से नह्य, **दिव्** (खेलना) से दीव्य (१३३आ)।

(४) **दशम गण या चुरादिगण**—इसमें धातु के अन्त में अय विकरण जुड़ता है। इससे पूर्ववर्ती धातु के अन्तिम स्वर को वृद्धि होती है और उपधा के ह्रस्व स्वर को गुण होता है। जैसे—**चुर्** (चुराना) से चोरय। उपधा के अ को अधिकांश धातुओं में आ हो जाता है। जैसे—**कम्** (चाहना) से कामय।

(आ) गणों का द्वितीय वर्ग (Second) Conjugation)

१२६. ये निम्नलिखित स्थानों पर **पित्** (Strong) होते हैं—

१. परस्मैपद में लट्, लोट् और लङ् में एकवचन।

२. परस्मैपद और आत्मनेपद में लोट् का उत्तम पुरुष।

३. परस्मैपद लोट् प्रथम पुरुष एकवचन।

इन स्थानों पर धातु या प्रत्यय का स्वर उदात्त होता है, अतः उसे गुण या वृद्धि होती है। शेष ङित् स्थानों पर तिङ् प्रत्यय पर उदात्त स्वर रहता है, अतः धातु को गुण या वृद्धि नहीं होती।

(क) नवम, गण अर्थात् क्र्यादिगण में विकरण ना लगता है। यह उदात्त होने पर ना रहता है और अनुदात्त होने पर नी या न्। सप्तम गण या रुधादिगण में इसी प्रकार क्रमशः न या न् रहता है।

१२७ (१) **द्वितीय गण या अदादिगण**—इसमें धातु से तिङ् प्रत्यय साक्षात् लगते हैं। पित् (Strong) वाले स्थानों पर यदि संभव होता तो धातु को गुण होता (२२५, १)। जैसे—**अद्** (खाना)—प्र. १—अत्ति, म० १—अत्सि, उ० १—अद्मि। इ (जाना) एति, एषि, एमि। **लिह्** (चाटना)—लेढि (६९ ख) लेक्षि (६९ क), लेह्मि।

(क) धातुरूप चलाने की दृष्टि से द्वितीय (अदादि) और सप्तम (रुधादि) गण सबसे अधिक कठिन हैं, क्योंकि इन गणों में विविध व्यंजनों से प्रारम्भ

होने वाले तिङ् प्रत्यय सीधे धातु से लगते हैं, अतः पदान्तर्गत-संधि के नियम इन स्थानों पर लगते हैं।

(२)**तृतीय गण या जुहोत्यादिगण**—इसमें धातु को द्वित्व होता है और द्वित्व वाले अंग से तिङ् प्रत्यय सीधे लगते हैं। यदि संभव हो तो धातु को पित् प्रत्ययों से पूर्व गुण होगा। जैसे—हु (हवन करना)—जुहोति (वह हवन करता है), जुहुतः (वे दो हवन करते हैं), उ०१ जुहोमि, उ०३ जुहुमः।

(क) यङ् लुगन्त (१७२) धातुओं के रूप इस गण के तुल्य चलते हैं।

(३) **सप्तमगण या रुधादिगण**—इस गण में तिङ् प्रत्यय धातु से साक्षात् लगते हैं। पित् प्रत्ययों वाले स्थानों पर धातु के अन्तिम व्यंजन से पूर्व न लगेगा और ङित् स्थानों पर न्। जैसे—**युज्** (जोड़ना)—प्र० युनक्ति, युङ्क्तः, युञ्जन्ति। उ०१—युनज्मि, उ०३—युञ्ज्मः।

(४) **पंचमगण या स्वादिगण**—इसमें धातु के बाद 'नु' विकरण लगता है और पित् प्रत्ययों से पूर्व नु को गुण होकर नो होता है। जैसे—**सु** (निचो-ड़ना)—प्र० सुनोति, सुनुतः। उ० सुनोमि, सुनुवः, सुनुमः।

(५) **अष्टमगण या तनादिगण**—इसमें धातु के बाद 'उ' विकरण लगता है, उसे पित् प्रत्ययों से पूर्व गुण होकर ओ होता है। जैसे—**तन्** (फैलाना)—प्र० तनोति, तनुतः। उ० तनोमि, तनुवः।

(क) **कृ** (करना) धातु को छोड़कर इस गण की शेष सभी सात धातुएँ नकारान्त हैं। कृ धातु का सार्वधातुक लकारों में अंग अनियमित है। जैसे—प्र—१ करोति, उ०१ करोमि (१३४ उ)

(६) **नवमगण या क्र्यादिगण**—इसमें पित् स्थानों पर धातु के बाद 'ना' विकरण लगता है। ङित् स्थानों पर बाद में व्यंजन होगा तो 'नी' लगेगा और स्वर बाद में होने पर 'न्' लगेगा जैसे—**क्री** (खरीदना)—प्र०—क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति। उ० क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

अडागम (The Augment)

१२८. लङ्, लुङ् और लृङ् लकारों में धातु से पहले उदात्त **'अ'** का आगम होता है। इस अ को धातु के प्रारम्भिक स्वर के साथ वृद्धि हो जाती है (२३) जैसे **बुध्** (जानना)—लङ् प्र०१ अबोधत्। **उन्द्** (गीला करना)—लट् प्र०१

उनत्ति (गीला करता है), लङ् प्र०१—औनत् (उसने गीला किया), ऋ (जाना)—लट् प्र०१—ऋच्छति (वह जाता है), लङ् प्र०१—आर्च्छत् (वह गया)।

(क) निषेधार्थक मा (मत) अव्यय के बाद लङ् और लुङ् लकारों में धातु से पूर्ववर्ती अ का लोप हो जाता है। तब धातु का प्रयोग आज्ञा अर्थ में होता है। जैसा—मा कार्षीत्, मा करोत् (वह ऐसा न करे)।

द्वित्व कार्य (Reduplication)

१२९. संस्कृत में पांच स्थानों पर धातुरूपों में द्वित्व होता है:—(१) जुहोत्यादि(तृतीय) गण में सार्वधातुक लकारों के अंग में, (२) लिट् लकार में, (३) लुङ् लकार के एक भेद में, (४) सन् प्रत्ययान्त में और (५) यङन्त तथा यङ् लुगन्त में। इन पांचों में प्रत्येक में कुछ विशेष नियम लगते हैं, इनका 'द्वित्व के कुछ विशेष नियम' प्रकरण में पृथक् वर्णन किया जाएगा (नि० १३०, १३५, १४६, १७०, १७३)। द्वित्व के सामान्य नियम निम्नलिखित हैं:—

द्वित्व के सामान्य नियम
(General Rules of Reduplication)

१. धातु के प्रथम एकाच् (अर्थात् वह अंश जो प्रथम स्वर के साथ समाप्त होता है) को द्वित्व होता है। जैसे—बुध् > बुबुध्।

२. अभ्यास (द्वित्व हुए भाग का प्रथम अंश) के महाप्राण वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का अल्पप्राण वर्ण हो जाता है। जैसे—भिद् (काटना) > बिभिद्; धू (हिलाना) > दुधू।

३. कवर्ग के स्थान पर समकक्ष चवर्ग होता है और ह् के स्थान पर ज् होता है। जैसे—कम् (प्रेम करना) > चकम्; खन् (खोदना) > चखन्; गम् (जाना) > जगम्; हस् (हँसना) > जहस्।

४. यदि धातु के प्रारम्भ में अनेक व्यंजन हैं तो केवल प्रथम व्यंजन को द्वित्व होगा। जैसे—क्रुश् (चिल्लाना) > चुक्रुश्; क्षिप् (फेंकना) > चिक्षिप्।

५. यदि धातु का प्रथम वर्ण ऊष्म (श्, ष्, स्) है और बाद में कठोर व्यंजन खर्, वर्ग के प्रथम और द्वितीय व्यंजन) हैं तो कठोर व्यंजन को ही द्वित्व होगा। जैसे—स्तु (स्तुति करना) > तुष्टु (नि० ६७); स्था (रुकना) >

तस्थौ; श्चुत् (चूना) > चुश्चुत्; स्कन्द् (उछलना) > चस्कन्द्। किन्तु स्मृ (याद करना) का सस्मृ होता है : इसमें म् कोमल वर्ण है।

६. यदि धातु का अन्तिम या उपधा (उपान्त्य) का स्वर दीर्घ होगा तो उसे अभ्यास में ह्रस्व स्वर हो जाएगा। जैसे—गाह् (प्रवेश करना) > जगाह्; क्री (खरीदना) > चिक्री; कूज् (कूजना) > चुकूज्।

७. यदि धातु में ए है तो उसे अभ्यास में इ होगा और ओ तथा औ को उ होगा, यदि ए आदि अन्तिम वर्ण होंगे तो नहीं। जैसे—सेव् (पूजा करना, सेवा करना) > सिषेव् (नि० ९७); ढौक् (पहुँचना) > डुढौक्।

८. भारतीय वैयाकरणों ने ए, ऐ और ओ अन्तवाली धातुओं को सुविधा के लिए आकारान्त माना है और आकारान्त को ही द्वित्व किया जाता है। जैसे—गै (गाना) > जगौ (लिट् प्र०१, नि० १३६, ४)।

जुहोत्यादि (तृतीय) गण के लिए द्वित्व के विशेष नियम

१३०. ऋ और ॠ को अभ्यास में इ हो जाता है। जैसे—भृ (धारण करना) > बिभर्ति; पॄ (पूरा करना) > पिपर्ति।

तिङ् प्रत्यय (Terminations)

१३१. निम्नलिखित सारणी में तिङ् प्रत्यय दिए गए हैं। ये सामान्यतया सभी धातुओं में सार्वधातुक लकारों (लट्, लोट्, लङ् विधिलिङ्) में लगते हैं। मुख्य अन्तर केवल विधिलिङ् में होता है। इसमें भ्वादिगण में ए लगता है और अदादिगण में 'या' या 'ई' लगता है। यदि निम्नलिखित बात स्मरण रखी जाए तो भ्रमनिवारण हो जाएगा—लट् में ति, सि, मि आदि मुख्य तिङ् प्रत्यय होते हैं तथा लोट् (कुछ अन्तर के साथ), विधिलिङ् और लङ् में त, स्, म् आदि गौण तिङ् प्रत्यय लगते हैं। शेष लकारों में से लुट्, लृट् में मुख्य तिङ् प्रत्यय लगते हैं तथा लुङ्, आशीर्लिङ् और लृङ् में गौण तिङ् प्रत्यय लगते हैं। लिट् लकार में परस्मैपद में (कुछ परिवर्तनों के साथ) गौण तिङ् प्रत्यय लगते हैं और आत्मनेपद में मुख्य तिङ् प्रत्यय लगते हैं।

दोनों प्रकार के धातुरूपों में अन्तर समझने के लिए यह आवश्यक है कि निम्नलिखित बातों को स्पष्टरूप से समझ लिया जाए। **प्रथम या अ-युक्त धातुरूप** में (जैसा कि अकारान्त शब्द रूपों में होता है) उदात्त स्वर कभी

भी तिङ् प्रत्ययों पर नहीं होता है, अपितु अंग (धातु या विकरण युक्त धातु) पर रहता है, अतएव अंग में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इनमें उदात्तस्वर का प्रकार यह है :—भ्वादि (प्रथम) गण और दिवादि (चतुर्थ) गण में उदात्त स्वर धातु पर होता है—और तुदादि (षष्ठ) गण तथा चुरादि (दशम) गण में विकरण पर उदात्त स्वर होता है। द्वितीय या अ-रहित धातुरूप में (जैसा कि परिवर्तन शील अंग वाले शब्द रूपों में होता है) पित् प्रत्ययों वाले (सबल) स्थानों पर धातु पर उदात्त स्वर रहता है और अपित् प्रत्ययों वाले (निर्बल)स्थानों पर तिङ् प्रत्ययों पर उदात्त स्वर रहता है, इसलिए धातु अपने निर्बल रूप में रहती है। अतः **द्वितीय या अ रहित धातुरूप** में सार्वधातुक लकारों के पित् (सबल) रूपों (१२६) को छोड़कर शेष स्थानों पर **तिङ् प्रत्ययों पर ही उदात्त स्वर रहता है**। यदि धातु से पूर्व अ (नि० १२८) नहीं होगा तो लङ् लकार में भी यही नियम लगेगा।

परस्मैपद

	लट्	लङ्	विधिलिङ् प्रथमधातु०	विधिलिङ् द्वितीय०	लोट्
प्र०१.	ति	त्	एत्[4]	यात्	तु
२.	तस्	ताम्	एताम्	याताम्	ताम्
३.	अन्ति[1]	अन्[2]	एयुर्	युर्	अन्तु[1]
म०१.	सि	स्	एस्	यास्	—(१),हि(२)[3]
२.	थस्	तम्	एतम्	यातम्	तम्
३.	थ	त	एत	यात	त
उ०१.	मि[6]	अम्[5]	एयम्	याम्	आनि
२.	वस्[6]	व[6]	एव	याव	आव
३.	मस्[6]	म[6]	एम	याम	आम

आत्मनेपद

	लट्	लङ्	विधिलिङ्		लोट्
प्र०१.	ते	त	एत[6]	ईत	ताम्
२.	एते	एताम्	एयाताम्	ईयाताम्	एताम्

	आते	आताम्			आताम्
३.	अन्ते	अन्त	एरन्	ईरन्	अन्ताम्
	अते	अत			अताम्
म०१.	से	थास्	एथास्	ईथास्	स्व
२.	एथे	एथाम्	एयाथाम्	ईयाथाम्	एथाम्
	आथे	आथाम्			आथाम्
३.	ध्वे	ध्वम्	एध्वम्	ईध्वम्	ध्वम्
उ०१.	ए	ए, इ	एय	ईय	ऐ
२.	वहे[४]	वहि[४]	एवहि	ईवहि	आवहै
३.	महे[४]	महि[४]	एमहि	ईमहि	आमहै

१. जुहोत्यादिगण तथा कुछ अन्य द्वित्व वाली धातुओं में (देखो नि० १३४ अ ४; १७२) परस्मैपद में लट् और लोट् प्र० ३ में न् नहीं रहता द्वितीय (अ-रहित) धातुरूप में सर्वत्र आत्मनेपद में लट्, लोट् और लङ् प्र० ३ में न् नहीं रहता।

२. जुहोत्यादिगण तथा कुछ अन्य द्वित्व वाली धातुओं में (देखो नि० १३४ अ ४; १७२) परस्मैपद लङ् के प्र० ३ में अन् के स्थान पर उर् (उः) लगता है। अदादिगण की आ—अन्तवाली तथा विद् (जानना) और द्विष् (द्वेष करना) धातुओं में भी प्र० ३ में उर् (उः) लगता है। उः से पूर्ववर्ती अ का लोप हो जाता है। यदि उः से पूर्ववर्ती ई, उ और ऋ होंगे तो उन्हें गुण हो जाएगा। जैसे—भी (डरना) > अबिभयुः, हु > अजुहवुः; या > अयान् अयुः। अवेस्ता के समकक्ष रूपों की तुलना से स्पष्ट होता है कि इस उस् प्रत्यय का अन्तिम वर्ण स् न होकर व्युत्पत्ति की दृष्टि से र् है। यह उः परस्मैपद में विधिलिङ् प्र०३ और लिट् प्र०३ में दृष्टिगोचर होता है।

३. प्रथम (अ-युक्त) धातुरूपों में परस्मैपद में लोट् म० १ में अन्त में कोई तिङ् नहीं लगता है। (जैसा कि अकारान्त शब्दों के संबोधन एकवचन में होता है)। अदादि (द्वितीय) गण में पूर्ववर्ती स्वर होगा तो 'हि' लगेगा और यदि पहले व्यंजन होगा तो 'धि' लगेगा। किन्तु—

(क) क्र्यादि (नवम) गरण में धि के स्थान पर आन लगता है। जैसे—मथ् > मथान।[1] किन्तु क्री का क्रीणीहि बनता है।

(ख) स्वादि (पंचम) गरण और तनादि (अष्टम) गरण में यदि उ से पूर्ववर्ती एक व्यंजन होगा तो 'हि' का लोप हो जाएगा। जैसे—सु > सुनु। किन्तु आप् > आप्नुहि होगा।

(ग) जुहोत्यादि (तृतीय) गरण में हु धातु में म० १ में हि के स्थान पर धि लगता है। हु > जुहुधि।

४. प्रथम (अ-युक्त) धातुरूप की सारणी में जो एतु आदि में ए है, वह अन्तिम अ + ई = ए है। व्यावहारिक दृष्टि से यह माना जा सकता है कि ये = तिङ् ए से प्रारम्भ होते हैं।

५. प्रथम (अ-युक्त) धातु रूपों में स्वर से प्रारम्भ होने वाले तिङ् प्रत्यय अन्तिम अ को हटाकर लगाने चाहिएँ। जैसे—अभवम्, भवेत्।

६. प्रथम (अ-युक्त) धातुरूपों में व् और म् से पूर्ववर्ती अ को दीर्घ हो जाता है। जैसे—भवामि, भवावः।

धातुरूपावली

१३२. प्रथम (अ-युक्त) धातुरूप के अनुसार ही चार गरणों (भ्वादि०, दिवादि०, तुदादि० चुरादि०) के रूप चलते हैं, अतः उनके लिए एक धातु के रूप ही पर्याप्त होंगे। स्वादि (पंचम) गरण और तनादि (अष्टम) गरण के रूप भी इसी प्रकार चलते हैं। अदादि (द्वितीय) गरण में अद् धातु की अपेक्षा द्विष् धातु अन्तर्गत संधि तथा सबल (पित्) और निर्बल (अपित्) रूपों को अधिक स्पष्ट करती है, अतः उदाहरण के रूप में उसे ही अपनाया गया है।

---

१. लोट् लकार के इस 'आन' की उत्पत्ति सन्दिग्ध है। यह सम्भवतः 'नान' के स्थान पर है। आन का आ सम्भवतः क्र्यादिगण के विकरण ना का संक्षिप्त रूप है तथा वेद में लोट् म० ३ में त के स्थान पर लगने वाले तन का न यहाँ पर भी लगा है। अतः आ + न = आन हो जाता है। वेद में इ का इतन (लोट् म०३) रूप बनता है।

धातुरूप—१ (first conjugation)

भ्वादिगण (first class) भू (होना) (विकरण-सहित रूप—भव् + अ = भव

लट् (वर्तमान काल)

परस्मैपद				आत्मनेपद		
एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
भवति	भवतः	भवन्ति	प्र०पु०	भवते	भवेते	भवन्ते
भवसि	भवथः	भवथ	म०पु०	भवसे	भवेथे	भवध्वे
भवामि	भवावः	भवामः	उ०पु०	भवे	भवावहे	भवामहे

लङ् (भूतकाल, अनद्यतन)

अभवत्	अभवताम्	अभवन्	प्र०पु०	अभवत	अभवेताम्	अभवन्त
अभवः	अभवतम्	अभवत	म०पु०	अभवथाः	अभवेथाम्	अभवध्वम्
अभवम्	अभवाव	अभवाम	उ०पु०	अभवे	अभवावहि	अभवामहि

लोट् (आज्ञा अर्थ)

भवेत्	भवेताम्	भवेयुः	प्र०पु०	भवेत	भवेयाताम्	भवेरन्
भवेः	भवेतम्	भवेत	म०पु०	भवेथाः	भवेयाथाम्	भवेध्वम्
भवेयम्	भवेव	भवेम	उ०पु०	भवै	भवावहै	भवामहै

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

भवेत्	भवेताम्	भवेयुः	प्र०पु०	भवेत	भवेयाताम्	भवेरन्
भवेः	भवेतम्	भवेत	म०पु०	भवेथाः	भवेयाथाम्	भवेध्वम्
भवेयम्	भवेव	भवेम	उ०पु०	भवेय	भवेवहि	भवेमहि

धातुरूप—२ (Second conjugation)

अदादिगण (Second clsss) द्विष् (द्वेष करना) (सविकरणरूप—द्वेष, द्विष्)

द्वेष्टि (६४)	द्विष्टः	द्विषन्ति	प्र०पु०	द्विष्टे	द्विषाते	द्विषते
द्वेक्षि (६४क)	द्विष्ठः	द्विष्ठ	म०पु०	द्विक्षे	द्विषाथे	द्विड्ढ्वे(६४)
द्वेष्मि	द्विष्वः	द्विष्मः	उ०पु०	द्विषे	द्विष्वहे	द्विष्महे

लङ् (अनद्यतन, भूतकाल)

अद्वेट् (२८)	अद्विष्टाम्	अद्विट्	प्र०पु०	अद्विष्ट	अद्विषाताम्	अद्विषत
अद्वेट् (२८)	अद्विष्टम्	अद्विष्ट	म०पु०	अद्विष्ठाः	अद्विषाथाम्	अद्विड्ढ्वम्
अद्वेषम्	अद्विष्व	अद्विष्म	उ०पु०	अद्विषि	अद्विष्वहि	अद्विष्महि

लोट् (आज्ञा अर्थ)

परस्मैपद				आत्मनेपद		
द्वेष्टु	द्विष्टाम्	द्विषन्तु	प्र०पु०	द्विष्टाम्	द्विषाताम्	द्विषताम्
द्विड्ढि(६४)	द्विष्टम्	द्विष्ट	म०पु०	द्विक्ष्व(६४क)	द्विषाथाम्	द्विड्ढ्वम् (६४)
द्वेषाणि(६५)	द्वेषाव	द्वेषाम	उ०पु०	द्वेषै	द्वेषावहै	द्वेषामहै

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

द्विष्यात्	द्विष्याताम्	द्विष्युः	प्र०पु०	द्विषीत	द्विषीयाताम्	द्विषीरन्
द्विष्याः	द्विष्यातम्	द्विष्यात	म०पु०	द्विषीथाः	द्विषीयाथाम्	द्विषीध्वम्
द्विष्याम्	द्विष्याव	द्विष्याम	उ०पु०	द्विषीय	द्विषीवहि	द्विषीमहि

जुहोत्यादिगण (Third class) हु (यज्ञ करना) (सविकरणरूप—जुहो, जुहु)

लट् (वर्तमान काल)

जुहोति	जुहुतः	जुह्वति	प्र०पु०	जुहुते	जुह्वाते	जुह्वते
जुहोषि	जुहुथः	जुहुथ	म०पु०	जुहुषे	जुह्वाथे	जुहुध्वे
जुहोमि	जुहुवः	जुहुमः	उ०पु०	जुह्वे	जुहुवहे	जुहुमहे

लङ् (भूतकाल, अनद्यतन)

अजुहोत्	अजुहुताम्	अजुहवुः	प्र०पु०	अजुहुत	अजुह्वाताम्	अजुह्वत
अजुहोः	अजुहुतम्	अजुहुत	म०पु०	अजुहुथाः	अजुह्वाथाम्	अजुहुध्वम्
अजुहवम्	अजुहुव	अजुहुम	उ०पु०	अजुह्वि	अजुहुवहि	अजुहुमहि

लोट् (आज्ञा अर्थ)

जुहोतु	जुहुताम्	जुह्वतु	प्र०पु०	जुहुताम्	जुह्वाताम्	जुह्वताम्
जुहुधि	जुहुतम्	जुहुत	म०पु०	जुहुष्व	जुह्वाथाम्	जुहुध्वम्
जुहवानि	जुहवाव	जुहवाम	उ०पु०	जुहवै	जुहवावहै	जुहवामहै

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

जुहुयात्	जुहुयाताम्	जुहुयुः	प्र०पु०	जुह्वीत	जुह्वीयाताम्	जुह्वीरन्
जुहुयाः	जुहुयातम्	जुहुयात	म०पु०	जुह्वीथाः	जुह्वीयाथाम्	जुह्वीध्वम्
जुहुयाम्	जुहुयाव	जुहुयाम	उ०पु०	जुह्वीय	जुह्वीवहि	जुह्वीमहि

स्वादिगण (**fifth class**) **सु** (रस निकालना) (सविकरण रूप—**सुनो**, **सुनु**)

लट् (वर्तमान काल)

सुनोति	सुनुतः	सुन्वन्ति	प्र०पु०	सुनुते	सुन्वाते	सुन्वते
सुनोषि	सुनुथः	सुनुथ	म०पु०	सुनुषे	सुन्वाथे	सुनुध्वे
सुनोमि	सुनुवः	सुनुमः	उ०पु०	सुन्वे	सुनुवहे	सुनुमहे

लङ् (भूतकाल, अनद्यतन)

असुनोत्	असुनुताम्	असुन्वन्	प्र०पु०	असुनुत	असुन्वाताम्	असुन्वत
असुनोः	असुनुतम्	असुनुत	म०पु०	असुनुथाः	असुन्वाथाम्	असुनुध्वम्
असुनवम्	असुनुव	असुनुम	उ०पु०	असुन्वि	असुनुवहि	असुनुमहि

लोट् (आज्ञा अर्थ)

सुनोतु	सुनुताम्	सुन्वन्तु	प्र०पु०	सुनुताम्	सुन्वाताम्	सुन्वताम्
सुनु	सुनुतम्	सुनुत	म०पु०	सुनुष्व	सुन्वाथाम्	सुनुध्वम्
सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम	उ०पु०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

सुनुयात्	सुनुयाताम्	सुनुयुः	प्र०पु०	सुन्वीत	सुन्वीयाताम्	सुन्वीरन्
सुनुयाः	सुनुयातम्	सुनुयात	म०पु०	सुन्वीथाः	सुन्वीयाथाम्	सुन्वीध्वम्
सुनुयाम्	सुनुयाव	सुनुयाम	उ०पु०	सुन्वीय	सुन्वीवहि	सुन्वीमहि

रुधादिगण (**Seventh class**)—रुध् (रोकना) (सविकरणरूप—रुणध्, रुन्ध्)

लट् (वर्तमान)

रुणद्धि	रुन्द्धः	रुन्धन्ति	प्र०पु०	रुन्द्धे	रुन्धाते	रुन्धते
रुणत्सि	रुन्द्धः	रुन्द्ध	म०पु०	रुन्त्से	रुन्धाते	रुन्द्ध्वे
रुणध्मि	रुन्ध्वः	रुन्ध्मः	उ०पु०	रुन्धे	रुन्ध्वहे	रुन्ध्महे

लङ् (भूतकाल, अनद्यतन)

अरुणत्	अरुन्द्धाम्	अरुन्धन्	प्र०पु०	अरुन्द्ध	अरुन्धाताम्	अरुन्धत

अरुणत् अरुन्द्धम् अरुन्द्ध म०पु० अरुन्द्धाः अरुन्धाथाम् अरुन्द्ध्वम्
अरुणधम् अरुन्ध्व अरुन्ध्म उ०पु० अरुन्धि अरुन्ध्वहि अरुन्ध्महि

लोट् (आज्ञा अर्थ)

रुणद्धु रुन्द्धाम् रुन्धन्तु प्र०पु० रुन्द्धाम् रुन्धाताम् रुन्धताम्
रुन्द्धि रुन्द्धम् रुन्द्ध म०पु० रुन्त्स्व रुन्धाथाम् रुन्द्ध्वम्
रुणधानि रुणधाव रुणधाम उ०पु० रुणधै रुणधावहै रुणधामहै

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

रुन्ध्यात् रुन्ध्याताम् रुन्ध्युः प्र०पु० रुन्धीत रुन्धीयाताम् रुन्धीरन्
रुन्ध्याः रुन्ध्यातम् रुन्ध्यात म०पु० रुन्धीथाः रुन्धीयाथाम् रुन्धीध्वम्
रुन्ध्याम् रुन्ध्याव रुन्ध्याम उ०पु० रुन्धीय रुन्धीवहि रुन्धीमहि

क्र्यादिगण (Ninth class) क्री (खरीदना)

(सविकरणरूप—क्रीणा, क्रीणी, क्रीण्)

लट् (वर्तमान काल)

क्रीणाति क्रीणीतः क्रीणन्ति प्र०पु० क्रीणीते क्रीणाते क्रीणते
क्रीणासि क्रीणीथः क्रीणीथ म०पु० क्रीणीषे क्रीणाथे क्रीणीध्वे
क्रीणामि क्रीणीवः क्रीणीमः उ०पु० क्रीणे क्रीणीवहे क्रीणीमहे

लङ् (भूतकाल, अनद्यतन)

अक्रीणात् अक्रीणीताम् अक्रीणन् प्र०पु० अक्रीणीत अक्रीणाताम् अक्रीणत
अक्रीणाः अक्रीणीतम् अक्रीणीत म०पु० अक्रीणीथाः अक्रीणाथाम् अक्रीणीध्वम्
अक्रीणाम् अक्रीणीव अक्रीणीम उ०पु० अक्रीणि अक्रीणीवहि अक्रीणीमहि

लोट् (आज्ञा अर्थ)

क्रीणातु क्रीणीताम् क्रीणन्तु प्र०पु० क्रीणीताम् क्रीणाताम् क्रीणताम्
क्रीणीहि क्रीणीतम् क्रीणीत म०पु० क्रीणीष्व क्रीणाथाम् क्रीणीध्वम्
क्रीणानि क्रीणाव क्रीणाम उ०पु० क्रीणै क्रीणावहै क्रीणामहै

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

क्रीणीयात् क्रीणीयाताम् क्रीणीयुः प्र०पु० क्रीणीत क्रीणीयाताम् क्रीणीरन्
क्रीणीयाः क्रीणीयातम् क्रीणीयात म०पु० क्रीणीथाः क्रीणीयाथाम् क्रीणीध्वम्
क्रीणीयाम् क्रीणीयाव क्रीणीयाम उ०पु० क्रीणीय क्रीणीवहि क्रीणीमहि

सार्वधातुक अंग के कुछ अपवाद
(Irregularities of the Present Stem)

प्रथम (अ-युक्त) धातुरूप
(first conjugation)

१३३. (अ) **प्रथम या भ्वादिगण**—१. क्रम् (चलना), आ—चम् (आचमन करना), गुह् (छिपाना), ष्ठिव् (थूकना) में धातु के स्वर को दीर्घ हो जाता है, जैसे—क्रम् > क्राम, आचम् > आचाम, गुह् > गूह, ष्ठिव् > ष्ठीव, मृज् (साफ करना) के ऋ को वृद्धि होकर मार्ज् होता है। सद् (बैठना) के अ को ई होकर सीद् हो जाता है। सद् > सीद (सि-सद के स्थान पर है, लेटिन—sido)।

२. गम् (जाना) और यम् (रोकना) को सार्वधातुक लकारों में म् को छ् होने से गच्छ् और यच्छ् रूप होते हैं। (देखो नीचे इ २)

३. घ्रा (सूँघना), पा (पीना), और स्था (रुकना) को द्वित्व होता है और अभ्यास (द्वित्व के प्रथम अंग) में इ हो जाता है। जैसे—घ्रा > जिघ्र्, पा > पिब् (लेटिन—bi-bo), स्था > तिष्ठ् (लेटिन—sisto)। ये धातुएँ मूलरूप में जुहोत्यादि (तृतीय) गण में थीं। (अ १ में पूर्वोक्त सद् धातु से इसकी तुलना की जा सकती है)।

४. दंश् (काटना), मन्थ् (मथना) और सञ्ज् (लगना, चिपकना) के नासिक्य का लोप हो जाता है। दंश् > दश्, मन्थ् > मथ्, सञ्ज् > सज्।

५. दृश् (देखना) को पश्य, ध्मा (फूँकना) को धम् और म्ना (पढ़ना) को मन् आदेश होते हैं।

(आ) **चतुर्थ या दिवादि गण**—१. तम् (थकना) भ्रम् (घूमना), शम् (रुकना), श्रम् (थकना), मद् (प्रसन्न होना) और दिव् (खेलना) के स्वर को दीर्घ हो जाता है। तम् > ताम्य, मद् > माद्य, दिव् > दीव्य।

२. भ्रंश (गिरना) के न् का लोप हो जाता है। भ्रंश् > भ्रश्य। व्यध् (बींधना) में संप्रसारण होता है। व्यध् > विध्य। जन् (पैदा होना) को जा हो जाता है। जन् > जाय। (देखो १५४ क १)।

(इ) **षष्ठ या तुदादिगण**—१. कृत् (काटना), मुच् (छोड़ना), लुप्

(तोड़ना), लिप् (लीपना), विद् (पाना), सिच् (सींचना) में न् का आगम होता है। कृत् > कृन्त, मुच् > मुञ्च, लुप् > लुम्प, लिप् > लिम्प, विद् > विन्द, सिच् > सिञ्च।

२. इष् (चाहना) धातु के ष् को छ् होता है और ऋ (जाना) धातु में छ् का आगम होता है। इष् > इच्छ, ऋ > ऋच्छ (देखो नि० ४२)।

३. प्रछ् (पूछना), भ्रज्ज् (भूनना) और व्रश्च् (काटना) में संप्रसारण होता है। प्रच्छ् > पृच्छ, भ्रज्ज् > भृज्ज, व्रश्च् > वृश्च।

द्वितीय (अ—रहित) धातुरूप
(Second Conjugation)

१३४. (अ) द्वितीय या अदादिगण

१. निम्नलिखित क्रियाओं में धातु को अनियमित रूप से गुण या वृद्धि होती है—

(क) यु (जोड़ना) तथा अन्य सभी उ अन्त वाली धातुओं को हलादि (व्यंजन से प्रारम्भ होने वाले) पित् (सबल) तिङ् से पूर्व गुण के स्थान पर वृद्धि होती है। यु > यौमि। किन्तु लङ् उ० १ में अयवम् होगा।

(ख) मृज् (साफ करना) को गुण के स्थान पर वृद्धि होती है। मृज् > मार्ष्टि (लट् प्र० १) (देखो नि० ६३)। किन्तु प्र० ३ में मृजन्ति होगा।

(ग) शी (सोना) आ० को अपित् (निर्बल) स्थानों पर गुण होता है और लट्, लोट्, लङ् में प्र० ३ में बीच में र् का आगम होता है। शेते (प्र० १), शेरते (लट् प्र० ३), शेरताम् (लोट् प्र० ३), अशेरत (लङ् प्र० ३)

२. निम्नलिखित क्रियाओं में अनियमित रूप से धातु निर्बल हो जाती है—

(क) वश् (चाहना) धातु को अपित् स्थानों पर संप्रसारण हो जाता है। वष्टि (लट् प्र० १) नि० ६३ ख), उशन्ति (लट् प्र० ३)।

(ख) अस् (होना) धातु के प्रारम्भिक अ का विधिलिङ् तथा लट् और लोट् के सभी अपित् स्थानों पर लोप हो जाता है। जैसे—स्यात् (वि० लिङ् प्र० १), सन्ति (लट् प्र० ३)। इसका लोट् म० १ में एधि रूप होता है। (यह Az-dhi के स्थान पर है। अवेस्ता में zdi है।) लङ् लकार में प्र० और म० एक० में तिङ् से पहले ई और लग जाता है। आसीत्, आसीः।

(ग) हन् (मारना) पर० के न् का लोप हो जाता है, बाद में अपित् त या थ हों तो। हन्ति (लट् प्र०१), किन्तु हतः (प्र०२), हथ (म०३)। लट्, लोट् और लङ् प्र०३ में धातु के अ का लोप हो जाता है और ह् को घ् हो जाता है। घ्नन्ति। (लट् प्र०३), घ्नन्तु (लोट् प्र०३), अघ्नन् (लङ् प्र०३)। इसका लोट् म०१ में जहि रूप बनता है। (घ-हि को तालव्य करने पर झ-हि रूप होगा। उसके स्थान पर यह रूप है)।

३. निम्नलिखित क्रियाओं में अनियमित रूप से किसी स्वर या अन्तस्थ का आगम होता है :—

(क) अन् (सांस लेना), जक्ष् (खाना), रुद् (रोना), श्वस् (सांस लेना) और स्वप् (सोना) धातुओं में य् को छोड़ कर अन्य हलादि तिङ् प्रत्यय बाद में होने पर बीच में इ का आगम होता है। किन्तु पर० लङ् के प्र० और म० एक० त् और स् से पहले ई या अ लगेगा रोदिति, रोदिमि। किन्तु रुदन्ति, रुद्यास्, लङ् प्र०१ में अरोदीत् या अरोदत् बनेगा।

(ख) ईड् (आ०, स्तुति करना) और ईश् (आ०, स्वामी होना) धातुओं में स् और ध् से प्रारम्भ होने वाले तिङ् प्रत्यय (अर्थात् लट् और लोट् म०१, ३) बाद में होने पर बीच में इ का आगम होता है। ईशिषे, ईशिध्वे, ईशिष्व, ईशिध्वम्।

(ग) ब्रू (कहना) धातु में पित् (सबल) हलादि तिङ् बाद में होने पर बीच में ई का आगम होता है। ब्रवीमि (किन्तु ब्रूमः), अब्रवीत्।

(घ) अधि+इ (आत्मने०, पढ़ना) में अजादि तिङ् प्रत्यय बाद में होने पर लट् में ई को ईय् और लङ् में ऐ (अडागम का अ+इ) को ऐय् हो जाता है। अधीये (लट् उ०१), किन्तु अधीषे। अध्यैयि (लङ् उ०१), किन्तु अध्यैथाः (म०१)।

४. निम्नलिखित द्वित्व वाली धातुएँ यद्यपि अदादिगण में उल्लिखित हैं, तथापि जुहोत्यादि (तृतीय) गण के तुल्य इनमें लट् और लोट् प्र०३ में क्रमशः अति और अतु लगते हैं तथा लङ् प्र०३ में अन् के स्थान पर उर् (उः) लगता है:—चकास् (चमकना), जक्ष् (घस् धातु के जघस् रूप से) (खाना), जागृ (जागना, गृ धातु का यङ् लुगन्त रूप), दरिद्रा (निर्धन होना) (दौड़ना अर्थ

वाली द्रा धातु का यङ् लुगन्त रूप)। दरिद्राति (लट् प्र०१), दरिद्रति (लट् प्र०३), अजक्षुः (लङ् प्र०३)।

(क) शास् (शासन करना) धातु में भी उपर्युक्त कार्य होते हैं। इनको हलादि अपित् (निर्बल) तिङ् बाद में होने पर शिष् हो जाता है, शास्ति (लट् प्र०१), शिष्टः (लट् प्र०२), शासति (लट् प्र०३)।

(आ) जुहोत्यादि (तृतीय) गण

१. दा (देना) और धा (रखना) धातुओं का अपित् (निर्बल) तिङ् प्रत्ययों से पूर्व क्रमशः दद् और दध् रूप हो जाता है। त् और थ् बाद में होंगे तो दध् को (नि० ६२ ख के विरुद्ध) धत् हो जाता है। दधामि (लट् उ०१), किन्तु दध्वः (उ०२), धत्थः (म०२)। इनके पर० लोट् म०१ में देहि (da-z-dhi के स्थान पर) और धेहि (dha-z-dhi) के स्थान पर) रूप बनते हैं।

२. मा (आ०, नापना) और हा (आ०, जाना) का सार्वधातुक लकारों में क्रमशः मिमी और जिही रूप रहता है। बाद में कोई अजादि तिङ् होगा तो अन्तिम ई का लोप हो जाएगा जिहते (लट् प्र०३), जिहीषे (म०१), जिहे (उ०१)। अजिहत (लङ् प्र० ३), अजिहीथाः (म०१), अजिहि (उ०१)।

३. हा (पर०, छोड़ना) का अपित् तिङ् बाद में होने पर 'जही' रूप रहता है। बाद में अजादि तिङ् या य् होगा तो ई का लोप हो जाएगा। जहाति (लट् प्र०१), किन्तु जहीतः (प्र०२), जहति (प्र० ३)। लोट् म० १ में जहीहि रूप होता है। विधिलिङ् प्र०१ जह्यात्, उ० १ जह्याम्।

(इ) स्वादि (पंचम) गण

१. अजन्त धातुओं के बाद नु के उ का विकल्प से लोप होता है, बाद में व् या म् हो तो। सुनोमि (लट् उ०१), किन्तु सुन्वः, सुनुवः (उ०२)।

२. हलन्त धातुओं के बाद नु के उ को उव् हो जाता है, बाद में अजादि तिङ् हो तो। शक्नुवन्ति (लट् प्र० ३)।

३. श्रु (सुनना) और धू (हिलाना) का सार्वधातुक लकारों में शृणु और धुनु रूप रहता है।

(ई) रुधादि (सप्तम) गण

अञ्ज् (लीपना), भञ्ज् (तोड़ना), और हिंस् (हिंसा करना) धातुओं में

बीच में न विकरण लगता है और धातु के त् का लोप हो जाता है, अनज्मि (लट् उ० १), भनज्मि (उ० १), हिनस्मि (उ० १)।

(उ) तनादि (अष्टम) गण

कृ (करना) धातु पित् सार्वधातुक तिङ् प्रत्ययों से पूर्व 'करो' हो जाती है और अपित् (निर्बल) स्थानों पर 'कुरु' होती है। म्, य् और व् बाद में होंगे तो कुरु के उ का लोप हो जाता है। करोमि, कुरुथः। किन्तु कुर्वः, कुर्मः, कुर्याम्। इस गण की अन्य धातुओं में भी उ का लोप विकल्प से होता है, बाद में व् और म् हों तो, परि और सम् उपसर्गों के साथ कृ का समास होने पर कृ से पहले स् का आगम हो जाता है। परिष्कृत (अलंकृत), संस्कृत (एकत्रित)। यह स् मौलिक नहीं है।

(ऊ) क्र्यादि (नवम) गण

१. धू (हिलाना), पू (पवित्र करना) और लू (काटना) को ह्रस्व हो जाता है। धुनामि, पुनामि, लुनामि।

२. ज्ञा (जानना) को जा और ग्रह् (पकड़ना) को गृह् हो जाता है :— जानामि (लट् उ० १), गृह्णामि (लट् उ० १) (नि० ६५)।

३. बन्ध् (बाँधना) और मन्थ् (मथना) के न् का लोप हो जाता है। बध्नामि, मथ्नामि।

लिट् लकार (The Perfect Tense)

१३५. लिट् लकार धातु को द्वित्व करके या धातु के बाद आम् लगाकर बनाया जाता है। सामान्यतया धातुएँ प्रथम विधि को अपनाती हैं। णिच् आदि प्रत्ययान्त धातुएँ द्वितीय विधि को अपनाती हैं। और धातुएँ ऐसी हैं, जिनके प्रथम स्वर दीर्घ हैं (१४० क, १), इनके लिट् के रूप आम् प्रत्यय लगाकर बनते हैं।

द्वित्व के विशेष नियम
(Special Rules of Reduplication)

१. अभ्यास (द्वित्व का प्रथम अंश) के ऋ, ॠ और लृ को अ हो जाता है। जैसे—कृ करना) > चकार; तॄ (पार करना) > ततार. क्लृप् (समर्थ होना) > चक्लृपे।

२. धातु के प्रारम्भिक अ और आ को आ होता है। जैसे—अद् (खाना) >आद; आप् (पाना) >आप (देखो नि० १०४ क, १)

३. यदि धातु का प्रथम स्वर इ है, तो उसे इ+इ=ई सवर्णदीर्घ होकर ई हो जाएगा। यदि धातु के इ को गुण या वृद्धि होगी तो अभ्यास और धातु के बीच में य् का आगम हो जाएगा। जैसे—इष् (चाहना) >ईषुः (लिट् प्र०३) (यह इ+इष्+उः के स्थान पर है)। किन्तु लिट् प्र०१ में इयेष बनेगा।

४. जिन धातुओं के प्रारम्भ में या मध्य में य या व है और जिनमें संप्रसारण होता है (देखो नि० १३७, २ग), ऐसी धातुओं में इ और उ के साथ ही धातु को द्वित्व होता है। जैसे—यज् (यज्ञ करना) >इयाज; वच् (कहना) >उवाच।

१३६. लिट् लकार परस्मैपद का एकवचन पित् (सबल) होता है, जैसा कि लट् और लङ् परस्मैपद में एकवचन पित् रहता है इसमें धातु पर उदात्त स्वर रहता है, लिट् के शेष प्रत्यय अपित् (निर्बल) हैं और इनमें निङ् प्रत्ययों पर उदात्त स्वर रहता है।

परस्मैपद

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अ	अतुर्[1]	उर् (१३१, ६)
म० (इ)	थ	अथुर्[1]	अ
उ०	अ	(इ) व	(इ) म

आत्मनेपद

प्र०	ए	आते	इरे
म०	(इ) षे	आथे	(इ) ध्वे
उ०	ए	(इ) वहे	(इ) महे

(क) द्रु (दौड़ना), श्रु (सुनना) स्तु (स्तुति करना), स्रु (बहना), कृ (करना), भृ (धारण करना), वृ (चुनना) और सृ (जाना) इन आठ धातुओं में हलादि तिङ् प्रत्ययों से पहले इ नहीं लगता है। आत्मनेपद प्र०३ में इन

१. अतुर् और अथुर् में तुर् और थुर् लट् के तस् और थस् (प्र० २, म०२) के समकक्ष हैं, इनमें प्र०३ के उर् के सादृश्य पर उर् लगा है। अतः तस् >तुर्, थस् >थुर् है।

धातुओं में भी ई रहता है। शेष धातुओं में हलादि प्रत्ययों से पहले इ लगता है।[1] परस्मैपद म० १ में अन्य बहुत सी धातुओं से इ नहीं लगता है। आ अन्तवाली धातुओं में थ से पहले इ विकल्प से लगता है। इ, ई और उ अन्तवाली बहुत सी धातुओं से थ से पहले इ विकल्प से लगता है।

पित् (सबल) अंग (The Strong Stem)

१. ह्रस्व स्वर के बाद यदि एक व्यंजन होगा तो उसे एकवचन में सर्वत्र गुण होगा। जैसे—इष् (चाहना) > इयेष्; बुध् (जागना) > बुबोध्। किन्तु जीव् (जीना) का जिजीव् होगा।

२. अन्तिम स्वरों को प्र० १ में वृद्धि होती है, म० १ में गुण और उ० १ में वृद्धि और गुण दोनों होते हैं। जैसे—इ (जाना) > इयाय। (प्र० १), इयेथ (म० १), इयाय, इयय (उ० १)। कृ (करना) > चकार (प्र० १), चकर्थ (म० १), चकार, चकर (उ० १)।

३. उपधा के अ को प्र० १ में नित्य और उ० १ में विकल्प से वृद्धि होती है। जैसे—हन् (मारना) > जघान (प्र० १), जघान, जघन (उ० १)।

४. आ अन्त वाली धातुओं (तथा ए ऐ ओ औ अन्तवाली धातुएँ, जिनको आ हो जाता है, नि० १२९,८) में प्र० १ और उ० १ में अन्त में औ लगता है। म० १ में आथ और इथ दोनों लगेंगे (देखो नि० १३६ क)। जैसे—धा (रखना) > दधौ (प्र० १, उ० १), दधिथ, दधाथ (म० १)।

किन्तु ह्वा या ह्वे (पुकारना) के रूप हू धातु मानकर चलते हैं: जुहाव (प्र० १) (देखो नि० १५४ क, ३)

अपित् (निर्बल) अंग (The weak stem)

१३७. (१) इ, ई, उ, ऊ, और ऋ से युक्त धातुओं में सन्धि-नियमों के अतिरिक्त अन्य कोई परिवर्तन धातु में नहीं होता है। जैसे—बुध् > बुबुधिम; कृ > चकृम; स्तु > तुष्टुम।

---

[1] यह 'इ' संभवतः दा (देना) आदि धातुओं के अन्तिम आ के स्थान पर होने वाले इ से प्रारम्भ हुआ है और बाद में अन्य धातुओं में यह संयोजक स्वर के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

(क) यदि अन्तिम इ, ई और ऋ से पहले एक व्यंजन हो और बाद में कोई अजादि तिङ् हो तो इ ई को य् और ऋ को र् होगा। यदि एक से अधिक व्यंजन पहले होगा तो इ ई को इय् और ऋ को अर् होगा तथा उ ऊ को उव् और ॠ को अर् होगा। जैसे—नी (ले जाना) > निन्युः; श्रि (आश्रय लेना) > शिश्रियुः, कृ (करना) > चक्रुः; स्तृ (फैलाना) > तस्तरुः, यु (जोड़ना) > युयुवुः, कॄ (बखेरना) > चकरुः।

(२) उपधा में अ वाली तथा आ-अन्त वाली धातुओं के अ और आ निर्बल होते हैं।

(क) जिन धातुओं में अ से पहले और बाद में एक व्यंजन होता है (जैसे पत् धातु) और जिनमें द्वित्व करने पर अभ्यास वाले अंश में कोई परिवर्तन नहीं होता है (महाप्राण वर्ण, कवर्ग और ब् से प्रारम्भ होने वाली धातुओं को छोड़कर), उनमें दोनों वर्णों को एक वर्ण हो जाता है और उनमें ए की मात्रा लग जाती है (लेटिन—(fac-io, fec-i)[१]। म० १ में इ-थ बाद में होने पर भी यह नियम लगता है। (जब बिना इ के थ का प्रयोग होता है, तब सबल अंग का प्रयोग होता है)। जैसे—पच् (पकाना) > पेचतुः (प्र० २), पेचुः (प्र० ३), पेचिथ, पपक्थ (म० १); तन् (फैलाना) > तेनतुः, तेनुः, तेनिथ।

(ख) जन् (उत्पन्न होना) (१३६, २) तथा अ उपधा वाली एवं कण्ठ्य वर्ण से प्रारम्भ होने वाली खन् (खोदना), गम् (जाना), घस् (खाना) और हन् (मारना), इन चार धातुओं में धातु के अ का लोप हो जाता है। जैसे—जन् > जज्ञे (आत्मने० प्र०१); जगाम (पर० प्र०१), किन्तु जग्मुः (प्र०३); जघास (प्र० १), किन्तु जक्षुः (प्र०३); जघान (प्र०१), किन्तु जघ्नुः (प्र० ३) (देखो १३४, २ ग)।

(ग) व से प्रारम्भ होने वाली वच् (कहना), वद् (कहना), वप् (बोना), वस् (रहना), वह् (ले जाना), इन पाँच धातुओं में तथा यज् (यज्ञ करना),

---

१. यह ए स्वर सद् (बैठना) आदि के लिट् के निर्बल अंग sa-z-d (अवेस्ता hazd) आदि के सादृश्य पर होता है। इन स्थानों पर az को ए हो जाता है। (देखो १३४, २ ख और १३३ अ १)

व्यध् (बींधना), स्वप् (सोना) और ग्रह् (पकड़ना), इन धातुओं में संप्रसारण होता है। प्रथम पाँच धातुओं में उ+उ=ऊ (नि० १३५, ४) एकादेश होता है तथा षष्ठ यज् में इ+इ=ई एकादेश होता है। जैसे—उवाच (प्र०१), किन्तु ऊचुः (प्र० ३, उ+उचुः के स्थान पर); इयाज (प्र०१), किन्तु ईजुः (प्र०३, इ—इजुः के स्थान पर); सुष्वाप (प्र०१, नि० ६७), किन्तु सुषुपुः (प्र०३); जग्राह (प्र० १), किन्तु जगृहुः (प्र०३)।

(घ) आकारान्त धातुओं के आ का लोप अपित् (निर्बल) तिङों में नित्य होता है और पर० म०१ में विकल्प से (देखो नि० १३६ क और (१३८, ३)।

(लिट् लकार के द्वित्व वाले धातुरूप
(Paradigms of the Reduplicated Perfect)

१३८. (१) **तुद्** (दुःख देना), पित् अंग—तुतोद्, अपित् अंग—तुतुद्।

परस्मैपद

प्र०	तुतोद	तुतुदतुः	तुतुदुः
म०	तुतोदिथ	तुतुदथुः	तुतुद
उ०	तुतोद	तुतुदिव	तुतुदिम[1]

आत्मनेपद

प्र०	तुतुदे	तुतुदाते	तुतुदिरे
म०	तुतुदिषे	तुतुदाथे	तुतुदिध्वे
उ०	तुतुदे[2]	तुतुदिवहे	तुतुदिमहे

२. **कृ (करना)**, पित् अंग-चकर्, चकार्; अपित्-चक्र, चकृ

परस्मैपद

प्र०	चकार	चक्रतुः	चक्रुः
म०	चकर्थ	चक्रथुः	चक्र
उ०	चकार, चकर	चकृव	चकृम

---

१. लेटिन—tu-tud-i-mus.

२. ले०—tu-tud-ī.

आत्मनेपद

प्र०	चक्रे	चक्राते	चक्रिरे
म०	चकृषे	चक्राथे	चकृढ्वे
उ०	चक्रे	चकृवहे	चकृमहे

३. धा (रखना), पित्—दधा; अपित्—दध् ।

परस्मैपद

प्र०	दधौ	दधतुः	दधुः
म०	दधिथ; दधाथ	दधथुः	दध
उ०	दधौ	दधिव	दधिम

आत्मनेपद

प्र०	दधे	दधाते	दधिरे
म०	दधिषे	दधाथे	दधिध्वे
उ०	दधे	दधिवहे	दधिमहे

४. नी (ले जाना), पित्-निने, निनै; अपित्—निनी ।

परस्मैपद

प्र०	निनाय	निन्यतुः	निन्युः
म०	निनयिथ, निनेथ	निन्यथुः	निन्य
उ०	निनाय, निनय	निन्यिव	निन्यिम

आत्मनेपद

प्र०	निन्ये	निन्याते	निन्यिरे
म०	निन्यिषे	निन्याथे	निन्यिढ्वे
उ०	निन्ये	निन्यिवहे	निन्यिमहे

५. स्तु (स्तुति करना), पित्-तुष्टो, तुष्टौ; अपित्-तुष्टु ।

परस्मैपद

प्र०	तुष्टाव	तुष्टुवतुः	तुष्टुवुः
म०	तुष्टोथ	तुष्टुवथुः	तुष्टुव
उ०	तुष्टाव, तुष्टव	तुष्टुव	तुष्टुम

आत्मनेपद

प्र०	तुष्टुवे	तुष्टुवाते	तुष्टुविरे
म०	तुष्टुषे	तुष्टुवाथे	तुष्टुध्वे
उ०	तुष्टुवे	तुष्टुवहे	तुष्टुमहे

६. तन् (फैलाना), पित्-ततन्, ततान्; अपित्-तेन् ।

परस्मैपद

प्र०	ततान	तेनतुः	तेनुः
म०	तेनिथ, ततन्थ	तेनथुः	तेन
उ०	ततान, ततन	तेनिव	तेनिम

आत्मनेपद

प्र०	तेने	तेनाते	तेनिरे
म०	तेनिषे	तेनाथे	तेनिध्वे
उ०	तेने	तेनिवहे	तेनिमहे

७. गम् (जाना), पित्-जगम्, जगाम्, अपित्-जग्म् ।

परस्मैपद

प्र०	जगाम	जग्मतुः	जग्मुः
म०	जगन्थ	जग्मथुः	जग्म
उ०	जगाम, जगम	जग्मिव	जग्मिम

आत्मनेपद

प्र०	जग्मे	जग्माते	जग्मिरे
म०	जग्मिषे	जग्माथे	जग्मिध्वे
उ०	जग्मे	जग्मिवहे	जग्मिमहे

८. वच् (कहना), पित्-उवच्, उवाच्; अपित्-ऊच् ।

परस्मैपद

प्र०	उवाच	ऊचतुः	ऊचुः
म०	उवचिथ, उवक्थ	ऊचथुः	ऊच
उ०	उवाच, उवच	ऊचिव	ऊचिम

आत्मनेपद

प्र०	ऊचे	ऊचाते	ऊचिरे

म०	ऊचिषे	ऊचाथे	ऊचिध्वे
उ०	ऊचे	ऊचिवहे	ऊचिमहे

अपवाद-नियम (Irregularities)

१३९. (१) भज् (बाँटना) धातु यद्यपि महाप्राणवर्ण से प्रारम्भ होती है, तथापि नियम १३७ (२, क) के तुल्य इसमें भी अभ्यास (द्वित्व के प्रथम अंश) का लोप और भ के अ को ए होता है, जैसे—प्र०१ में बभाज, किन्तु प्र०३ में भेजुः। इसी प्रकार राज् (चमकना) (उपधा में आ है) धातु को नित्य तथा त्रस् (डरना, प्रारम्भ में २ व्यंजन हैं) और भ्रम् (घूमना, प्रारम्भ में महाप्राण और दो व्यंजन हैं) को विकल्प से ए होता है और अभ्यास-लोप होता है। जैसे—प्र०१ आत्मने० राज् >रेजे; त्रस् >तत्रसुः, त्रेसुः (प्र०३); भ्रम् >बभ्रमुः, भ्रेमुः (प्र०३)।

(२) यम् (पहुँचना) और वम् (कै करना) धातुएँ यद्यपि य और व से प्रारम्भ होती हैं, तथापि इनमें संप्रसारण नहीं होता है और नि० १३७ (२, क) के तुल्य अभ्यास-लोप और ए होता है। यम् >ययाम (प्र०१), किन्तु येमे (आ०, प्र०१); वम् >ववाम (प्र०१), किन्तु वेमुः (प्र०३)। वस् (आ०, पहनना) धातु में न संप्रसारण होता है और न ए ही होता है। वस् >ववसे।

(३) विद् (जानना) में बिना द्वित्व के लिट् का रूप बनता है और लट् के तुल्य अर्थ होता है। वेद (उ०१, मैं जानता हूँ) (जर्मन—weiss), वेत्थ (म०१), वेद (प्र०१), विद्म (उ० ३, जर्मन—wissen), विद (म० ३), विदुः (प्र० ३)।

(४) चि (इकट्ठा करना), जि (जीतना), हि (भेजना) और हन् (मारना) में धातु को मूल कवर्ग वर्ण हो जाता है। चि >चिकाय, जि > जिगाय, हि >जिघाय, हन् >जघान (देखो नि० १३७, २ ख)।

(५) अह् (कहना) अपूर्ण धातु है और इसके रूप प्रथम पु० १, २, ३ और म० १, २ में ही चलते हैं। प्र०—आह, आहतुः, आहुः, म०—आत्थ, आहथुः।

(६) अंश् (पहुँचना) में अभ्यास में आन् रहता है और धातु के अनुस्वार

सहित स्वर अं को द्वित्व होता है, किन्तु अपित् स्थानों पर धातु के अनुस्वार का लोप हो जाता है। जैसे—पर० प्र०१ आनंश, आ० प्र०३—आनशिरे। अर्च् (पूजा करना) में भी इसी के अनुकरण पर अभ्यास में आन् रहता है। अर्च् >आनर्च (प्र०१)।

(७) भू (होना) में दो अनियमितताएँ हैं—(१) अभ्यास में ऊ के स्थान पर अ रहता है, (२) धातु में सर्वत्र ऊ बना रहता है।

प्र०	बभूव	बभूवतुः	बभूवुः
म०	बभूविथ, बभूथ	बभूवथुः	बभूव
उ०	बभूव	बभूविव	बभूविम

आम्-प्रत्ययान्त लिट् (Periphrastic Perfect)

१४०. जिन धातुओं में द्वित्व नहीं होता है, उनमें भाववाचक स्त्रीलिंग शब्द का द्वितीया एक० का सुप् आम् लग जाता है और उसके बाद कृ (करना), अस् (होना) और भू (होना) के लिट् के रूप लग जाते हैं। यह रूप सकर्मक कृ (करना) धातु के संयोग से प्रारम्भ हुआ। जैसे—गमयांचकार (उसने जाने का काम किया, अर्थात् वह गया)। किन्तु श्रेण्य संस्कृत में आम्-प्रत्ययान्त के बाद अस् धातु के लिट् का प्रयोग अधिक मिलता है, आम् के बाद कृ और भू का प्रयोग कम मिलता है, आम्-प्रत्ययान्त लिट् का प्रयोग अधिकांशतः चुरादिगणी णिच्, प्रेरणार्थक णिच् और नामधातु-णिच्(अय) के बाद मिलता है। जैसे—बोधयामास (उसने जगाया)। सन् और यङ् प्रत्ययान्त के बाद आम् वाले रूप बहुत ही कम मिलते हैं।

(क) निम्नलिखित कुछ धातुओं से आम्-प्रत्ययान्त लिट् बनते हैं:—

(१) दीर्घ स्वर से प्रारम्भ होने वाली आस् (बैठना), ईक्ष् (देखना), उज्झ् (छोड़ना) और एध् (समृद्ध होना), इन चार धातुओं से। जैसे—आस् >आसां चक्रे (वह बैठा)

(२) द्वित्व हुई धातु चकास् (चमकना) और जागृ (जागना) (यह वस्तुतः यङ्लुगन्त धातु है, नि० १३४ अ ४) धातु से। जैसे—चकास् >चकासां चकार, जागृ >जागरामास।

(३) भृ (धारण करना) तथा रामायण और महाभारत में नी (ले जाना)

एवं ह्वे (पुकारना) मे विकल्प से आम्-प्रत्यय लगता है। भृ >बिभरां बभूव, बभार; (उसने धारण किया); (आ+) नी > (आ) नयामास, निनाय (वह लाया); ह्वे >ह्वयामास, जुहाव (उसने पुकारा)।

आम्-प्रत्ययान्त धातुरूप
(Paradigm of the Periphrastic Perfect)

परस्मैपद

प्र०	बोधयामास	बोधयामासतुः	बोधयामासुः
म०	बोधयामासिथ	बोधयामासथुः	बोधयामास
उ०	बोधयामास	बोधयामासिव	बोधयामासिम

लुङ् (Aorist)

१४१. ग्रीक के तुल्य संस्कृत में भी दो प्रकार के लुङ् हैं। एक वर्ग में धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में स् (ऊष्म वर्ण) लगाया जाता है और दूसरे वर्ग में धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में संयोजक अ लगाया जाता है या संयोजक अ के बिना ही रूप बनता है। दोनों वर्ग के लुङ् में धातु से पहले अ लगता है और इस अ पर उदात्त स्वर रहता है। इनमें गौण तिङ् प्रत्यय लगते हैं। प्रथम वर्ग के लुङ् के चार भेद हैं और द्वितीय वर्ग के तीन। इस प्रकार लुङ् के सात भेद होते हैं।

लुङ् का प्रथम वर्ग (first Aorist)

(क) **प्रथम भेद** में धातु से पहले अ लगेगा और धातु तथा तिङ् के बीच में स प्रत्यय लगेगा। इसके रूप भ्वादिगणी धातु के लङ् लकार (अभवत्) के तुल्य चलेंगे। आत्मनेपद में प्र०२, म०२ और उ०१ में द्विष् के लङ् के तुल्य रूप चलेंगे, अन्यत्र भ्वादिगण के तुल्य। यह स प्रत्यय श् और ह् (अन्त वाली) इस ह् को क् होकर क्+स=क्ष होता है, देखो नि० ६३ ख; ६९ क) कुछ थोड़ी ही धातुओं से होता है, जिनकी उपधा में इ, उ या ऋ होता है। इस इ उ या ऋ में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जैसे—दिश् (बताना)>अदिक्षत् (प्र० १)। लुङ् का यह भेद ग्रीक के लुङ् के प्रथम भेद से मिलता है। (लेटिन-dixi-t)।

परस्मैपद

प्र०	अदिक्षत्	अदिक्षताम्	अदिक्षन्
म०	अदिक्षः	अदिक्षतम्	अदिक्षत
उ०	अदिक्षम्	अदिक्षाव	अदिक्षाम

आत्मनेपद

प्र०	अदिक्षत	अदिक्षाताम्	अदिक्षन्त
म०	अदिक्षथाः	अदिक्षाथाम्	अदिक्षध्वम्
उ०	अदिक्षि	अदिक्षावहि	अदिक्षामहि

(ख) इसी प्रकार दुह् (दुहना) धातु के रूप चलते हैं। इसका अंग अधुक्ष (नि० ५५) होता है। जैसे—अधुक्षम् (पर० उ०१), अधुक्षि (आ० उ० १)।

१४२. प्रथम वर्ग के अन्य तीन भेदों में धातु से पहले अ लगता है और बाद में स्, इष् और सिष् प्रत्यय क्रमशः लगते हैं। इनके रूप अदादिगणी धातु के लङ् के तुल्य (जैसे—द्विष् >अद्वेषम्) चलते हैं। कुछ आकारान्त धातुओं से पर० में ही सिष् प्रत्यय लगता है, धातु में कोई परिवर्तन नहीं होता है। स् और इष् प्रत्यय आ-भिन्न अजन्त और हलन्त धातुओं से होते हैं। दोनों प्रकार के रूपों में पर० में सर्वत्र धातुओं को वृद्धि होती है। (इष्-प्रत्यय वाले रूपों में उपधा के स्वर को वृद्धि न होकर गुण होगा)। आत्मनेपद में सर्वत्र गुण होगा (स्—प्रत्ययवाले रूपों में उपधा के स्वर और अन्तिम ऋ में कोई परिवर्तन नहीं होता है)। इन तीनों भेदों में पर० प्र०१ में ईत् और म०१ में ईस् लगता है। प्र०३ में इनमें उर् लगता है।

द्वितीय (या स्) भेद (Second or S-form)

१४३. (१) **नी (लेजाना)**, अजन्त धातु का उदाहरण :—

परस्मैपद

प्र०	अनैषीत्	अनैष्टाम्	अनैषुः
म०	अनैषीः	अनैष्टम्	अनैष्ट
उ०	अनैषम्	अनैष्व	अनैष्म

आत्मनेपद

प्र०	अनेष्ट	अनेषाताम्	अनेषत
म०	अनेष्ठाः	अनेषाथाम्	अनेढ्वम् (६६ आ २)
उ०	अनेषि	अनेष्वहि	अनेष्महि

(२) छिद् (काटना), हलन्त धातु का उदाहरण :—

परस्मैपद

प्र०	अच्छैत्सीत्	अच्छैत्ताम् (६६ आ २)	अच्छैत्सुः
म०	अच्छैत्सीः	अच्छैत्तम् (६६ आ २)	अच्छैत्त (६६ आ २)
उ०	अच्छैत्सम्	अच्छैत्स्व	अच्छैत्स्म

आत्मनेपद

प्र०	अच्छित्त (६६ आ २)	अच्छित्साताम्	अच्छित्सत
म०	अच्छित्थाः (६६ आ २)	अच्छित्साथाम्	अच्छिद्ध्वम् (६६ आ २)
उ०	अच्छित्सि	अच्छित्स्वहि	अच्छित्स्महि

(क) ऋ अन्तवाली कृ (करना) धातु के रूप भी इसी प्रकार चलते हैं:— पर० अकार्षीत् (प्र०१), अकार्षीः (म०१), अकार्षम् (उ०१) आदि। आत्मने० अकृत (प्र०१), अकृथाः (म०१), अकृषि (उ० १)। अकृत और अकृथाः, ये दोनों रूप वस्तुतः स्-भेद के उदाहरण नहीं हैं। ये स्-रहित वर्ग (Root Aorist, १४८) के द्वितीय भेद से गृहीत हैं। इनमें आत्मनेपद में गुण नहीं होता है।

स्—भेद के अपवाद-नियम
(Irregularities of the S-form)

१४४. (१) (क) स् प्रत्यय से पूर्ववर्ती धातु के अन्तिम न् और म् को अनुस्वार हो जाता है (देखो नि० ६६ अ २)। जैसे—मन् (सोचना) >अमंस्त (प्र० १)। रम् (प्रसन्न होना) >अरंस्त (प्र०१, नि० ४२ आ १)। (ख) वस् (रहना) के स् को त् हो जाता है। वस् >अवात्सीत् (प्र०१, नि० ६६ आ १)।

(२) ध्वम् प्रत्यय को ढ्वम् हो जाता है, यदि उससे पूर्ववर्ती स् का लोप

हुआ हो। यह स् यदि रहता तो ष् होकर रहता (नि० ६६ आ २)। जैसे—नी >अनेड्वम् (अ-ने-ष्-ध्वम् के स्थान पर)। कृ >अकृड्वम्। अ-कृ-ष्-ध्वम् के स्थान पर।

(३) (उ०) दा (देना), धा (रखना) और स्था (रुकना) के आ को इ हो जाता है, आत्मनेपदी तिङ् बाद में हो तो (देखो नि० १३६ अ, टिप्पणी २)। परस्मैपद में इनमें द्वितीय वर्ग के तिङ् प्रत्यय लगते हैं। (नि० १४८)। जैसे—दा >अदित (प्र०१), अदिथाः (म०१) (नि० १४३ क), अदिषि (उ० १), अदिष्वहि (उ०२) आदि।

(४) दृश् (देखना), सृज् (बनाना) और स्पृश् (छूना) धातुओं में ऋ को वृद्धि और वर्ण-विपर्यय से परस्मैपद में 'रा' हो जाता है। जैसे—सृज् >अस्राक्षीत् (प्र०१) (नि० ६३ क, टिप्पणी २), अस्राष्टाम् (प्र० २, नि० ६३ क, ६६ आ २), अस्राक्षुः (प्र०३)। आत्मने० असृष्ट (प्र०१), असृष्ठाः (म० १), असृक्षि (उ० १) आदि।

(५) दह् (जलाना) और रुध् (रोकना) धातुओं में कुछ सन्धि नियम (नि० ६६ क; ६२ ख) लगते हैं, अतः इनके लुङ् के रूप कुछ कठिन हैं। जैसे—

दह् धातु (पर०)

प्र०	अधाक्षीत्	अदाग्धाम्	अधाक्षुः
म०	अधाक्षीः	अदाग्धम्	अदाग्ध
उ०	अधाक्षम्	अधाक्ष्व	अधाक्ष्म

आत्मनेपद

प्र०	अदग्ध	अधक्षाताम्	अधक्षत
म०	अदग्धाः	अधक्षाथाम्	अधग्ध्वम् (६२ क)
उ०	अधक्षि	अधक्ष्वहि	अधक्ष्महि

रुध् धातु—पर०

प्र०	अरौत्सीत्	अरौद्धाम्	अरौत्सुः
म०	अरौत्सीः	अरौद्धम्	अरौद्ध
उ०	अरौत्सम्	अरौत्स्व	अरौत्स्म

आत्मनेपद

प्र०	अरुद्ध	अरुत्साताम्	अरुत्सत
म०	अरुद्धाः	अरुत्साथाम्	अरुद्ध्वम्
उ०	अरुत्सि	अरुत्स्वहि	अरुत्स्महि

तृतीय या इष्-भेद (Third or is-form)

१४५. इस भेद में और स्-भेद में अन्तर केवल यह है कि इसमें स् से पहले संयोजक 'इ' लग जाता है। इस 'इ' के कारण स् को ष् होकर इष् हो जाता है (नि० ६७)। प्र०१ और म०१ के अन्त्यावयव क्रमशः ईत् और ईस् (इष्+त् और इष्+स् के स्थान पर, देखो नि० २८; २५०)। श्रेण्य संस्कृत में इष्-भेद वाली परस्मैपदी अजन्त धातु संभवतः कोई नहीं है, जिसका प्रयोग मिलता हो। प्राचीन संस्कृत में केवल एक पू (पवित्र करना) धातु है, जिसके दोनों पदों में इष्-भेद वाले रूप प्राप्त होते हैं। अतः दोनों पदों के धातुरूप के उदाहरणार्थ उसे ही अपनाया गया है।

पू-धातु—परस्मैपद

प्र०	अपावीत्	अपाविष्टाम्	अपाविषुः
म०	अपावीः	अपाविष्टम्	अपाविष्ट
उ०	अपाविषम्	अपाविष्व	अपाविष्म

आत्मनेपद

प्र०	अपविष्ट	अपविषाताम्	अपविषत
म०	अपविष्ठाः	अपविषाथाम्	अपविढ्वम् (१४४, २)
उ०	अपविषि	अपविष्वहि	अपविष्महि

(क) **बुध्** (**जानना**), हलन्त धातु का एक उदाहरण है। इसमें पर० में वृद्धि नहीं होती है (नि० १४२)।

बुध् धातु—परस्मैपद

प्र०	अबोधीत्	अबोधिष्टाम्	अबोधिषुः
म०	अबोधीः	अबोधिष्टम्	अबोधिष्ट
उ०	अबोधिषम्	अबोधिष्व	अबोधिष्म

आत्मनेपद

प्र०	अबोधिष्ट	अबोधिषाताम्	अबोधिषत
म०	अबोधिष्ठाः	अबोधिषाथाम्	अबोधिढ्वम् (१४४, २)
उ०	अबोधिषि	अबोधिष्वहि	अबोधिष्महि

(ख) मद (प्रसन्न होना) और वद (बोलना) धातुओं को परस्मैपद में वृद्धि होती है। जैसे—अमादिषुः (प्र० ३), अवादीत् (प्र०१)।

चतुर्थ या सिष्-भेद (Fourth or Sis-form)

१४६. इष्-भेद से इसमें अन्तर यह है कि इसमें इष् से पहले एक स् और लग जाता है। इसके परस्मैपद में ही रूप चलते हैं। आ अन्त वाली धातुओं में ही यह भेद लगता है। ऐसी धातुएँ संख्या में ६ से अधिक नहीं हैं। उदाहरण के रूप में 'या' (जाना) धातु ली जा सकती है।

या धातु— परस्मैपद

प्र०	अयासीत्	अयासिष्टाम्	अयासिषुः
म०	अयासीः	अयासिष्टम्	अयासिष्ट
उ०	अयासिषम्	अयासिष्व	अयासिष्म

लुङ् का द्वितीय वर्ग (Second Aorist)

१४७. यह भेद धातु से साक्षात् बने हुए लङ् लकार के तुल्य है। इसमें धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में संयोजक स्वर 'अ' लगता भी है और नहीं भी।

प्रथम भेद (अ वाला भेद)। यह भेद तुदादिगणी धातु के लङ् लकार के तुल्य होता है। इसमें धातु और तिङ् के बीच में 'अ' लगता है और धातु में कोई अन्तर नहीं होता। यह ग्रीक भाषा के लुङ् के द्वितीय भेद के समकक्ष है। सिच् (सींचना) धातु के अ-भेद के रूपः—

सिच् धातु—परस्मैपद

प्र०	असिचत्	असिचताम्	असिचन्
म०	असिचः	असिचतम्	असिचत
उ०	असिचम्	असिचाव	असिचाम

आत्मनेपद

प्र०	असिचत	असिचेताम्	असिचन्त
म०	असिचथाः	असिचेथाम्	असिचध्वम्
उ०	असिचे	असिचावहि	असिचामहि

अपवाद-नियम (Irregularities)

(क) (१) ख्या (कहना) में आ के स्थान पर अ हो जाता है। ख्या > अख्यत्। (२) दृश् (देखना) में गुण होता है। दृश् > अदर्शत्। (३) अस् (फेंकना) में धातु और तिङ् के बीच में थ् और लग जाता है। अस् > आस्थत्[1]। (४) पत् (गिरना) और वच् (कहना) में द्वित्व होकर संक्षिप्त रूप रहता है। पत् > अपप्तत्, अपप्तम्; वच् > अवोचत्, अवोचम् (अ + व + उच् + अम् के स्थान पर)।

द्वितीय भेद (Second form)

१४८. इस भेद में अ-रहित धातुरूपों में लगने वाले लङ् लकार के तिङ् प्रत्यय धातुओं से लगते हैं। यह भेद ग्रीक भाषा के अ-रहित धातुरूपों के लुङ् के द्वितीय भेद से मिलता हुआ है। जैसे—धा > अधात् (रखा), स्था > अस्थात् (वह रुका), गा > अगात् (वह गया), भू > अभूत् (वह हुआ)। आ अन्तवाली कुछ धातुओं और भू (होना) धातु में यह भेद लगता है। प्र० ३ में उर् से पहले आ नहीं रहता है, अन्यत्र धातुका आ शेष रहेगा। यह भेद आत्मनेपद में नहीं होता है (देखो नि० १४३ क; १४४,३)

१. दा (देना)—परस्मैपद

प्र०	अदात्	अदाताम्	अदुः
म०	अदाः	अदातम्	अदात
उ०	अदाम्	अदाव	अदाम

२. भू (होना)—परस्मैपद

प्र०	अभूत्	अभूताम्	अभूवन्
म०	अभूः	अभूतम्	अभूत
उ०	अभूवम्	अभूव	अभूम

---

१. आस्थत् में संभवतः स्था (रुकना) धातु है और इसमें अख्यत् के तुल्य आ को अ हो गया है।

तृतीय या द्वित्ववाला भेद
(Third or Reduplicated form)

१४९. मूल धातु द्रु (दौड़ना) और श्रि (जाना) को छोड़कर यह भेद अय-प्रत्ययान्त (चुरादिगण और णिजन्त) धातु से होता है। धातु का द्वित्व वाला अंग विचित्र प्रकार से बनता है और अन्त में 'अ' लगता है। अ-युक्त धातुओं के लङ् लकार के तुल्य इनके रूप चलते हैं। श्रेण्य संस्कृत में ४० से अधिक धातुओं में यह भेद लगता है।

द्वित्व के कुछ विशेष नियम

१. अभ्यास (द्वित्व का प्रथम अंग) में अ, आ, ऋ, ॠ और लृ के स्थान पर इ हो जाता है।

२. यदि अभ्यास का स्वर दीर्घ नहीं है तो उसे दीर्घ हो जाता है।

धातुरूप के प्रथम तीन वर्णों में जगण (लघु, गुरु, लघु, ।ऽ।) का क्रम रहता है। जैसे—जन् > अजीजनत्, ग्रह् > अजीग्रहत्, श्रि > अशिश्रियत्, विश् > अवीविशत्, दृश् > अदीदृशत्, दृ > अदीदरत्, द्रु > अदुद्रुवत्, मुच् > अमूमुचत्, क्लृप् > अचीक्लृपत्।

मुच् (छोड़ना) अंग—अमूमुच

परस्मैपद

प्र०	अमूमुचत्	अमूमुचताम्	अमूमुचन्
म०	अमूमुचः	अमूमुचतम्	अमूमुचत
उ०	अमूमुचम्	अमूमुचाव	अमूमुचाम

आत्मनेपद

प्र०	अमूमुचत	अमूमुचेताम्	अमूमुचन्त
म०	अमूमुचथाः	अमूमुचेथाम्	अमूमुचध्वम्
उ०	अमूमुचे	अमूमुचावहि	अमूमुचामहि

अपवाद नियम (Irregularities)

(क) (१) राध् (सफल होना) और व्यध् (बींधना) में धातु के स्वर को ह्रस्व हो जाता है, जिससे उनकी स्वर-गति संतुलित हो जाती है। रध् > अरीरधत्, व्यध् > अवीविधत् (देखो नि० १३३ आ २)।

(२) दीप् (चमकना) और मील् (आँख बन्द करना) में धातु के दीर्घ स्वर को ह्रस्व नहीं होता और अभ्यास का ह्रस्व स्वर ह्रस्व ही रहता है। इस प्रकार दोनों स्वरों का परिमाण क्रमभेद से सामान्य परिमाण के बराबर ही रहता है, अर्थात् ह्रस्व और दीर्घ। दीप् > अदिदीपद्, मील् > अमिमीलत्।

आशीर्लिङ् (Benedictive or Precative)

१५०. श्रेण्य संस्कृत में इनके परस्मैपद का प्रयोग बहुत कम मिलता है और आत्मनेपद का प्रयोग सर्वथा नहीं मिलता। यह वस्तुतः विध्यर्थक लुङ् है और धातु के बाद तिङ् प्रत्यय साक्षात् मिलाकर बनाया जाता है। अ-रहित धातुरूपों के विधिलिङ् में लगने वाले तिङ् प्रत्यय ही इसमें भी लगते हैं। अन्तर केवल इतना है कि या और तिङ् प्रत्ययों के बीच में स् और लग जाता है। प्र०१ और म०१ के अन्त्यावयव यास् (या-स्-त्=यास् के स्थान पर, देखो नि० २८; १४५) और यान् (या-स्-स् के स्थान पर) हैं और ये दोनों अन्त्यावयव विधिलिङ् के अन्तिम अवयव से सर्वथा मिलते हैं (नि० १३१)। बुध् (जागना) के पर० आशीर्लिङ् के रूप ये होंगे :—

बुध्-धातु—आशीर्लिङ्

प्र०	बुध्यात्	बुध्यास्ताम्	बुध्यासुः
म०	बुध्याः	बुध्यास्तम्	बुध्यास्त
उ०	बुध्यासम्	बुध्यास्व	बुध्यास्म

लृट् लकार (Simple future)

१५१. लृट् लकार के रूप धातु के बाद स्य लगाकर या इष्य लगाकर बनाए जाते हैं और इसके रूप भ्वादिगण के लट् के तुल्य (भवति) चलते हैं। ऋ अन्तवाली धातुओं को छोड़कर अधिकांश अजन्त धातुओं के बाद 'स्य' लगता है। हलन्त धातुओं में आधे से अधिक धातुओं में 'इष्य' लगता है। णिच् आदि प्रत्ययान्त धातुओं में 'इष्य' ही लगता है।

(क) धातु के अन्तिम स्वरों को तथा उपधा के ह्रस्व स्वर को गुण होता है। जैसे—इ (जाना) > एष्यति; बुध् (जागना) > भोत्स्यते, (नि० ५५); रुध् (रोकना) > रोत्स्यति; कृ (करना) > करिष्यति; भू (होना) > भविष्यति।

(१) बहुत सी धातुओं में स्य और इष्य दोनों लगते हैं। जैसे—दह् (जलाना) >धक्ष्यति (५५) और दहिष्यति।

(२) अय-प्रत्ययान्त धातुओं में अय् शेष रहेगा और अन्तिम अ का लोप हो जाएगा। जैसे—चोरय (चुराना) >चोरयिष्यति।

दा (देना)—परस्मैपद

प्र०	दास्यति	दास्यतः	दास्यन्ति
म०	दास्यसि	दास्यथः	दास्यथ
उ०	दास्यामि	दास्यावः	दास्यामः

आत्मनेपद

प्र०	दास्यते	दास्येते	दास्यन्ते
म०	दास्यसे	दास्येथे	दास्यध्वे
उ०	दास्ये	दास्यावहे	दास्यामहे

अपवाद-नियम (Irregularities)

(ख) (१) स्य से पहले बहुत सी धातुओं में अर् के स्थान पर 'र' शेष रहता है (नि० १४४,४)। ये धातुएँ हैं—दृश् (देखना), सृज् (छोड़ना, निकालना), सृप् (रेंगना) और स्पृश् (छूना)। दृश् >द्रक्ष्यति (६३ ख), सृज् > स्रक्ष्यति, (६३ क), सृप् >स्रप्स्यति, स्पृश् >स्प्रक्ष्यति।

(२) कुछ धातुओं में स्य से पहले न् का आगम हो जाता है। नश् (नष्ट होना) >नङ्क्ष्यति और नशिष्यति; मज्ज् (डूबना) >मङ्क्ष्यति।

(३) वस् (रहना) के स् को त् हो जाता है, बाद में स्य हो तो। वस् > वत्स्यति (६६ आ १)।

(४) ग्रह् (पकड़ना) धातु में स्य से पहले इ के स्थान पर ई लगता है। ग्रह् >ग्रहीष्यति (देखो नि० १६०, ३क)।

लुट् लकार (Periphrastic Future)

१५२. यह लकार धातु से कर्तृ०-बोधक तृ-प्रत्यय (१०१) पुं० प्रथमा एक० 'ता' के बाद अस् (होना) धातु के लट् लकार के रूप लगाने से बनता है। प्र० २ और ३ को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर 'ता' ही लगता है। प्र०२ और ३ में तृ का द्वि० और बहु० अर्थात् तारौ, तारः लगते हैं। परस्मै-

पद में ही लुट् का प्रयोग मिलता है। लगभग ४० धातुओं से, मुख्यतया रामायण और महाभारत में, लुट् लकार के रूप मिलते हैं।

(क) धातु को गुण होता है और बाद में इ-सहित या इ रहित 'ता' लगता है। इ का आगम बहुत कुछ लृट् लकार (स्य से पूर्व) के तुल्य होता है। ऋ अन्तवाली धातुओं में तथा—गम् (जाना) और हन् (मारना) में ता से पहले इ नहीं लगता है। जैसे—कृ > कर्तास्मि (किन्तु लृट् में करिष्यामि); गम् > गन्तास्मि (किन्तु लृट् में गमिष्यामि)।

भू (होना) लुट्—परस्मैपद

प्र०	भविता	भवितारौ	भवितारः
म०	भवितासि	भवितास्थः	भवितास्थ
उ०	भवितास्मि	भवितास्वः	भवितास्मः

इ (जाना) लुट्—परस्मैपद

प्र०	एता	एतारौ	एतारः
म०	एतासि	एतास्थः	एतास्थ
उ०	एतास्मि	एतास्वः	एतास्मः

लृङ् लकार (conditional)

१५३. यह भविष्यत् का भूतकालिक प्रयोग है। अर्थ होगा—'ऐसा हुआ होता'। लृट् लकार को ही भूतकाल बना देने पर इस लकार के रूप बनेंगे और भ्वादिगण लङ् के तुल्य (अभवत् आदि) इसके रूप चलेंगे। इसके पर० में भी बहुत कम रूप मिलते हैं तथा आत्मनेपद में तो और कम रूप मिलते हैं। इसका मुख्यतया प्रयोग रामायण, महाभारत और नाटकों में ही मिलता है। इसके उदाहरण हैं :—भू (होना)।

(लृट्—भविष्यति) लृङ्—अभविष्यत् (प्र० १), अभविष्यः (म० १), अभविष्यम् (उ० १) आदि। (लृङ् आत्मने०)—अभविष्यत (प्र० १), अभविष्ये (उ० १) आदि। इ (जाना) (लृट्—एष्यति, एष्यामि) लृङ्—ऐष्यत् (प्र० १), ऐष्यः (म० १), ऐष्यम् (उ० १) आदि। आत्मनेपद—ऐष्यत (प्र० १), ऐष्ये (उ० १) आदि।

कर्मवाच्य (Passive)

१५४. कर्मवाच्य में आत्मनेपदी तिङ् प्रत्यय लगते हैं। सार्वधातुक लकारं में और लुङ् प्र०१ में इसका अंग भिन्न होता है। दिवादिगण की आत्मनेपदं धातुओं से केवल स्वर में अन्तर होता है। जैसे—नह् >नह्यते (वह बाँधत है), नह्यते (वह बाँधा जाता है)।

धातु में 'य' लगता है। य से पहले धातुओं में ये परिवर्तन होते हैं :—

(१) धातु का अन्तिम आ (या एच् अर्थात् ए ओ ऐ औ के स्थान पर होने वाला आ, नि० १२९, ८) आ ही रहता है या उसे ई हो जाता है जैसे—ज्ञा (जानना) >ज्ञायते; पा (पीना) >पीयते; गा (गाना) (या गै) > गीयते।

(२) धातु के अन्तिम इ और उ को दीर्घ हो जाता है। जैसे—इ (जाना) >ईयते; चि (इकट्ठा करना) >चीयते; श्रु (सुनना) >श्रूयते।

(३) धातु के अन्तिम ऋ से पहले एक व्यंजन होगा तो ऋ को रि होगा और दो व्यंजन पहले होंगे तो ऋ को अर् होगा। जैसे—कृ (करना) > क्रियते; किन्तु स्मृ (स्मरण करना) >स्मर्यते।

(४) धातु के अन्तिम ॠ को ईर् होता है, यदि पवर्ग पहले होगा तो ऊर् होगा। जैसे—कॄ (बखेरना) >कीर्यते; स्तॄ (फैलाना) >स्तीर्यते; किन्तु पॄ (पूरा करना) >पूर्यते।

(५) हलन्त धातुओं की उपधा में न् होगा तो उसका लोप हो जाएगा। जैसे—भञ्ज् (तोड़ना) >भज्यते।

(६) जिन धातुओं में संप्रसारण हो सकता है, (नि० १३७, २ग), उनमें संप्रसारण होगा। जैसे—यज् >इज्यते; वच् >उच्यते; ग्रह् >गृह्यते; स्वप् > सुप्यते।

(७) अय (णिच्)—प्रत्ययान्त धातुओं में से 'अय' का लोप हो जाता है और धातु अपने पित् (सबल) रूप में विद्यमान रहती है। जैसे—चोरय > चोर्यते; कृ+णिच्=कारय >कार्यते।

भू (होना), कर्मवाच्य

लट्

प्र०	भूयते	भूयेते	भूयन्ते
म०	भूयसे	भूयेथे	भूयध्वे
उ०	भूये	भूयावहे	भूयामहे

लङ्

प्र०	अभूयत	अभूयेताम्	अभूयन्त
म०	अभूयथाः	अभूयेथाम्	अभूयध्वम्
उ०	अभूये	अभूयावहि	अभूयामहि

लोट्

प्र०	भूयताम्	भूयेताम्	भूयन्ताम्
म०	भूयस्व	भूयेयाम्	भूयध्वम्
उ०	भूयै	भूयावहै	भूयामहै

विधिलिङ्

प्र०	भूयेत	भूयेयाताम्	भूयेरन्
म०	भूयेथाः	भूयेयाथाम्	भूयेध्वम्
उ०	भूयेय	भूयेवहि	भूयेमहि

अपवाद-नियम (Irregularities)

(क) (१) खन् (खोदना) और तन् (फैलाना) के दो रूप होते हैं। खन् >खन्यते, खायते; तन्>तन्यते, तायते। जन् (पैदा होना) का जायते (पैदा होता है) रूप बनता है। (वस्तुतः यह दिवादिगणी आत्मनेपदी धातु है, देखो नि० १३३ आ २)।

(२) शास् (आज्ञा देना) के दो रूप होते हैं। शास्>शास्यते, शिष्यते (देखो नि० १३४, ४क)।

(३) ह्वा (पुकारना) (या ह्वे धातु) का हूयते रूप बनता है (देखो नि० १३६, ४) और वा (या वे) (बुनना) का ऊयते रूप होता है।

कर्मवाच्य लुङ् (Aorist Passive)

१५५. लुङ् आत्मनेपद के रूप कर्मवाच्य लुङ् का काम देते हैं, केवल प्र०१

में कर्मवाच्य का विशेष रूप बनता है, लुङ् प्र०१ में धातु से पहले अ लगत है और अन्त में इ प्रत्यय लगता है। इस 'इ' से पहले धातु के अन्तिम स्वर क वृद्धि होती है और धातु की उपधा के ह्रस्व स्वर को गुण होता है। उपध के अ को आ हो जाता है। धातु के अन्तिम आ के बाद य् का आगम होत है। जैसे—श्रु (सुनना) >अश्रावि; कृ (करना) > अकारि; पद् (चलना) > अपादि; विश् (प्रवेश करना) > अवेशि; मुच् (छोड़ना) > अमोचि; ज्ञ (जानना) > अज्ञायि।

(१) निम्नलिखित धातुएँ उपर्युक्त नियम की अपवाद हैं :—

(१) रभ् (आरम्भ करना) धातु में न् लग जाता है, अरम्भि।

(२) पॄ (पूरा करना) > अपूरि (देखो नि० १५४, ४)। (३) गम (जाना), रच् (बनाना) और वध् (मारना) में अ को आ नहीं होता। गम् > अगमि, रच् > अरचि, वध् > अवधि। (४) 'अय'-प्रत्ययान्त धातुओं के अय का लोप हो जाता है (देखो नि० १५४, ७)। जैसे—रुह् (चढ़ना) स प्रेरणार्थक रोपय>अरोपि।

कृत्-प्रत्ययः शतृ, शानच्, क्त्वा, ल्यप् और तुमुन्
(Participles, Gerunds and Infinitive)

(१) कर्तृवाच्य कृत् प्रत्यय (शतृ, क्वसु)
(Active Participles)

१५६. लट् (वर्तमान) और लृट् (भविष्यत्) परस्मैपद के शतृ-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए धातु के बाद अत् लगाया जाता है (नि० ८५)। लट् और लृट् के प्र० पु० बहुवचन के रूप में से अन्तिम इ हटा देने से सबल अंग प्राप्त हो जाता है। अतएव जुहोत्यादि (तृतीय) गण की तथा अन्य द्वित्व होने वाली धातुओं (१३४ अ ४) में लट् के स्थान पर शतृ (अत्) प्रत्यय करने पर अंग में न् नहीं मिलता है, परन्तु लृट् के स्थान पर अत् प्रत्यय करने पर न् अवश्य मिलता है, अतः लृट् के स्थान पर होने वाला अत् अन्त रहता है। निम्न-लिखित प्रकार से रूप बनेंगे :—

धातु	लट् प्र०३	शतृ का अंग (सवल)	लृट् प्र०३	शतृ का अंग (सवल)
भू (१)	भवन्ति	भवन्त्	भविष्यन्ति	भविष्यन्त्
क्री (९)	क्रीणन्ति	क्रीणन्त्	क्रेष्यन्ति	क्रेष्यन्त्
(हु) (३)	जुह्वति	जुह्वत्	होष्यन्ति	होष्यन्त्

(क) अस् (होना) का वर्तमानकालिक शतृ-प्रत्ययान्त अंग प्र०३ सन्ति के आधार पर सन्त् होता है और हन् (मारना) का घ्नन्ति (प्र०३)[1] के आधार पर घ्नन्त् होता है।

१५७. लिट्-स्थानीय कृत्-प्रत्यय (**The Reduplicated Perfect Participle**) (नि० ८९) बनाने का सरल उपाय यह है कि पर० लिट् प्र०३ का रूप लेने पर भस्थान वाला अंग तुरन्त बन जाता है। (केवल प्रत्यय के अन्तिम र्[2] को स् करना होगा और पूर्ववर्ती उ स्वर के कारण स् को ष् हो जाएगा)। पंचस्थानीय और पदस्थानीय अंग बनाने के लिए यदि लिट् प्र०३ वाले रूप में उस् के कारण धातु में यण् हो तो उसे अपने पुराने स्वर के रूप में रखना होगा और यदि उस् के हटाने पर धातु एकाच् (एक स्वर वाली) हो जाती हो तो वस् से पहले 'इ' का आगम हो जाएगा।

धातु	लिट् प्र०३	भस्थान अंग (weakest stem)	पंचस्थान अंग (strong stem)	पदस्थान अंग (middle stem)
कृ	चक्रुः	चक्रुषा	चकृवांसम्	चकृवद्भिः
भू	बभूवुः	बभूवुषा	बभूवांसम्	बभूवद्भिः
तन्	तेनुः	तेनुषा	तेनिवांसम्	तेनिवद्भिः
यज्	ईजुः	ईजुषा	ईजिवांसम्	ईजिवद्भिः

(क) विद् (जानना) धातु से वस् प्रत्यय करने पर (लट् प्र० ३ विदुः) बीच में इ नहीं लगता है। विद् > विद्वस्, तृ०१ विदुषा, द्वि०१ विद्वांसम्, तृ० ३ विद्वद्भिः।

---

१. अत्-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप के लिए देखो नियम ८५। इनके स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिए देखो नियम ९५ क।

२. देखो नि० १३१,६।

(२) आत्मनेपद और कर्मवाच्य कृत्-प्रत्यय
(Atmanepada and Passive Participles)

१५८. आत्मनेपद और कर्मवाच्य में लट् तथा लृट् के स्थान पर कृत् प्रत्यय 'मान' लगाया जाता है। यह प्र० ३ के न्ते के स्थान पर लगता है जैसे—भू (आत्मने० लट् प्र०३) >भवन्ते का भवमान; लृट् प्र०३ भविष्यन्ते का भविष्यमाण; कर्मवाच्य लट् प्र० ३ भूयन्ते का भूयमान।

(क) अ-रहित धातुरूपों में लट् आत्मने० में आन लगता है। जु > जुह्वान (किन्तु लृट् में होष्यमाण और कर्म में हूयमान बनता है)। आस् (बैठना) में एक विशेष प्रत्यय ईन लगता है। आस् >आसीन (बैठा हुआ)।

१५६. लिट् आत्मनेपद से कृत्-प्रत्ययान्त रूप 'आन' प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं। यह लिट् प्र० ३ वाले रूप में से 'इरे' हटाकर 'आन' लगाने से बनता है। जैसे—भू लिट् प्र० ३ >बभूविरे से बभूवान। ऐसे प्रयोग लुप्तप्राय हो गए हैं। थोड़े से आन-प्रत्ययान्त प्रयोग शेष हैं और ये संज्ञा-शब्द या विशेषण-शब्द के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—अनु+वच् (दुहराना) >अनूचान (विद्वान्)।

१६०. क्त-प्रत्यय (Perfect Passive Participle)। यह अधिक प्रचलित 'त' प्रत्यय या 'न' प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है।

(१) **'न' प्रत्यय**। यह मूल धातु से ही होता है और धातु के तुरन्त बाद लगता है। यह आ, ई, ऊ, ॠ (जिसे ईर् या ऊर् हो जाता है) और विशेषतया द् अन्त वाली धातुओं से होता है। जैसे—म्ला (मुरझाना) >म्लान; ली (चिपकना) >लीन; लू (काटना) >लून; स्तॄ (बिछाना) >स्तीर्ण; पॄ (पूरा करना) >पूर्ण (नि० १५४, ४); भिद् (तोड़ना) >भिन्न।

(क) नुद् (प्रेरणा देना) और विद् (पाना) धातुओं से विकल्प से त भी लगता है। नुद् >नुन्न, नुत्त; विद् >विन्न, वित्त।

(ख) ज् अन्तवाली कुछ धातुओं से 'न' होता है और ज् को मूलध्वनि कवर्ग अर्थात् ग् हो जाता है। जैसे—भञ्ज् (तोड़ना) >भग्न; भुज् (झुकना) भुग्न; मज्ज् (डूबना) >मग्न; विज् (घबड़ाना) >विग्न।

(२) **त प्रत्यय**। धातुओं से इ के साथ या बिना इ के त प्रत्यय लगता

है। जैसे—जि > जित (जीता); पत् > पतित (गिरा)। जहाँ पर धातु से साक्षात् त प्रत्यय जुड़ता है, वहाँ पर धातु स्वभावतः अपने निर्बल अंग में होती है। जिन धातुओं में संप्रसारण (१३७, २ ग) हो सकता है, उनमें सम्प्रसारण होता है। कुछ धातुओं में अन्तिम आ को ई होता है और कुछ में इ। बहुत-सी धातुओं में अन्तिम नासिक्य वर्ण (न्, म्) का लोप हो जाता है।[1] जैसे—यज् (यज्ञ करना) > इष्ट, (६३क; ६४); वच् (कहना) > उक्त; स्वप् (सोना) > सुप्त; पा (पीना) > पीत; स्था (रुकना) > स्थित (लेटिन-Sta-tu-s); गम् (जाना) > गत; हन् (मारना) > हत।

(क) धा (रखना) धातु में दुहरी निर्बलता होती है। धा > हित (धित के स्थान पर)।

(ख) दा (देना) को सार्वधातुक निर्बल अंग दद् हो जाता है। दा > दत्त। कुछ उपसर्गों के बाद दत्त का संक्षिप्त रूप त्त शेष रहता है। जैसे—आ + दा > आत्त (लिया) (आदत्त के स्थान पर)।

(ग) अम् अन्तवाली बहुत सी धातुओं में म् का लोप नहीं होता और म् से पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ हो जाता है। जैसे—कम् (प्रेम करना) > कान्त।

(घ) ध्वन् (शब्द करना) में कम् आदि के तुल्य उपधा के अ को आ होता है। ध्वन् > ध्वान्त। कुछ अन् अन्त वाली धातुएँ आकारान्त हो जाती हैं, अर्थात् अन् को आ हो जाता है। जैसे—खन् (खोदना) > खात; जन् (पैदा होना) > जात।

(३) **इत प्रत्यय**। एक या दो व्यंजन अन्त वाली बहुत सी धातुओं से 'इत' प्रत्यय होता है। यह ऐसे स्थानों पर होता है, जहाँ मूलधातु का त के साथ सरलता से संयोग नहीं हो सकता है। सभी णिच् आदि प्रत्ययान्त धातुओं से इत लगता है और अन्तिम अ या अय का लोप होता है। जैसे—शङ्क् (शंका करना) > शङ्कित; लिख् (लिखना) > लिखित; आप् (पाना) + स = ईप्स > ईप्सित; कृ (करना) + णिच् = कारय > कारित।

(क) 'इत' से पहले साधारणतया धातु का पूर्ण रूप रहता है, किन्तु इत से पहले वद् (कहना) और वस् (रहना) धातुओं में संप्रसारण हो जाता है।

---

१. ह् अन्त वाली धातुओं में ह् + त में सन्धि नियम के लिए देखें नि० ६६।

वद् > उदित; वस् > उषित। ग्रह् (पकड़ना) में सदा संप्रसारण होता है और इ के स्थान पर ई संयोजक-स्वर लगता है। ग्रह् > गृहीत (देखो नि० १५१ ख ४)।

१६१. **तवत् प्रत्यय**—त प्रत्ययान्त कृदन्त रूप में मत्वर्थक वत् प्रत्यय लगाकर एक बहुत प्रचलित नवीन तवत् प्रत्यय बनाया जाता है। यह कर्तृ-वाच्य भूतकालिक प्रत्यय का काम देता है। जैसे—कृतः (किया), कृतवत् (किया है)। यह प्रायः निश्चित क्रिया (finite verb) के रूप में प्रयुक्त होती है और इसमें संयोजक पद लुप्त रहता है। जैसे—स तत् कृतवान् (उसने वह काम किया है); सा तत् कृतवती (उस स्त्री ने वह काम किया है)।(देखो नि० ८६, पादटिप्पणी ३)।

१६२. **योग्य अर्थ वाले कृत्य प्रत्यय (The future passive Participle)।** य, तव्य और अनीय प्रत्यय लगाकर ये कृत्य प्रत्यय बनते हैं। ये अर्थ की दृष्टि से लेटिन में—ndus अन्त वाले Gerundive के समकक्ष हैं।

१. य प्रत्यय बाद में होने पर—

(क) धातु के अन्तिम आ को ए हो जाता है। दा > देय (देने योग्य)।

(ख) धातु के अन्तिम इ और ई को गुण होता है, उ और ऊ को गुण या वृद्धि होती है, ऋ और ॠ को वृद्धि होती है। जैसे—जि > जेय (जीतने योग्य); नी > नेय (ले जाने योग्य); हु > हव्य (आहुति देने योग्य); भू > भाव्य (होने योग्य); कृ > कार्य (करने योग्य)।

(ग) उपधा के इ और उ को प्रायः गुण होता है। उपधा के अ को कभी-कभी दीर्घ हो जाता है—और ऋ में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जैसे—भिद् > भेद्य(तोड़ने योग्य); युज् > योज्य (जोड़ने योग्य); शक् > शक्य(संभव); किन्तु वच् > वाच्य (कहने के योग्य); दृश् > दृश्य (देखने योग्य)।

(२) **तव्य प्रत्यय**। तव्य प्रत्यय से पहले धातु में गुण होता है और जिस प्रकार लुट् लकार (१५२) के ता से पहले कार्य होता है, उसी प्रकार इसमें भी कार्य होंगे। जैसे—जि > जेतव्य (जीतने योग्य); भू > भवितव्य (होन-हार); गम् > गन्तव्य (जाने योग्य); दा > दातव्य (देने योग्य); भिद् > भेत्तव्य (तोड़ने योग्य)।

(३) **अनीय प्रत्यय।** अनीय प्रत्यय से पहले धातु में गुण होता है। जैसे—चि > चयनीय (एकत्र करने योग्य); भू > भवनीय (होनहार); कृ > करणीय (करने योग्य); लुभ् > लोभनीय (चाहने योग्य)।

(क) प्रेरणार्थक 'अय' प्रत्यय का लोप हो जाता है। भू + णिच् = भावय > भावनीय (संभावित)।

(३) क्त्वार्थक प्रत्यय
(Gerund or Indeclinable Participle)

१६३. क्त्वा प्रत्यय। क्त्वार्थक रूप बनाने के लिए सामान्य धातु में 'त्वा' प्रत्यय होता है (यह 'तु' शब्द का तृतीया एक० का प्राचीन रूप है) त्वा-प्रत्ययान्त रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि भूतकालिक त-प्रत्ययान्त रूप में त के स्थान पर त्वा कर दें। जैसे—कृ + त = कृत (किया) > कृत्वा (करके); वच् > उक्त (कहा) > उक्त्वा (कहकर); गम् > गत (गया) > गत्वा (जाकर)।

(क) त्वा-प्रत्यय करने पर प्रेरणार्थक 'अय' प्रत्यय का लोप नहीं होता है। जैसे—चुर् + णिच् + त > चोरित (चुराया), किन्तु त्वा में चोरयित्वा (चुराकर)।

१६४. ल्यप् प्रत्यय। यदि धातु से पहले उपसर्ग होगा और धातु का उपसर्ग के साथ समास होगा तो त्वा के स्थान पर 'य' लगेगा। जैसे—भू (होना) > भूत्वा, किन्तु सम् + भू > संभूय; वच् (कहना) > उक्त्वा, प्रोच्य; तॄ (पार करना) > अवतीर्य; पॄ (पूरा करना) > संपूर्य।

(क) यदि धातु में ह्रस्व स्वर है तो य से पहले प्रेरणार्थक अय शेष रहेगा, केवल अय के अन्तिम अ का ही लोप होगा।[1] जैसे—सम् + गम् + णिच् = संगमय (एकत्र करना) > संगमय्य, किन्तु विचारय (सोचना) का विचार्य रूप बनेगा, अर्थात् अय का लोप होगा।

१६५. त्य प्रत्यय। उपसर्गयुक्त धातु यदि ह्रस्व स्वरान्त है तो य के स्थान पर त्य प्रत्यय लगेगा। जि > जित्वा, किन्तु विजित्य।

(क) इन धातुओं के सादृश्य पर ही 'अ' उपधा वाली और न् या म् अन्त

---

१. अन्यथा सामान्य और प्रेरणार्थक धातु से य प्रत्यय करने पर एक ही रूप बनता।

वाली धातुओं से विकल्प मे 'त्य' प्रत्यय लगता है। यदि भूतकालिक त-प्रत्यय करने पर न् या म् का लोप होना है (१६०, २) तो यहाँ पर भी न् या म् का लोप होगा। जैसे—गम् (जाना) > आगम्य, आगत्य (त में गत); नम् (झुकना) > प्रणम्य (६५), प्रणत्य (त में नत); मन् (सोचना) > अवमन्य, अवमत्य (त में मत); हन् (मारना) > संहन्य, सहत्य (त में हत); तन् (फैलाना) > विताय (नि० १५४ क १), वितत्य (त में तत)। किन्तु क्रम् (चलना) का संक्रम्य ही होता है (त में क्रान्त) और खन् (खोदना) का निखाय (त में खात, नि० १५४ क १)।

१६६. अम् प्रत्यय। त्वा के अर्थ में ही बहुत कम प्रयुक्त एक अम् प्रत्यय है। यह अव्यय होता है इसका रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि धातु का कर्मवाच्य लुङ् प्र० १ में इ से पहले जो रूप बनता है (नि० १५५) उसमें ही अम् जोड़ दिया जाए। जैसे—श्रु (सुनना) > अश्रावि (कर्म० लुङ् प्र० १, ऐसा सुना गया) > श्रावम् (सुनकर)।

(४) तुम् प्रत्यय (Infinitive)

१६७. तुम् प्रत्यय। लुट् लकार (१५२) के 'ता' या कृत्य प्रत्यय 'तव्य' (१६८, २) से पहले धातु का जो रूप होता है, उससे ही तुम् प्रत्यय लगाया जाता है। (यह तुम् प्रत्यय मूलरूप में तु शब्द का द्वि० १ का रूप है)। तुम्-प्रत्ययान्त रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि ता या तव्य के स्थान पर तुम् लगा दें जैसे—स्था (रुकना) > स्थातुम् (लेटिन—Sta-tum); बुध् > बोधितुम् (जागने को); भू > भवितुम् (होने को); कृ > कर्तुम् (करने को); दृश् > द्रष्टुम् (१५१ ख १) (देखने को); वह् > वोढुम् (६९ख) (ढोने को); सह् > सोढुम् (६९ ख) (सहने को); चुर् > चोरयितुम् (चुराने को)।

प्रक्रियाएँ (Derivative Verbs)

(१) णिजन्त प्रक्रिया (Causatives)

१६८. णिच् (अय) प्रत्यय। प्रक्रियाओं में यह सबसे अधिक प्रचलित है। यह चुरादिगणी धातुओं (१२५, ४) के तुल्य धातु से 'अय' प्रत्यय लगाकर

बनाया जाता है और चुरादिगणी धातुओं के तुल्य ही इसके रूप चलते हैं। जैसे—नी (ले जाना) > नायय (लिवा जाना), कृ (कराना) > कारय (करना); विद् (जानना) > वेदय (बताना); सद् (बैठना) > सादय (बैठाना)।

(क) आ अन्त वाली बहुत सी धातुओं में अय से पहले प् और लग जाता है। जैसे—दा (देना) > दापय = (दिलाना); स्था (रुकना) > स्थापय (स्थापित करना)।

(ख) यह प्रेरणार्थक 'अय' प्रत्यय (चुरादिगण के तुल्य) द्वित्व वाले लुङ् को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह शेष रहता है। (द्वित्व वाला लुङ् केवल अर्थ की दृष्टि से ही प्रेरणार्थक से सम्बद्ध है, देखो नि० १४९)।

अपवाद-नियम (Irregularities)

(१) निम्नलिखित धातुओं में 'पय' से पहले धातु के आ को विकल्प से अ हो जाता है :—ज्ञा (जानना), ग्ला (खिन्न होना), म्ला (मुरझाना), स्ना (नहाना)। जैसे—ज्ञा > ज्ञापय, ज्ञपय आदि।

(२) निम्नलिखित कुछ आकारान्त से भिन्न धातुओं में भी 'पय' लगता है :—जि (जीतना) > जापय (जिताना); अधि + इ (पढ़ना) > अध्यापय (पढ़ाना); ऋ (जाना) > अर्पय (देना, रखना); रुह् (उगना) > रोपय, रोहय (उगाना, उठाना)।

(३) निम्नलिखित धातुओं के अय प्रत्यय करने पर ये रूप होते हैं :—धू (हिलाना); > धूनय (हिलाना) प्री (प्रेम करना) > प्रीणय (प्रसन्न करना); भी (डरना) > भीषय, भायय (डराना)।

(४) लभ् (पाना) में अय से पहले न् का आगम होता है। लभ् > लम्भय। दंश् (काटना) का न् शेष रहता है। दंश् > दंशय (नि० १३३ अ ४)।

(५) हन् (मारना) को अय करने पर नामधातु रूप 'घातय' (वध कराना)। हो जाता है।

(२) सन्नन्त प्रक्रिया (Desideratives)

१६९. सन् प्रत्यय। सन्-प्रत्ययान्त रूप बनाने के लिए धातु से स प्रत्यय

लगाया जाता है और धातु को एक विचित्र प्रकार से द्वित्व किया जाता है। लगभग ७० धातुओं में धातु से साक्षात् 'स' लगता है और लगभग ३० धातुओं में इष (संयोजक इ+स) लगता है। अतः भू (होना)>बुभूष (होने की इच्छा); किन्तु जीव् (जीना) का जिजीविष होना है। भ्वादिगणी धातुओं (१३२) के तुल्य सन्-प्रत्ययान्त के रूप चलते हैं।

अभ्यास (द्वित्व का प्रथम अंश) पर ही उदात्त स्वर रहता है और सामान्यतया धातु में कोई परिवर्तन नहीं होता है। निम्नलिखित इसके अपवाद हैं:—

(१) स से पूर्ववर्ती इ को ई, उ को ऊ, ऋ और ॠ को ईर् या ओष्ठ्यवर्ण पहले होने पर ऊर् होता है। जैसे—चि (इकट्ठा करना)>चिचीष; स्तु (प्रशंसा करना)>तुष्टूष; तॄ (पार करना)>तितीर्ष; मृ (मरना) मुमूर्ष।

(२) 'इष' बाद में होने पर धातु के अन्तिम ई, उ और ॠ को गुण होता है। उपधा के ऋ को भी गुण होता है। उपधा के उ को एक धातु में गुण होता है और उपधा के इ को कहीं गुण नहीं होता। जैसे—शी (सोना)> शिशयिष; शॄ (नष्ट होना)>शिशरिष; नृत् (नाचना)>निनर्तिष; शुभ् (शोभित होना)>शुशोभिष; विद् (जानना)>विविदिष, विवित्स।

द्वित्व के मुख्य नियम
(Special Rules of Reduplication)

१७०. (१) अभ्यास (द्वित्व का प्रथम अंश) में अ, आ और ऋ को इ होता है। किन्तु जहाँ पर ओष्ठ्य के बाद ऋ को उर् होता है, वहाँ अभ्यास में उ रहता है)। जैसे—दह् (जलाना)>दिधक्ष (५५;६९ क); स्था (रुकना)> तिष्ठास; सृज् (उत्पन्न करना)>सिसृक्ष (६३ क); भृ (धारण करना> बुभूर्ष।

(क) जिन धातुओं में उपधा में इ और उ हैं उन्हें सामान्य रूप से द्वित्व होता है। जैसे—विश् (प्रवेश करना)> विविक्ष (६३ ख); बुध् (जानना)> बुभुत्स (५५), दुह् (दुहना)>दुधुक्ष (५५; ६९ क); रुह् (उगना)>रुरुक्ष इस प्रकार उ और ऊ से युक्त धातुओं को छोड़कर शेष सभी में अभ्यास में इ रहता है।

(२) अजादि दो या तीन धातुएँ ऐसी हैं, जिनमें सन्नन्त रूप धातु में इ लगाकर अभ्यास बनाया जाता है। जैसे—अश् (खाना) > आशिशिष; ईक्ष् (देखना) > ईचिक्षिष। आप् (पाना) में एकादेश होकर ईप्स अंग होता है।

अपवाद-नियम (Irregularities)

१७१. (१) गम् (जाना) और हन् (मारना) में धातु के अ को आ होता है। मन् (सोचना) में धातु के अ को आ होता है और अभ्यास के इ को ई होता है। जैसे—गम् > जिगांस (जिगमिष भी होता है); हन् > जिघांस (६६ अ २); मन् > मीमांस (६६ अ २) (सोचना)।

(२) ग्रह् (पकड़ना), प्रच्छ् (पूछना) और स्वप् (सोना) में संप्रसारण होता है। ग्रह् > जिघृक्ष (५५; ६९ क); प्रच्छ् > पिपृच्छिष; स्वप् > सुषुप्स।

(३) निम्नलिखित धातुओं में प्रथम दो वर्णों को इस प्रकार एकादेश होता है कि अभ्यास शेष रहता है और धातु का एक व्यंजन :—दा (देना), धा (रखना), मा (तोलना), पद् (जाना), रभ् (आरम्भ करना), लभ् (पाना), शक् (सकना)। दा > दित्स; धा > धित्स (दिधास के स्थान पर, नि०५५); मा > मित्स; पद् > पित्स; रभ् > रिप्स; लभ् > लिप्स; शक् > शिक्ष।

(४) चि (चुनना), जि (जीतना) और हन् (मारना) (नि० १७१, १) धातुओं में उनकी मूल कवर्ग ध्वनि आ जाती है। चि > चिकीष (चिचीष भी); जि > जिगीष; हन् > जिघांस।

(५) घस् (खाना) में स् को त् हो जाता है। घस् > जिघत्स (भूखा होना)।

(३) यङन्त और लुगन्त प्रक्रिया)

(Intensives or frequentatives)

१७२. सामान्य धातु से जो अर्थ बताया जाता है, उसके अतिशय या पौनःपुन्य (बार बार होना) को बताने के लिए यङ् प्रत्यय होता है। हलादि और एक स्वर वाली धातुओं से ही यङ् प्रत्यय होता है। अतएव चुरादिगणी धातुओं से तथा अद् आदि अजादि धातुओं से यङ् प्रत्यय नहीं होता है। लगभग ६० धातुओं (वैदिक साहित्य में प्राप्त होने वाली धातुओं के आधे से कम) से संस्कृत में—यङ् प्रत्यय होता है, किन्तु ये प्रयोग बहुत कम मिलते हैं।

इसमें धातु के दो अंग होते हैं और एक विशेष प्रकार का सबल अभ्यास होता है। इनमें से एक में द्वित्व हुए अंग के तुरन्त बाद तिङ् प्रत्यय लगते हैं (सबल अंग में अभ्यास के प्रथम स्वर पर उदात्त स्वर होता है)। इसके रूप जुहोत्यादि (तृतीय) गण की धातुओं के तुल्य केवल परस्मैपद में चलते हैं। जैसे—भू (होना)>बोभोति। दूसरे में धातु को द्वित्व होता है और बाद में कर्मवाच्य (१५४) के तुल्य उदात्त स्वर युक्त 'य' लगता है। इसके रूप कर्म-वाच्य के तुल्य केवल आत्मनेपद में चलते हैं। जैसे—भू (होना)>बोभूयते।

(क) प्रथम भेद (यङ् लुगन्त) में पित् स्थानों पर हलादि व्यंजन से पहले विकल्प से ई लगता है। हलन्त धातुओं में इस 'ई' से पहले या अजादि प्रत्यय बाद में होने पर गुण नहीं होता है। जैसे—विद् (जानना)>वेवेद्मि, वेवि-दीमि, वेविद्मः (उ० ३); लोट्—वेविदानि (उ० १); किन्तु हू (पुकारना) का जोहोमि, जोहवीमि (उ०१)—जोहवानि।

द्वित्व के विशेष नियम
(Special Rules of Reduplication)

१७३. अभ्यास में स्वर को गुण होता है और अ को आ होता है। जैसे—निज् (स्वच्छ करना)>नेनेक्ति; नी (ले जाना)>नेनीयते; बुध् (जानना) (>बोबुधीति; प्लु (ऊपर बहना, तैरना)>पोप्लूयते; तप् (तपना)>तात-प्यते।

(क) अम्—अन्त वाली धातुओं में अभ्यास में अ को दीर्घ न होकर नासिक्य ध्वनि (न्, म्) का आगम होता है। जैसे—क्रम् (चलना)>चङ्-क्रमीति, चङ्क्रम्यते।

(ख) ऋ-युक्त धातुओं में अभ्यास और धातु के बीच में 'ई' का आगम हो जाता है। जैसे—मृ (मरना)>मरीमर्ति; दृश् (देखना)>दरीदृश्यते; नृत् (नाचना]>नरीनृत्यते।

अपवाद-नियम (Irregularities)

१७४. गृ (जागना) को द्वित्व करने पर अभ्यास में आ होकर 'जागृ' अंग बनता है। 'जागृ' ने प्रायः एक धातु का स्वरूप ले लिया है (१३४ अ ४)

और सार्वधातुक लकारों में इसका यही अंग रहता है। जैसे—जागति (लट् प्र०१), जाग्रति (प्र० ३)।

(क) दह् (जलाना) और जभ् (झपटना) धातुओं के अभ्यास में न् लग जाता है और चर् (चलना) धातु में अभ्यास में न् तथा धातु के अ को ऊ हो जाता है। जैसे—दह् > दन्दहीति, दन्दह्यते; जभ् > जञ्जभ्यते; चर् > चञ्चूर्यते।

(ख) पद् (जाना) में अभ्यास में न् लगता है और उसके बाद ई लगता है, अर्थात् अभ्यास में 'नी' लगता है। पद् > पनीपद्यते। द्रा (दौड़ना) धातु में ऋ-युक्त धातुओं के तुल्य (१७३ ख) कार्य होता है और इसके अभ्यास में रि (र्+इ) लगता है। (यह र् के बाद इ अपनी स्थिति के अनुसार अर्थात् संयुक्त व ं बाद में होने से दीर्घ के तुल्य ही है)। द्रा > दरिद्राति (नि० १३४ अ ४)

(४) नामधातु प्रक्रिया (Denominatives)

१७५. शब्दों के अन्त में या प्रत्यय लगाकर बहुत से नामधातु बनाए जाते हैं। इनके रूप अ-युक्त धातुओं (भू आदि) के तुल्य चलते हैं। यह य प्रत्यय 'होना' या तदनुकूल आचरण करना' 'तद्वत् मानना' 'बनाना' या 'चाहना' आदि अर्थों में होता है। य प्रत्यय से पहले अन्तिम इ और उ को दीर्घ हो जाता है। अन्तिम अ को भी आ होता है, पर कभी-कभी उसे ई हो जाता है (नि० १५४, १)। जैसे—नमस् > नमस्य (नमस्कार करना); स्वामिन् > स्वामीय (स्वामी के तुल्य मानना); गोप > गोपाय (गोप या ग्वाले के तुल्य होना) (रक्षा करना); राजन् > राजाय (राजा के तुल्य कार्य करना); द्रुम > द्रुमाय (वृक्ष के तुल्य होना; पुत्र > पुत्रीय (पुत्र की इच्छा करना)।

(क) जिन नामधातुओं में प्रेरणार्थक के तुल्य (अ-य) अ पर उदात्त स्वर होता है, उन्हें भारतीय वैयाकरणों ने चुरादिगणी धातुओं में संमिलित किया है। जैसे—मन्त्र (मन्त्रणा) > मन्त्रय (मन्त्रणा करना); कीर्ति (यश) > कीर्तय (यश फैलाना); वर्ण (रंग) वर्णय (चित्रित करना, वर्णन करना); कथम् (कैसे ?) > कथय (कहो कैसे ?, कहना)।

———

अध्याय ५

अव्यय (Indeclinable Words)

उपसर्ग (Prepositions)

१७६. अन्य आर्य-भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत में विभक्तियों के अर्थ अधिक स्वतन्त्र हो गए हैं, अतः उपसर्गों की संख्या कम हो गई है और इनका प्रयोग भी बहुत सीमित है। ये सभी उपसर्ग प्रायः परसर्ग (Postpositions १) हैं और ये कारक का काम नहीं करते हैं, अपितु जिस विभक्ति के साथ सम्बद्ध होते हैं, उसके सामान्य अर्थ को परिष्कृत करते हैं। वेद में लगभग एक दर्जन परसर्ग थे। इनका क्रिया के उपसर्ग या पूर्वसर्ग के तुल्य भी प्रयोग होता था), किन्तु संस्कृत में केवल तीन का ही सामान्यतया प्रयोग होता है :—

(१) अनु (बाद में) और प्रति (ओर) का द्वितीया के बाद।

(२) आ (से या तक) का पंचमी से पहले।

(क) निम्नलिखित उपसर्ग भी कभी-कभी मिलते हैं। इनका प्रयोग प्रायः विभक्ति के बाद होता है:—अभि (ओर, द्वि०); पुरस् (सामने, षष्ठी); अधि(पर, सप्तमी), अन्तर् (अन्दर, बीच में, सप्तमी, कभी षष्ठी भी) (लेटिन —Inter, इंगलिश under)।

उपसर्गात्मक क्रियाविशेषण (Prepositional Adverbs)

१७७. वास्तविक वैदिक उपसर्गों का जो लोप या अप्रयोग हुआ है, उसकी क्षतिपूर्ति संस्कृत में नए और अवास्तविक उपसर्गों की वृद्धि से की गई है। इसका अभिप्राय यह है कि ये क्रिया के साथ संबद्ध नहीं किए जा सकते हैं और विभक्ति की दृष्टि से इनकी उत्पत्ति अधिकांशतः स्पष्ट है। ये चतुर्थी और सप्तमी विभक्तियों को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों के साथ प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में चतुर्थी विभक्ति के साथ कोई भी उपसर्गात्मक शब्द कभी भी संबद्ध नहीं रहा है ये उपसर्गात्मक क्रिया विशेषण निम्नलिखित सूची में दिए गए हैं और इनके साथ जो विभक्ति होती है, उसके साथ इनका वर्गीकरण है :—

(क) **द्वितीया**—अन्तरा (बीच में, बिना), अन्तरेण (बीच में, बिना, बारे में), निकषा (समीप), समया (समीप), अभितः (दोनों ओर), परितः (चारों ओर), सर्वतः (चारों ओर), समन्ततः (चारों ओर), उभयतः (दोनों ओर), परेण (परे), यावत् (तबतक, तक, इसके साथ पंचमी भी)।

(ख) **तृतीया**—सह (साथ), समम् (साथ), साकम् (साथ), सार्धम् (साथ), विना (बिना, सिवाय, इसके साथ द्वि० और कभी-कभी पं० भी)।

(ग) **पंचमी**—पंचमी में आने वाले सभी क्रियाविशेषण शब्द किसी न किसी रूप में पंचमी के मूल अर्थ विश्लेष (पृथक् होना) को प्रकट करते हैं :—

(१) अर्वाक्, पुरा, पूर्वम्, प्राक् (समय की दृष्टि से पहले), (२) अनन्तरम्, ऊर्ध्वम्, परम्, परतः, परेण, प्रभृति (यह मूलरूप में 'प्रारम्भ' अर्थ-सूचक स्त्रीलिंग शब्द है) (समय की दृष्टि से बाद में)। (३) बहिः (बाहर), (४) अन्यत्र (अतिरिक्त), ऋते (बिना, द्वि० भी)।

(घ) **षष्ठी**—षष्ठी के साथ प्रयुक्त होने वाले प्रायः सभी क्रियाविशेषण शब्द स्थान-विषयक सम्बन्ध को सूचित करते हैं:—(१) अग्रे, अग्रतः, पुरतः, पुरस्तात्, प्रत्यक्षम्, समक्षम् (आगे, सामने)। (२) पश्चात् (बाद में), (३) परतः, परस्तात् (परे) (४) उपरि (द्वि० भी), उपरिष्टात् (ऊपर, बारे में)। (५) अधः, अधस्तात् (नीचे)। षष्ठी के साथ कृते (लिए) का भी प्रयोग होता है।

१७८. द्वितीया (को, ओर, किधर), पंचमी (से, स्थान से, कहाँ से), और सप्तमी (में, कहाँ) विभक्तियों के भाव प्रायः 'निकट' अर्थ के सूचक—अन्तिक, उपकण्ठ, निकट, सकाश, संनिधि, समीप और पार्श्व (बगल) आदि शब्दों से प्रकट किये जाते हैं। द्वितीया में ये शब्द 'ओर' 'को' 'समीप' अर्थ बताते हैं। पंचमी में 'से' अर्थ और सप्तमी में 'समीप' 'सामने' अर्थ बताते हैं। प्रत्येक स्थान पर इनके साथ षष्ठी होगी। जैसे—राज्ञोऽन्तिकं गच्छ (राजा के पास जाओ), रघोः सकाशाद् अपासरत् (वह रघु के पास से हट गया), मम पार्श्वे (मेरे पास), तस्याः समीपे नलं प्रशशंसुः (उन्होंने उसके सामने नल की प्रशंसा की)।

उपसर्गात्मक क्त्वार्थक प्रत्यय
(Prepositional Gerunds)

१७९. कतिपय क्त्वा (त्वा) और ल्यप् (य) प्रत्ययान्त अव्यय उपसर्ग के तुल्य प्रयुक्त होते हैं :—

(१) **द्वितीया विभक्ति के साथ**—उद्दिश्य (लक्ष्य में रखकर, ओर, बारे में, पर, वास्ते), आदाय (लेकर), गृहीत्वा (लेकर), नीत्वा (लेकर, से); अधिष्ठाय, अवलम्ब्य, आश्रित्य, आस्थाय (ग्रहण कर, लेकर, द्वारा); मुक्त्वा, परित्यज्य, वर्जयित्वा (छोड़कर, सिवाय); अधिकृत्य (मुख्य स्थान पर रखकर अर्थात् विषय में, बारे में)।

(२) **पंचमी के साथ**—आरभ्य (आरम्भ करके, तब से लेकर)।

संयोजक और क्रियाविशेषण निपात
(Conjunctive and Adverbial Particles)

१८०. अङ्ग (हे श्रीमन्, प्रार्थनासूचक)। **अङ्ग** कुरु (श्रीमन्, यह कीजिए), किमङ्ग (१. श्रीमन्, ऐसा क्यों ? २. और (कितना ?)।

अथ—(१) वाक्य का प्रारम्भ-सूचक=तब, अब, बाद में। (२) पुस्तक, अध्याय, परिच्छेद आदि के शीर्षक के प्रारम्भ में, अर्थात् 'अब' या 'यहाँ से प्रारम्भ होता है'। यह 'इति' (यहां समाप्त होता है) का विलोम शब्द है। (३) वाक्य का संयोजक शब्द, अर्थात् 'और' या 'भी'। (४) 'यदि'—अथ तान्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् (यदि मैं उनके पीछे नहीं जाता हूँ तो मैं यमलोक को जाऊँगा)। **अथकिम्**—और क्या ? अर्थात् ऐसा ही है 'हां'। **अथवा**—(१) अथवा, या। (२) पूर्व वक्तव्य में संशोधन उपस्थित करना,—अर्थात् 'किन्तु' 'अपितु'। (३) कथन की पुष्टि में कोई वक्तव्य प्रस्तुत करना, अर्थात् 'जैसा कि' 'यथा' 'इस प्रकार' अथवा साध्विदमुच्यते (इस प्रकार यह ठीक ही कहा जाता है)।

अथो—तब, बाद में (देखो उ भी)।

अन्यच्च—और भी, इसके अतिरिक्त।

अपरम्—और, आगे, इसके अतिरिक्त, और भी।

अपि—(१) 'च' के तुल्य वाक्य के दो अंगों को मिलाता है, अर्थात्—इसी

प्रकार, और भी, और (**अपि...अपि**—दोनों ही, वह भी और वह भी, और)। (२) भी, स्वयं। दमनकोऽपि निर्जगाम— (दमनक भी चला गया)। (३) यद्यपि, भले ही। वालोऽपि—भले ही वालक हो। एकाक्यपि—यद्यपि वह अकेला था। (४) सिर्फ, केवल, किन्तु (समयवाचक के साथ)। मुहूर्तमपि (किन्तु एक क्षण)। (५) 'सब' अर्थ, संख्यावाचक शब्दों के साथ। चतुर्णामिपि वर्णानाम् (चारों ही वर्णों का)। उपर्युक्त पांचों अर्थों में 'अपि' का जिस शब्द के साथ संवन्ध है, उसके वाद में आता है। प्रश्नवाचक निपात के रूप में इसका वाक्य के प्रारम्भ में प्रयोग होता है। विधिलिङ् के साथ भी इसका वाक्य के प्रारम्भ में प्रयोग होता है और इसका अर्थ होता है—मैं चाहता हूं कि, भले ही... किन्तु। अपि तपो वर्धते—क्या आपका तप वढ़ रहा है? अपि स कालः स्यात् —मैं चाहता हूँ कि वह समय हो। अपि प्राणानहं जह्यां न त्वाम् (मैं भले ही प्राणों को छोड़ दूँ, किन्तु तुम्हें नहीं छोड़ूँगा)। **अपि नाम**—संभवतः (देखो 'नाम' भी)।

अलम्—काफी, वस, मत। इसका प्रयोग तृतीयान्त, क्त्वा-प्रत्ययान्त और तुमुन्-प्रत्ययान्त के साथ होता है। यह निषेधार्थक निपात है। अलं भयेन (भय से वस, अर्थात् मत डरो)। अलम् उपालभ्य (ताना मत दो)। अलं प्रवोधयितुम् (मत जगाओ।

इति—ऐसा। (१) यह किसी निश्चित उद्धरण के वाद समाप्तिसूचक के रूप में प्रयुक्त होता है। यह 'कहना' अर्थ वाली क्रियाओं के वाद उद्धरणचिह्न " " के रूप में आता है और अंग्रेजी के अप्रत्यक्ष-रचना (Indirect construction) के उद्धरणचिह्न का काम करता है। तवाज्ञां करिष्यामीति स मामुवाच (उसने मुझसे कहा—'मैं तुम्हारी आज्ञा मानूँगा' या उसने मुझसे कहा कि वह मेरी आज्ञा मानेगा)।

इसी प्रकार यह विचार, भाव, ज्ञान आदि को उद्धृत करने के लिए प्रयुक्त होता है, भले ही वहाँ पर 'विचार कर' आदि शब्द न कहे गए हों। वालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः (राजा भले ही वालक हो, पर यह सोचकर कि यह मनुष्य है, उसका अपमान न करे)। दातव्यमिति यद् दानं दीयते(दान देना चाहिए, यह सोचकर जो दान दिया जाता है)। न धर्मशास्त्रं

पठतीति कारणम् (यह जानते हुए भी वह धर्मशास्त्र पढ़ता है, कोई कारण नहीं कि उस पर विश्वास किया जाए)।

(२) इति=यहाँ समाप्त होता है। यह पुस्तक, अध्याय, सर्ग, अंक आदि के बाद समाप्तिसूचक निपात के रूप में प्रयुक्त होता है। इति तृतीयोऽङ्कः (यह तीसरा अंक समाप्त हुआ)।

(३) इति=इस रूप में, जहाँ तक यह बात है, जहाँ तक। शीघ्रमिति सुकरं निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत् (जहाँ तक शीघ्र करने की बात है, यह सुकर है और जहाँ तक गुप्त रूप से करने की बात है, यह विचारणीय है) (किम् और तथा को भी देखें)।

इव—यह अनुदात्त निपात है और इसका जिस शब्द के साथ संबन्ध होता है, उसके बाद आता है। (१) 'जैसे' 'सा' 'तुल्य'—अयं चोर इवाभाति (यह आदमी चोर सा प्रतीत होता है)। (२) 'मानो' 'जैसे'—साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् (मानो साक्षात् शिव को देख रहा हूँ)। (३)'कुछ'—सरोषमिव—कुछ क्रोध से। (४) 'लगभग'—मुहूर्तमिव (लगभग एक घंटा)। (५) 'बिल्कुल'—अकिंचिदिव—(थोड़ा सा ही), नचिरादिव। (अविलम्ब, बिल्कुल अभी)। (६) 'वस्तुतः 'ही'—किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् (वस्तुतः क्या चीज है, जो मधुर आकृति वालों के लिए आभूषण नहीं होती ?)।

उ—यह एक प्राचीन निपात है। इसका वेद में बहुत प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ 'और' है। यह संस्कृत में **किमु** (किम्+उ, क्या ?), **अथो** (अथ+उ, और भी, तब) और **नो** (न+उ, और नहीं अर्थात् नहीं) शब्दों में समस्त होकर शेष है।

उत—यह वेद में बहुत प्रचलित निपात है। इसका अर्थ है—'और', 'भी' 'या'। यह अब निम्नरूप से शेष है:—(१) प्रति और किम् के साथ संयुक्त होकर—**प्रत्युत** (अपि तु); **किमुत** (कितना अधिक, कितना कम)। २. किसी दुहरे प्रश्न में द्वितीय अंश में **किम्**—उत(क्या...क्या)। यह रामायण और महाभारत में पाद के अन्त में पाद-पूर्त्यर्थक के रूप में भी प्रायः मिलता है।

एव—यह एक निपात है और जिस शब्द पर बल देना होता है, उसके बाद इसका अनुवाद 'ही' 'केवल' 'वस्तुतः' तथा अन्य कई प्रकार से होता है।

कहीं पर केवल बल देने के लिए ही प्रयुक्त होता है। **एक एव** (अकेला ही), दर्शनमेव (दर्शनमात्र), अहमेव (मैं अकेला ही), तदेव (वही), मृत्युरेव (वस्तुतः मृत्यु, मृत्यु ही), वसुधैव—(सारी पृथ्वी), **चैव** (च+एव, और भी); **तथैव** (उसी प्रकार), **नैव** (सर्वथा नहीं, किसी प्रकार से नहीं)।

एवम्—(ऐसा, वैसा)—एवमस्तु (ऐसा हो), मैवम्—(ऐसा नहीं)।

कच्चित् (कद्+चित्)—(यह वैदिक प्रश्नवाचक किम् के नपुंसक लिंग शब्द कद्+चित् से बना है)। इसका प्रश्नवाचक के रूप में प्रयोग होता है और आशा की जाती है कि 'हाँ' का उत्तर मिलेगा, अर्थात्—मुझे आशा है कि। कच्चिद् दृष्टा त्वया राजन् दमयन्ती (हे राजन्, मुझे आशा है कि तुमने दमयन्ती देखी है ?)। न कच्चित् का अर्थ होगा: मुझे आशा नहीं है। कच्चित्तु नापराधं ते कृतवानस्मि (मुझे आशा है कि मैंने आपका कोई अपराध नहीं किया है ?)।

कामम्—(काम 'इच्छा' शब्द का द्वि०१) इसका मुख्य रूप से 'भले ही' प्रसन्नता से' अर्थों में क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयोग होता है। किन्तु संबद्ध निपात के रूप में भी इसका बहुत से स्थानों पर प्रयोग मिलता है। (१) 'अवश्य' 'निश्चित रूप से' 'वस्तुतः', (२) 'माना कि' 'संभवतः' (इसके साथ प्रायः लोट् लकार आता है), इसके बाद प्रतिकूलार्थक क्रियाविशेषण होता है :—**'कामम्—तु, किन्तु, तथापि या पुनः'** ('यह सत्य है कि...किन्तु', 'यद्यपि —'फिर भी'; **कामम् न तु** (वस्तुतः....किन्तु नहीं, अच्छा है...अपेक्षाकृत इसके कि) (जैसे—वरम्...न का प्रयोग होता है।)

किम्—(१) क्या ?, (२) क्यों ? (३) केवल प्रश्नवाचक निपात, जिसका अनुवाद नहीं किया जाता और आशा की जाती है कि 'नहीं' उत्तर मिलेगा (लेटिन—num)। (४) 'क्या यह ? या 'अथवा' अर्थ के सूचक उत, वा आहोस्वित् शब्दों का प्रयोग होता है।

किम् का निम्नलिखित निपातों के साथ संयुक्त रूप से प्रयोग होता है:— **किं च** (और भी); **किन्तु** (किन्तु, परन्तु); **किमिति, किमिव** (क्यों ? किस लिए ?); **किंस्विद्** (क्या ? क्या भला ?); **किमपि**—(१) बहुत, जोर से। किमपि रुदती—जोर से रोती हुई। (२) और अधिक। किमु, किमुत, किं

पुनः ।(कितना अधिक, कितना कम)—एकैकम् अप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् (इनमें से एक एक चीज भी अनर्थ के लिए है, जहाँ पर चारों चीज होंगी वहाँ कितना अधिक अनर्थ होगा ?) ।

किल—(१) वस्तुतः, अवश्य, निश्चित रूप से । यह जिस शब्द पर बल देता है, उसके बाद आता है । अर्हति किल कितव उपद्रवम् (दुष्ट वस्तुतः विनाश चाहता है) । 'किल' का कभी-कभी केवल बल देने के लिए प्रयोग होता है, एकस्मिन् दिने-व्याघ्र आजगाम किल (एक दिन एक व्याघ्र आया) । (२) 'कहा जाता है कि' 'मानते हैं कि'—बभूव योगी किल कार्तवीर्यः (कहा जाता है कि कार्तवीर्य नाम के एक योगी हुए थे) ।

कृतम्—(क्त प्रत्ययान्त का नपुं० १) 'किया' । इसका अलम् के तुल्य 'वस' 'मत' अर्थ में तृतीयान्त के साथ प्रयोग होता है । कृतं सन्देहेन—सन्देह मत करो ।

केवलम्—'केवल' । केवलं स्वपिति (वह केवल सोता है) । **न केवलम्—अपि** (न केवल—अपि तु)। **क्व**—कहाँ ? यदि यह दुहराया जाता है तो इसका अभिप्राय होता है कि दोनों बातों में बहुत अन्तर है, या दोनों बातों में कोई मेल नहीं है । क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः—कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न होने वाला महान् वंश और कहाँ मेरी तुच्छ बुद्धि ? अर्थात् सूर्य-वंश का वैभव इतना अधिक है कि मेरी तुच्छ बुद्धि के लिए संभव नहीं है कि उसका वर्णन कर सकूँ ।

खलु—(१) वस्तुतः, अवश्य । यह प्रायः पूर्ववर्ती शब्द पर केवल बल देने के लिए प्रयुक्त होता है । (२) 'कृपया' 'प्रार्थना है कि' निवेदन अर्थ वाले स्थानों पर । देहि खलु मे प्रतिवचनम् (कृपया मुझे उत्तर दें) (जर्मन—Doch) । (३) क्त्वा-प्रत्ययान्त के साथ—'बस, मत' । अलम् के तुल्य ही खलु निषेधार्थक है । अलं रुदित्वा—मत रोओ । **न खलु**—'नहीं' 'मुझे आशा है कि आप नहीं' ।

च—अनुदात्त निपात (लेटिन—que) 'और' 'भी' । गोविन्दो रामश्च (गोविन्द और राम) । कविता में इस 'च' का प्रयोग कभी-कभी प्रथम शब्द के बाद भी किया जाता है । जैसे—'इहामुत्र च' के स्थान पर 'इह चामुत्र' प्रयोग

(इस लोक में और परलोक में)। जहाँ पर दो से अधिक शब्दों को 'च' के द्वारा जोड़ना होता है, वहाँ पर 'च' अन्तिम शब्द के बाद लगता है, जैसाकि अंग्रेजी में भी होता है। **च—च** (१) 'दोनों—और', (२) 'एक ओर—दूसरी ओर', 'यद्यपि—तथापि', (३) 'ज्योंही—त्योंही'।

चेद्—(च+इद्) (यदि) यह कभी भी वाक्य या पाद के प्रारम्भ में नहीं आता (परन्तु 'यदि' प्रारम्भ में आता है)। **अथ चेत्** (परन्तु यदि)। **'न चेद्'** या **'नो चेद्'** (यदि नहीं=अन्यथा)—सर्वं विमृश्य कर्तव्यं नो चेत् पश्चात्तापं व्रजिष्यसि (ठीक विचार करके ही सब काम करना चाहिए, अन्यथा पश्चात्ताप करना पड़ेगा)। **'चेन्न'**—यदि नहीं)—भावि चेन्न तदन्यथा (यदि ऐसा होनहार है, तो इसके विपरीत नहीं होगा)। **इति चेन्न**—यदि आपकी यह आपत्ति है तो यह ठीक नहीं है।

जातु—(१) सर्वथा, कभी। (२) संभवतः, शायद, (३) एक बार, एक दिन। **'न जातु'** (कभी नहीं, सर्वथा नहीं, किसी प्रकार नहीं)।

ततः—(१) वहाँ से, (२) तब, उसके बाद। **'ततस्ततः'**—इसके बाद, कहते रहिए (जो आप कह रहे थे, उसे कहते रहिए)।

तथा—(१) वैसे इस प्रकार, तदनुसार। (२) इसी प्रकार, भी, और भी, और (=च, और अर्थ)। (३) (ऐसी ही बात है, हाँ ऐसा हो जाएगा। **'तथा च'**—और भी, इसी प्रकार। **'तथापि'**—तथापि, फिर भी। **'तथा हि'**—क्योंकि, उदाहरण के रूप में, अर्थात्, नामतः। **'तथेति'**—हाँ।

तद्—(तद् शब्द का नपुं० प्र०१)—तब, उस अवस्था में, (२) इसलिए, तदनुसार। राजपुत्रा वयं, तद् विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति—हम राजकुमार हैं, अतः हमारी उत्सुकता है कि हम युद्ध का वर्णन सुनें।

तावत्—(१) तब तक (यावत्—जब तक, का यह संबद्ध शब्द है); (२) तब तक, इस बीच में; (३) पहले, प्रथमतः; (४) त्योंही, ठीक इसी समय, तुरन्त (इसके साथ लोट् लकार का प्रयोग होता है, अर्थ होता है—सबसे पहले, सब काम छोड़कर)। इतस्तावदागम्यताम्—कृपया तुरन्त इधर आइए। (५) अभी, तो (यह 'कभी' का विलोम शब्द है)। (६) केवल;

(७) तो, कम से कम, सर्वथा—न तावन्मानुषी (वह मानव स्त्री तो सर्वथा नहीं है)। (८) (पादपूर्त्यर्थक) वस्तुतः, अवश्य, यह सत्य है कि, (इसके बाद 'तु' लगता है—'किन्तु' आदि)। (९) किसी विचार को पुष्ट करता है (जैसे—'एव' करता है)—जहाँ तक, जहाँ तक इसका संबन्ध है, केवल, अभी, या अर्थ पर जोर देने का ही काम करता है।

तावत्-च (कठिनाई से...तब), न **तावत्** (अभी नहीं)।

तु—(यह वाक्य के प्रारम्भ में नहीं आता)। किन्तु, तथापि। यह कभी-कभी 'च' या 'वा' के अर्थ में आता है या केवल पादपूर्त्यर्थ होता है। यह कभी कभी 'च' के साथ भी आता है और कभी कभी उसी वाक्य में दो बार भी आता है। **अपि तु**—अपि तु, बल्कि; **न तु**—न कि; **न त्वेव तु**—सर्वथा नहीं, **परन्तु**—किन्तु, फिर भी; **तु—तु**—वस्तुतः—किन्तु; **च—न तु**—यद्यपि—तथापि नहीं।

न—नहीं। अनिश्चयसूचक सर्वनाम के साथ इसका अर्थ 'नहीं' होता है। जैसे—**न कोऽपि**—कोई नहीं, अर्थात् कोई आदमी नहीं। **न किंचित्**—कुछ नहीं। **न क्वचित्**—कहीं नहीं। **न कदाचित्**—कभी नहीं। दो 'न' आने पर **(न—न)** बलपूर्वक 'हाँ' का अर्थ होता है। जैसे—न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितः—वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था, जो सन्तुष्ट न हुआ हो, अर्थात्—वहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति सर्वथा सन्तुष्ट हो गया था। **नापि**—न तो। **नैव**—सर्वथा नहीं।

ननु—(न+नु) (१) नहीं? ऐसे प्रश्नवाचक वाक्यों में जिनके उत्तर की 'हाँ' में आशा की जाती हो (लेटिन nonne)=अवश्य, वस्तुतः। नन्वहं ते प्रियः—क्या मैं वस्तुतः आपका प्रिय हूँ? (२) ननु का प्रश्नवाचक सर्वनामों और लोट् लकार के साथ अर्थ होता है—कृपया बताइए। ननु को भवान्—कृपया बताइए आप कौन हैं? ननु उच्यताम्—कृपया बताइए। (३) तर्क या युक्ति में इसका अर्थ है—'क्या ऐसा नहीं है कि' अर्थात्—'इस पर यह आपत्ति है कि' इसके बाद 'अत्रोच्यते' का प्रयोग होगा, जिसका अर्थ है—आपकी बात का उत्तर है।

नाम—इसका क्रिया-विशेषण के रूप में अर्थ होता है—'नाम वाला'। जैसे—नलो नाम—नल नाम वाला। इसके अतिरिक्त निपात के रूप में इसके निम्नलिखित अर्थ होते हैं :—(१) वस्तुतः, अवश्य, निश्चित रूप मे। जैसे—मया नाम जितम्—मैंने वस्तुत: जीता है। (२) संभवतः। दृष्टस्त्वया कश्चिद् धर्मज्ञो नाम—तुमने संभवतः कोई धर्मात्मा व्यक्ति देखा है। (३) व्यंग्य के रूप में, प्रश्नवाचक शब्दों के साथ=भला कौन। को नाम राज्ञां प्रियः—भला कौन राजाओं का प्रिय है? (४) लोट् लकार के साथ=माना कि, भले ही, इतना अधिक। स धनी भवतु नाम—वह भले ही धनी हो।

अपि नाम—(१) वाक्य के प्रारम्भ में विधिलिङ् के साथ='संभवतः'। (२) अकेला 'अपि' शब्द जितना बल दे सकता है, उससे अधिक यह पूर्ववर्ती शब्द पर बल देता है। **ननु नाम**—अवश्य, वस्तुतः। ननु नामाहमिष्टा किल तव—मैं वस्तुतः तुम्हारी प्रिया हूँ।

नु—'अब' प्रश्नवाचक शब्दों के साथ=भला कौन? को नु—भला कौन? **नु—नु**=जहाँ पर यह दुहरा प्रश्नवाचक के रूप में प्रयुक्त होता है, वहाँ इसका अर्थ होता है, 'यह अथवा वह'। अयं भीमो नु धर्मो नु—क्या यह भीम है अथवा धर्म है?

नूनम्—यह प्रायः वाक्य के प्रारम्भ में आता है=अवश्य, निश्चित रूप से असंदिग्ध रूप से। नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य—मैं यह निश्चितरूप से मानता हूँ कि इसमें निषध के राजा (नल) का कोई दोष नहीं।

नो—(न + उ) इसका वेद में अर्थ था—'और नहीं', 'अथवा नहीं',। किन्तु संस्कृत में इसका अर्थ केवल 'नहीं'। (देखो—चेद्)।

परम्—(१) बहुत अधिक बहुत, पूर्णतया। परमनुगृहीतोऽस्मि—मैं बहुत अधिक कृतज्ञ हूँ। (२) अधिक से अधिक। आयुस्तत्र मर्त्यानां परं त्रिंशद् भवति—वहाँ पर मनुष्यों की आयु अधिक से अधिक ३० (वर्ष की) होती है। (३) केवल, सिर्फ। विषाणे स्तः परं न ते—तुम्हारे केवल सींग ही नहीं हैं। (४) किन्तु, परन्तु, तथापि। सर्वशास्त्रपारंगाः परं बुद्धिरहिताः—वे सभी शास्त्रों में पारंगत हो गए हैं, किन्तु बुद्धि से रहित है।

पुनः—(१) फिर, दुबारा, (२) दूसरी ओर, इसके अतिरिक्त, इसके विपरीत, किन्तु। **पुनः पुनः** या केवल **पुनः**=बार बार, कई बार।

प्रायः, प्रायशः, प्रायेण—(१) प्रायः, अधिकांशतः, सामान्यतया। (२) अधिक संभव है।

बाढम्—(१) अवश्य, निश्चित रूप से, वस्तुतः। (२) स्वीकृति-सूचक—'बहुत अच्छा'। (३) अनुमतिसूचक—' 'हाँ' यह ऐसा ही है'।

मा—यह निषेधार्थक निपात है और सामान्यतया इसका प्रयोग लोट् लकार तथा अ-रहित लुङ् लकार के रूप के साथ होता है। जैसे—मा गच्छ या मा गमः—मत जाओ। **मा स्म**—पूर्वोक्त अर्थ में ही उक्त प्रकार से प्रयुक्त होता है। **मा और मैवम्** (मा एवम्) दोनों अनुदात्त रूप में प्रयुक्त होते हैं, अर्थात् ऐसा नहीं, मत। इसी प्रकार **मा तावत्**—'ऐसा न हो कि', 'परमात्मा न करे कि'; **मा नाम**—इसका विधिलिङ् के साथ प्रयोग होता है—ऐसा न हो कि, कहीं ऐसा न हो। मा नाम रक्षिणः—कहीं ऐसा न हो कि वहाँ सिपाही हों।

मुहुः—(१) प्रतिपल, निरन्तर, बार-बार (यह प्रायः द्विरुक्त 'मुहुर्मुहुः' प्रयुक्त होता है)। (२) इसके विपरीत। **मुहुः—मुहुः**—अब ऐसा—अब ऐसा, कभी ऐसा—कभी ऐसा।

यतः—(यत् शब्द का पंचमी एक० का रूप है)। (१) जहाँ से (इसका अर्थ प्रायः—'कहाँ' और 'किधर' भी होता है)। (२) किसलिए, क्यों। (३) क्योंकि, चूंकि (पूर्व वक्तव्य की पुष्टि के लिए कोई श्लोक उद्धृत करते समय इसका प्रायः प्रयोग होता है)। (४) 'कि' क्योंकि' प्रश्न के बाद या तथ्य-कथन से पहले। किं नु दुःखमतः परम्, इच्छासंपद् यतो नास्ति—इससे अधिक और क्या दुःख हो सकता है कि इच्छा की पूर्ति नहीं हुई ?

यत्र—(१) जहाँ, (२) यदि, (३) जब, (४) जहाँ से लेकर।

यथा—(१) 'जैसे' यथाज्ञापयति देवः—जैसी महाराज की आज्ञा। (२) तुल्य, सदृश (=इव)—राजते भैमी सौदामिनी यथा—राजा भीम की पुत्री (दमयन्ती) ऐसी शोभित होती थी, जैसे बिजली। (३) जैसे, उदाहरण के रूप में। (४) जिस प्रकार कि, क्योंकि—यथा त्वदन्यं पुरुषं न मंस्यति—(क्योंकि वह तेरे अतिरिक्त अन्य पुरुष को नहीं सोचेगी। (५) जैसे, जिस प्रकार—अहं तथा करिष्ये यथा स वधं करिष्यति—मैं वैसा प्रकार करूँगा, जिस प्रकार वह उसका वध कर देगा। (६) कि—यह वाक्य के अन्त में आता है। इसके

साथ में 'इति' आता भी है और नहीं भी। यह (यत् के तुल्य) स्वीकृति-सूचक वाक्य का संयोजक होता है। जैसे—त्वयोक्तं मे यथा—तुमने मुझ से कहा कि...। **यथा यथा...तथा तथा**—(जैसे जैसे...वैसे वैसे)। **तद्यथा**—जैसे कि, जैसे उदाहरणार्थ।

यद्—(१) 'कि' यह अग्रिम वक्तव्य को प्रस्तुत करता है। इसके साथ अन्त में 'इति' आता भी है और नहीं भी। जैसे—वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति (कह देना कि मैंने अपनी प्रिया का यहाँ वध किया है)। (२) 'जिससे कि' 'कि'। किं यन्न वेत्सि त्वम् (क्या कारण है कि तुम नहीं जानते हो?)। (३) 'जिससे कि'। किं शक्यं कर्तुं यन्न क्रुध्यते नृपः (क्या किया जा सकता है, जिससे कि राजा क्रुद्ध न हो?)। (४) 'क्योंकि' 'चूंकि'।

यदि—(१) यदि (देखो—चेद्), **यदि वा**—'अथवा' 'या'—अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् (जानते हुए अथवा अनजाने)। (२) 'फिर भी'। **यद्यपि**—यदि+अपि, 'यद्यपि'।

यावत्—(१) (संबद्ध शब्द तावत् के साथ)। 'जबतक' 'तक' 'ज्योंही'। (२) 'इस बीच' 'अभी' अभिप्रेत कार्य को प्रकट करते हुए:—यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि ताम् (इस छाया का आश्रय लेकर मैं अभी उसकी प्रतीक्षा करता हूँ)। **यावन्न**—यावत्+न, (१) 'जब तक नहीं='तक'। (२) 'यदि नहीं'। **न यावत्—तावत्** 'जब तक नहीं...तब तक' 'ज्योंही...तभी'।

येन—(१) 'जिससे' 'जैसे' (इसका संबद्ध शब्द 'तेन' है)। (२) 'जिस कारण से' 'जिस लिए' 'जिससे'। शृणु येन न दृश्यन्ते महीक्षितः (सुनो, जिस कारण से राजा लोग दिखाई नहीं पड़ते हैं)। (३) 'क्योंकि' 'चूंकि' (सामान्यतया यह संबद्ध शब्द तेन के साथ आता है)। दूरस्थामपि येन पश्यसि कान्तां तं योगं मम चक्षुषोऽप्युपदिश(क्योंकि तुम मेरी दूर स्थित पत्नी को देख रहे हो, अतः मेरी दृष्टि को भी उस योग का उपदेश दो)। (४) 'जिससे कि'। उपायो दृष्टो येन दोषो न भविता (एक उपाय सोच लिया गया है, जिससे कोई बुराई नहीं होगी)। (५) 'जिस कारण से' 'जिससे'। तस्य च्छात्रतां व्रजामि येन विश्वस्तो भवति (मैं उसका छात्र बन जाऊंगा, जिससे वह विश्वस्त हो जाए)।

वत्—'तुल्य'। यह समस्त पद के अन्त में लगता है और इसका 'इव' के अर्थ में प्रयोग होता है। मृतवत् (मृत व्यक्ति के तुल्य)।

वरं···न—शब्दार्थ—'यह अच्छा है....न कि='इसकी अपेक्षा...अच्छा है'। सामान्यतया 'न' के बाद च, तु या पुनः का प्रयोग होता है)। वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानाम् उपगमः (नीचों से समागम की अपेक्षा मर जाना अच्छा है)।

वा—अनुदात्त निपात (ह्विटनि—७८)। यह संबद्ध शब्द के बाद आता है (छन्द की आवश्यकता के अनुसार यह संबद्ध शब्द से पहले भी आता है) (१) 'अथवा' (२) 'विकल्प से' 'या'। जातदन्तस्य वा कुर्युः (बच्चे के दाँत निकलने पर ऐच्छिक रूप से हवि देने का कार्य करें)। (३) 'तुल्य' 'सदृश' (=इव) जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् (मैं समझता हूँ कि वह पाले से मारी हुई कमलिनी के तुल्य दूसरी ही आकृति की हो गई होगी)। (४) प्रश्नवाचक शब्द के साथ, 'क्या लाभ'। काणेन चक्षुषा किं वा (कानी आँख से क्या लाभ ?)। वा—वा—(यह...या यह)।

वै—प्राचीन संस्कृत में इसका प्रयोग पूर्ववर्ती शब्द पर बल देने के लिए होता था। यह अब संस्कृत-काव्यों में केवल पादपूर्ति के लिए प्रायः प्रयुक्त होता है।

सत्यम्—(१) वस्तुतः, अवश्य, निश्चय से। (२) ठीक ढंग से, वस्तुतः, उचित रूप से। (३) सत्य है, यह ऐसा ही है। (४) आपका कहना ठीक है। (उत्तर के रूप में)। (५) यह ठीक है...किन्तु (तु, किं तु, तथापि के साथ)।

ह—यह अनुदात्त निपात है। प्राचीन संस्कृत में यह पूर्ववर्ती शब्द पर कुछ बल देता था, किन्तु परकालीन संस्कृत में यह केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होता है और अधिकांशतः पद्य के अन्त में रहता है।

हि—यह वाक्य के प्रारम्भ में कभी नहीं आता, किन्तु प्रथम शब्द के बाद प्रायः प्रयुक्त होता है (१) क्योंकि। (२) वस्तुतः, अवश्य। त्वं हि तस्य प्रियवयस्यः (तुम वस्तुतः उसके प्रिय मित्र हो)। (३) प्रश्नवाचक शब्दों या लोट् लकार के साथ—'भला'। कथं हि देवाञ्जानीयाम् (मैं भला देवताओं को कैसे जान सकता हूँ ?) तद्धि दर्शय (भला, उसको दिखाओ)। (४) इसका प्रयोग प्रायः पादपूर्ति के लिए होता है, विशेषरूप से प्रकृतिभाव को दूर करने के लिए

या पद्य में पूर्ववर्ती वर्ण को गुरु वर्ण करने के लिए। कभी कभी एक ही वाक्य में दो बार 'हि' का प्रयोग होता है।

विस्मयबोधक अव्यय (Interjections)

१८१. अपि—यह संबोधन के साथ प्रयुक्त होता है या संबोधन का स्थान ग्रहण करता है। अपि=हे, अरे, अजी, हे मित्र। अपि मकरोद्यानं गच्छावः (हे मित्र, हम दोनों प्रेमवाटिका में जाते हैं)।

अये—(१) यह आश्चर्यसूचक निपात है। मुख्यतया यह नाटकों में आता है। अये वसन्तसेना प्राप्ता (आह, वसन्तसेना आ गई है!)। (२) कभी कभी इसका प्रयोग अपि के तुल्य संबोधक-सूचक निपात के रूप में होता है—

अरे—यह संबोधन-सूचक निपात है। अरे=अरे, ओ, हे।

अहह—(१) यह आनन्दसूचक अव्यय है। (२) दुःख या हाय का अर्थ प्रकट करता है। अहह महापङ्के पतितोऽस्मि (हाय, मैं गहरे कीचड़ में फँस गया हूँ)।

अहो—यह आश्चर्य, प्रसन्नता, दुःख, क्रोध, प्रशंसा या आक्षेप-सूचक अव्यय है। यह साधारणतया प्रथमान्त के साथ प्रयुक्त होता है। अहो गीतस्य माधुर्यम् (ओह, गीत की मधुरता!)। अहो हिरण्यक श्लाघ्योऽसि (ओह, हे हिरण्यक, तुम प्रशंसनीय हो!)।

आ—(देखो नि० २४) सहसा स्मरण को सूचित करने के लिए मुख्यतया इसका प्रयोग होता है। आ एवं किल तत् (ओह, वस्तुतः यह ऐसा था!)।

आः—(देखो नि० २४) यह आनन्द या रोष को सूचित करता है। आः अतिथिपरिभाविनि (आह, ओ अतिथि का तिरस्कार करने वाली!)।

कष्टम्—खेद है, दुःख है। यह प्रायः धिक् या हा धिक् के साथ मिला हुआ प्रयुक्त होता है।

दिष्ट्या—(तृ०, भाग्य से) सौभाग्य से। इसका प्रायः वृध् धातु (बढ़ना) के साथ प्रयोग होता है। 'तुम समृद्ध हो रहे हो' अर्थात् 'प्रसन्नता की बात है' बधाई है'। दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते (विजय के लिए महाराज को बधाई है)।

धिक्—यह असन्तोष, घृणा और खेदसूचक अव्यय है। धिक्कार है।

इसके साथ नियमितरूप से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है। प्रथमा, संबोधन और षष्ठी भी इसके साथ मिलती हैं। धिक् त्वामस्तु, तुझे धिक्कार है!)।

बत—यह आश्चर्य और खेद को सूचित करता है। इसी अर्थ में अन्य विस्मयसूचक अव्यय भी इसके साथ संबद्ध हो जाते हैं। बता रे, अहो बत, अपि बत।

भोः—(१) सामान्यतया किसी व्यक्ति को संबोधन करने का सूचक अव्यय है, 'हे' 'अरे'। यह भवत् शब्द पुंलिंग संबोधन एकवचन (भवस्) का संक्षिप्त रूप है। यह पुरुष और स्त्री दोनों को संबोधन करने में प्रयुक्त होता है। इसके साथ बहुवचन का प्रयोग होता है। यह प्राय दो बार पढ़ा जाता है :—भो भोः पण्डिताः (ओ पण्डितो!)। (२) इसका कभी-कभी आत्मभाषण में भी 'हाय' अर्थ में प्रयोग होता है।

साधु—(१) बहुत अच्छा, शाबाश। (२) लोट् के साथ—'आओ'। दमयन्त्याः पणः साधु वर्तताम् (आओ, दमयन्ती को बाजी पर लगाओ)। (३) अच्छा, इसके साथ लट् उ० पु० का प्रयोग होता है। साधु यामि (अच्छा, मैं अभी जा रहा हूँ)। (४) अवश्य, निश्चित रूप से। यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयम् (यदि मैं जीवित रहा तो उसे अवश्य देखूंगा)।

स्वस्ति—(१) कल्याण हो, शुभ हो। (२) जय हो।

हन्त—(१) उपदेशादि सुनने के लिए आह्वान—'आओ' 'देखो' 'प्रार्थना करता हूँ'। हन्त ते कथयिष्यामि (आओ, मैं तुम्हें बताऊंगा), शृणु हन्त (मेरी प्रार्थना है, सुनो)। (२) यह खेदसूचक है—हाय। ३. यह प्रसन्नता, आश्चर्य और शीघ्रता को सूचित करता है : ओह, आह।

हा—१. यह आश्चर्य या सन्तोष को प्रकट करता है :—आह !,(२) यह दुःखसूचक है :—हाय। हा हतास्मि (हाय, मैं मर गया)। यह प्रायः संबोधन के साथ आता है। कभी कभी इसका प्रयोग द्वितीयान्त के साथ होता है—अफसोस है। इसके साथ कष्टम्, धिक्, या हन्त का भी प्रायः प्रयोग होता है।

अध्याय—६

कृदन्त और तद्धित रूप तथा समास

(Nominal Stem formation and Compounds)

(अ) कृदन्त और तद्धितरूप (Nominal Stems)

१८२. यद्यपि कुछ कृदन्त शब्द केवल शुद्ध धातु ही होते हैं, तथापि कृदन्त और तद्धित शब्द मुख्यतया धातु के बाद प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं। ये प्रत्यय दो प्रकार के हैं :—(१) **कृत् प्रत्यय** (Primary Suffixes), ये धातु के बाद तुरन्त लगते हैं (धातु से पूर्व उपसर्ग भी हो सकते हैं)। (२) **तद्धित प्रत्यय** Secondary Suffixes), ये प्रत्ययान्त शब्दों से होते हैं।

(१) **कृदन्त रूप**—कृदन्त रूपों में धातु प्रायः अपने सबल (Strong) रूप में रहती है। जैसे—विद् (जानना) > वेद (ज्ञान)। अर्थ की दृष्टि से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) भाववाचक संज्ञा शब्द, (२) कर्तृवाचक संज्ञा शब्द। इनका कर्ता और कर्म के रूप में प्रयोग होता है। जैसे—मन् (सोचना) > मति (स्त्रीलिंग, बुद्धि)। युध् (लड़ना) > योध्र (पुं०, योद्धा, लड़ने वाला)। अन्य अर्थ इनके ही परिवर्तित रूप हैं। अतः कुछ भाववाचक संज्ञा शब्द मूर्त अर्थ के द्योतक हो जाते हैं। जैसे—नी (ले जाना) > नयन (नपुं०, ले जाना) का अर्थ नयन (नेत्र, ले जाने वाला अंग) हो जाता है।

(क) जब केवल शुद्ध धातु ही प्रातिपदिक (संज्ञा शब्द) के रूप में प्रयुक्त होती है, तब प्रायः इसमें कोई अन्तर नहीं होता है। जैसे—द्विष्(पु०, द्वेष करने वाला, शत्रु) (८०)। युध् (स्त्री० युद्ध, पुं० योद्धा)। इस प्रकार के बहुत से शब्द समस्त शब्द के अन्त में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—०दुह् (दुहने वाला) (नि० ८१)। आ अन्त वाली धातुओं के आ को ह्रस्व होकर अ हो जाता है तथा इ, उ और ऋ अन्त वाली धातुओं के बाद त् लग जाता है। ये शब्द समास के

अन्तिम पद के रूप में ही रहते हैं। जैसे—सुकृत् (अच्छा कार्य, सत्कर्म, पुण्य) (देख नि० १८७ ख)।

(ख) धातु से होने वाले बहुत से कृत् प्रत्ययों का पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन हो चुका है। जैसे—वर्तमान और भविष्यत् अर्थ में होने वाले कृत् प्रत्यय :—अत् (नि० ८५, १५६), आन और मान (१५८); लिट् के स्थान में होने वाला वांस् (८९, १५७); कर्मवाच्य भूतकाल में होने वाले त और न (१६०); कृत्य प्रत्यय—अनीय[1], तव्य १,[2] और य (१६२)। जिन शब्दों से तुलनार्थक ईयस् और इष्ठ कृत् प्रत्यय लगाकर कृदन्त शब्द बनाए जाते हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है (८८; १०३, २)। शेष में से निम्नलिखित कृत्-प्रत्यय आवश्यक हैं और अधिक प्रयुक्त होते हैं। ये अकारादि—क्रम से नीचे दिए जा रहे हैं :—

अ—इससे प्रातिपदिक और विशेषण शब्द बनते हैं। जैसे—सृज् (बनाना) >सर्ग। (पुं०, सृष्टि); मिह् (क्षरित होना)>मेघ (पुं०, बादल, शब्दार्थ—बरसने वाला); भज् (बाँटना)>भाग (पुं०, हिस्सा); प्री (प्रसन्न करना)> प्रिय (प्रसन्न करने वाला, प्यारा)। ये अ-प्रत्ययान्त प्रायः सभी शब्द नियमित रूप से पुंलिंग हैं, किन्तु युग(नपुं०, जुआ) शब्द नपुं० है (लेटिन—yog-u-m)।

अन्—पुं० कर्ता-बोधक संज्ञा शब्द। कुछ अपूर्ण नपुं० शब्द भी हैं। जैसे—राजन् (पुं०, शासन करने वाला, राजा) (९०, १)। अहन् (नपुं०, दिन) (९१, २)।

अन—नपुं०, भाववाचक संज्ञाशब्द। जैसे—दृश् (देखना)>दर्शन (नपुं०, दृष्टि); भुज् (खाना)>भोजन (नपुं, भोजन)। ये कर्तृ-बोधक संज्ञाशब्द भी होते हैं। जैसे—वाहन (नपुं० ले जाने वाला, सवारी)। बहुत कम अवस्थाओं में इसमें गुण का अभाव रहता है। जैसे—कृपण (रोना, दयनीय)।

अस्, इस्, उस्—नपुं०, भाववाचक संज्ञा शब्द, प्रायः मूर्त अर्थ वाले। (नि० ८३)। जैसे—वचस् (वाणी), ज्योतिस् (प्रकाश), धनुष् (धनुष)।

---

१. इन दो कृत्य प्रत्ययों का उत्तरभाग ईय और य तद्धित प्रत्यय है (१८२,२), किन्तु ये पूरे प्रत्यय कृत् प्रत्यय के तुल्य प्रयुक्त होते हैं (१६२,३)।

२. तव्य का पूर्वभाग सम्भवतः प्राचीन तुमर्थक प्रत्यय तवे से लिया गया है। (परिशिष्ट ३, १३ ख)।

इ—स्त्री०, भाववाचक संज्ञाशब्द, कर्तृवाचक संज्ञाशब्द भी। विशेषण और संज्ञाशब्द, तथा कुछ अज्ञान उत्पत्ति वाले नपुंसकलिंग भी। जैसे—कृषि (स्त्री०, जोतना); शुचि (चमकने वाला); पाणि (पुं०, हाथ), अक्षि (नपुं०, आँख), अस्थि (नपुं०, हड्डी), दधि (नपुं०, दही) (देखो नि० ९९,३)।

उ—कर्तृवाचक संज्ञाशब्द, विशेषण और संज्ञाशब्द। संज्ञाशब्द अधिकांशतः पुंलिंग होते हैं, किन्तु इनमें बहुत से स्त्री० और नपुं० शब्द भी होते हैं। जैसे—तनु (पनला) (लेटिन—ten-u-i-s); बाहु (पुं०, हाथ); हनु (स्त्री०, ठोडी); जानु (नपुं०, घुटना)।

उन—विशेषण शब्द और पुं० तथा नपुं० संज्ञाशब्द। जैसे—तरुण (युवक); मिथुन (पुं०) (नपुं०, जोड़ा); शकुन (पुं०, पक्षी)।

ऊ—स्त्री०, अधिकांश शब्द पुंलिंग और उ अन्त वाले स्त्रीलिंग शब्दों से मिलते- जुलते हैं। जैसे—तनू (शरीर, स्वतंत्ररूप मे बना हुआ शब्द); चमू (सेना), वधू (बहू)।

त—यह सामान्यतया कर्मवाच्य भूतकालिक प्रत्यय है, साथ ही यह व्यापकरूप मे, विशेषण और संज्ञाशब्दों में प्रत्यय का काम करता है। जैसे—शीत (ठंडा), असित (काला), दूत (पुं, दूत), हस्त (पुं०, हाथ)।

ति—स्त्रीलिंग, भाववाचक संज्ञाशब्द। जैसे—भूति (कुशलता; कल्याण); जाति (जन्म); ज्ञाति (संबन्धी)। यह कभी-कभी मूर्त वस्तु पुरुष को द्योतित करता है, अतः पुंलिंग भी माना जाता है।

तु—यह मुख्यरूप से तुम्-प्रत्ययान्त शब्दों का आधार है। जैसे—गन्तुम् (जाने को)। तु-प्रत्ययान्त कुछ पुं० और नपुं० संज्ञा शब्द भी होते हैं। जैसे—तन्तु (पुं०, धागा), हेतु (पुं०, कारण), (प्रेरणा देना अर्थ वाली हि धातु से यह शब्द बना है); वास्तु (नपुं०, निवास स्थान)।

तृ—पुं०, कर्तृवाचक संज्ञा शब्द। जैसे—कर्तृ (करने वाला)। संबन्धबोधक नामों वाले स्त्रीलिंग और पुंलिंग शब्द भी तृ-प्रत्ययान्त हैं। जैसे—मातृ (स्त्री०, माता), पितृ (पुं०, पिता)।

त्र—(पुं०, नपुं०), त्रा (स्त्री०), साधन या हेतुवाचक शब्द। जैसे—पा (पीना) धातु से पात्र (नपुं०, पात्र), दंश् (काटना) से दंष्ट्र (पुं०, काटने

वाला, दाढ़), मन् (सोचना) से मन्त्र (पुं०, प्रार्थना); मा (नापना) से म (स्त्री०, मात्रा, परिमाण)।

थ—(पुं०, नपुं०), **था** (स्त्री०)—अर्थ (पुं०, अर्थ, लक्ष्य,); तीर्थ (न घाट); गाथा (स्त्री०, गीत, गान)।

न—(पुं०, नपुं०), **ना** (स्त्री०)—ये कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त बनाते हैं (१६०, १), साथ ही विशेषण और संज्ञा शब्द भी होते हैं। जैसे कृष्ण (काला); वर्ण (पुं०, रंग); पर्ण (नपुं०, पंख); तृष्णा (स्त्री०, प्यास

नि—(पुं०, स्त्री०)— जैसे—अग्नि (पुं०, अग्नि) (लेटिन—Ig-ni- श्रेणि (स्त्री०, पंक्ति)।

नु—(पुं०, स्त्री०) जैसे—भानु (पुं०, प्रकाश), सूनु (पुं०, पुत्र), (स्त्री०, गाय)।

म—विशेषण, पुं० संज्ञाशब्द। जैसे—भीम (भयंकर), धूम (पुं०, धुआँ

मन्—(पुं०, नपुं०) मुख्यतया नपुं० भाववाचक संज्ञाशब्द। जैसे कर्मन् (नपुं०, कर्म); ब्रह्मन् (नपुं०, प्रार्थना); अश्मन् (पुं०, पत्थर); ब्रह (पुं०, प्रार्थना करने वाला, स्तोता) (९०,३)।

मि—(पुं०, स्त्री०), **मी** (स्त्री०) जैसे—रश्मि (पुं०, किरण); भू (स्त्री०, पृथ्वी); भूमी (स्त्री०, भूमि); लक्ष्मी (स्त्री०, समृद्धि)।

यु—(पुं०) जैसे—मन्यु (क्रोध); मृत्यु (मृत्यु)।

र—(विशेषण), (पुं०, नपुं० संज्ञाशब्द) जैसे—उग्र (भयंकर); रुद्र (पुं शिव, (एक देवता का नाम); अभ्र (नपुं०, बादल)।

रु—(विशेषण), (नपुं०, संज्ञा शब्द) जैसे—भीरु (डरपोक); अ (नपुं०, आँसू)।

व—(विशेषण) (पुं० संज्ञा शब्द) जैसे—सर्व (सब) (लेटिन—Sal-vo- अश्व (पुं०, घोड़ा) (लेटिन—eq-uo-s)।

वन्—(विशेषण), (पुं०, नपुं०, संज्ञा शब्द) जैसे—पीवन् (मोटा) ग्रावन् (पुं०, पत्थर) (९०, ४); पर्वन् (नपुं०, गांठ, जोड़)।

मय—वि०, (स्त्री०, में ई लगेगा) 'युक्त' 'सहित'। जैसे—मनोमय (मन-युक्त, आध्यात्मिक)।

य—वि०, (पुं०, नपुं०, संज्ञाशब्द। इससे 'संबद्ध' अर्थ में विशेषण शब्द बनते हैं। पुं० में अपत्य अर्थ और नपुं० में वृद्धि-सहित भाववाचक शब्द तथा विना वृद्धि के सामान्य विशेषण शब्द होंगे। जैसे—ग्रीवा (गर्दन) > ग्रैव्य (ग्रीवा-संबन्धी); आदित्य (पुं०, अदिति का पुत्र); सुभग (सुन्दर भाग्य से युक्त) > सौभाग्य (नपुं०, सौभाग्य); पितृ (पिता) > पित्र्य (पैतृक)।

र—उपसर्गों से र लगकर तुलनार्थक शब्द बनते हैं तथा अन्य शब्दों से विशेषण शब्द। जैसे—अवर (अपेक्षाकृत नीचा), धूम (धुआँ) > धूम्र (भूरा, मटमैला)।

ल—वि०; पुं० संज्ञा शब्द। इससे कुछ विशेषण तथा कुछ अल्पार्थक शब्द बनते हैं। जैसे—कपिल (बन्दर के रंग का, भूरा), बहुल (अधिक); वृषल (पुं०, छोटा आदमी, नीच जाति का व्यक्ति, शूद्र)।

वत्—वि०, 'युक्त' अर्थ। जैसे—प्रजावत् (सन्तानयुक्त), नभस्वत् (मेघ-युक्त; पुं०, वायु)।

वन्—इससे 'युक्त' अर्थ में विशेषण शब्द तथा पुं० संज्ञा शब्द होते हैं। जैसे—मघवन्, (पुं०, धनवान्, यह इन्द्र का विशेषण है); अथर्वन्। (पुं०, पुरोहित)।

विन्—इससे 'युक्त' अर्थ वाले विशेषण शब्द बनते हैं। जैसे—यशस्विन् (कीर्तिशाला, यशस्वी)।

१८३. उपर्युक्त प्रत्यय-सूचियों से संस्कृत-संज्ञा शब्दों के **लिंग-निर्धारण** के कतिपय नियम प्राप्त होते हैं। उनको संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं:—

सामान्यतया कहा जा सकता है कि दीर्घ स्वर आ, ई और ऊ अन्त वाले सभी शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। अ, त् और न् अन्त वाले शब्द पुंलिंग और नपुं-सकलिंग होते हैं। इ और उ अन्त वाले शब्द सभी लिंगों में होते हैं।

(**क**) आ ई, ऊ, ता, त्रा और ति प्रत्यय अन्त वाले सभी शब्द **स्त्रीलिंग** होते हैं।

(ख) त्व, रु, इस्, उस् और (प्राणी के नाम को छोड़कर) अस् तथा (कर्ता अर्थ वाले शब्दों को छोड़कर) अन प्रत्ययान्त सभी शब्द **नपुंसकलिंग** होते हैं।

(ग) त, व, यु, आयन, इ (अपत्यार्थक), क, भ और ल प्रत्ययों से बने सभी शब्द **पुंलिंग** होते हैं (यदि ये विशेषण के रूप में प्रयुक्त न हों तो)।

(घ) **पुंलिंग और स्त्रीलिंग :**—नि, नु, मि, तृ प्रत्ययों से बने सभी शब्द और केवल शुद्ध धातुरूप वाले शब्द (यदि विशेषण होंगे तो नपुं० भी) पुं० और स्त्री० होते हैं।

(ङ) **पुंलिंग और नपुंसकलिंग :**—अ, थ, न, उन, म, य, र, त्य, त्र, तु, अन्, मन्, वन्, तथा इन्, विन्, ईन, ईय, तन, तम, तर, मय, मत् और वत् प्रत्ययों से बने विशेषण शब्द पुं० और नपुं० होते हैं।

(च) **पुं०, स्त्री० और नपुं० :**—इ और उ प्रत्ययों से बने सभी शब्द तीनों लिंगों में से किसी में भी आ सकते हैं।

(आ) समास (Compounds)

१८४. (१) **सधातुक समास** (Verbal Compounds)—ये समस्त पद लगभग २० उपसर्गों तथा कुछ निपातों के साथ धातु को मिलाकर बनाए जाते हैं। समासयुक्त धातुओं के रूप सामान्य धातुओं के तुल्य चलते हैं। इस प्रकार गम् (जाना) धातु सम् (साथ) उपसर्ग के साथ मिलकर संगम् (साथ जाना, परस्पर मिलना) धातु होती है और इसका लट् प्र० पु० १ में संगच्छति रूप बनता है। समस्त धातु से पूर्वोक्त (१८२, १) कृत् प्रत्यय लगाकर संज्ञा शब्द बनाए जा सकते हैं। जैसे—संगम् > संगम (पुं०, संघ, मिलन)।

(क) धातुओं के साथ समस्त होने वाले उपसर्ग निम्नलिखित हैं :—अति (अतिक्रमण करके, परे), अधि (पर), अनु (पीछे), अन्तर् (बीचमें), अप (दूर, परे), अपि (पर), अभि (अभिमुख, विरुद्ध), अव (नीचे), आ[1] (समीप), उद् (ऊपर), उप (समीप, तक), नि (नीचे), निस् (बाहर), परा (दूर), परि (चारों ओर), प्र (आगे), प्रति (ओर), वि (पृथक्, भिन्न), सम् (साथ)।

---

१. जाना और देना अर्थ वाली धातुओं के साथ आ उपसर्ग उनका अर्थ उलट देता है। जैसे—गम् (जाना), आगम् (आना), दा (देना), आदा (लेना)।

(ख) इनके अतिरिक्त कुछ निपात हैं, जो कुछ विशेष धातुओं के साथ ही समस्त होते हैं। जैसे—तिरस् (पार, एक ओर) का कृ (बनाना), धा (रखना) और भू (होना) धातुओं के साथ समास होता है। जैसे—तिरस्कुर्वन्ति (वे तिरस्कार करते हैं); तिरोधा (एक ओर रखना, छिपाना); तिरोऽभवन् (वे छिप गए); पुरस् का कृ और धा धातु के साथ (सामने रखना, आदर करना)। जैसे—पुरस्क्रियन्ताम् (उनका आदर करो); आविस् (प्रकट) का कृ धातु के साथ। आविष्कृ (प्रकट करना), अस् और भू के साथ (प्रकट होना) अर्थ है। जसे—आविष्करोति (वह प्रकट करता है), आविरासीत् (वह प्रकट हुआ)। अलम् (बस) का कृ के साथ। अलंकृ (सजाना)। श्रद् यह एक प्राचीन शब्द है, इसका अर्थ है—हृदय (लेटिन—cord), यह क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। इसका धा (रखना) धातु के साथ समास होता है। इसी प्रकार नमस् (नमस्कार), अस्तम् (गृह वाचक अस्त शब्द का द्वितीया एक० का रूप) का क्रमशः कृ (करना) और इ (जाना) धातु के कृदन्त रूपों के साथ समास होता है। जैसे—श्रद्दधामि (मैं श्रद्धा करता हूँ)। (लेटिन—credo), नमस्कृत्य (नमस्कार करके); अस्तमित (सूर्य अस्त हुआ)।

विशेष—संज्ञा शब्दों और विशेषण शब्दों का कृ और भू धातु के साथ समास होता है। समास होने पर इन धातुओं से पूर्ववर्ती अन्तिम अ, आ और इ को ई हो जाता है तथा अन्तिम उ को ऊ होता है। जैसे—वश (पुं०, वश में होना) से वशीकृ (वश में करना), वशीभू (वशीभूत होना); परिखीकृत (परिखा अर्थात् खाई के रूप में परिवर्तित)। इन धातु-निर्मित समस्त पदों के अर्थ में परिवर्तन का भाव आ जाता है, अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं थी, वैसी हो जाती है। अतः रत्नीभूत का अर्थ होगा—रत्नरूप में परिवर्तित। किन्तु रत्नभूत का अर्थ होगा—रत्न-स्वरूप। रत्नभूत में सामान्यरूप से कर्मधारय समास है। (नि० १८८, १ ग)।

२. सुबन्त समास (Nominal Compounds)

१८५. दो या अधिक शब्दों को एक पद में समस्त करने की शक्ति सभी भारोपीय (Indo-European) भाषाओं में थी, किन्तु यह शक्ति अन्य भाषाओं

की अपेक्षा संस्कृत में अधिक विकसित हुई है। संस्कृत में लम्बे और क्लिष्ट समास ही निरन्तर प्रयुक्त नहीं होते हैं, अपितु वे अन्य समकक्ष भाषाओं में प्रचलित विग्रहात्मक (विवरणात्मक) भावाभिव्यक्ति का भी स्थान ले लेते हैं। कालिदास ने निर्विन्ध्या नदी का वर्णन करते हुए कहा है—'वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः (मेघदूत १-२९) लहर-क्षोभ-शब्द करते हुए-पक्षी-पंक्ति-मेखला-रस्सी से युक्त। इसको सामान्य रूप से कहा जाए तो प्रयोग होगा—लहरों के चलने से शब्द करते हुए पक्षिसमूह ही उसकी मेखला थे। अतएव संस्कृत में वाक्यरचना की दृष्टि से समास महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत के वाक्य का स्पष्ट अर्थ जानने के लिए समासों का वर्गीकरण और अन्तर समझना आवश्यक है। समासों का अत्यन्त सरल वर्गीकरण निम्नलिखित ३ प्रकार से होता है—१. **द्वन्द्व समास** (**co-ordinatives**), २. **तत्पुरुष समास** (**Determinatives**), ३. **बहुव्रीहि समास** (**Possessives**)। तत्पुरुष समास को Determinative इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसका प्रथमपद उत्तरपद का अर्थ-निर्णय करता है या उसका विशेषण होता है, तत्पुरुष समास २ प्रकार का है—१. तत्पुरुष (Dependent Determinative), २. कर्मधारय (Descriptive)। बहुव्रीहि समास गौण (Secondary) समास है, इसमें तत्पुरुष समास वाले पद ही विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(क) समास होने वाले शब्दों में अन्तिम शब्द को छोड़कर सामान्यतया सभी शब्द अपने मूलरूप में रहते हैं, अर्थात् दो अंग वाले शब्दों में अपंचस्थान वाला (weak) रूप रहता है और तीन अंग वाले शब्दों में पदस्थान वाला (middle) रूप (७३ क) रहता है। द्वन्द्व और तत्पुरुष समासों में अन्तिम शब्द सामान्यतया अपने साधारण रूप और विभक्ति से युक्त होता है, यदि वह संज्ञा शब्द है तो उसमें मूल शब्द का लिंग भी रहता है। बहुव्रीहि समास में अन्तिम शब्द का लिंग और विभक्ति आदि विशेष्य के तुल्य होंगी। जैसे—देवदासः (पुं०, देव का दास या देवों का दास)। स्वामिसेवा (स्त्री०, स्वामी की सेवा); राजकर्म (नपुं०, राजा का कार्य); सनामन् (पर्यायवाची), प्र०१, पुं० सनामा, स्त्री०, सनाम्नी, नपुं०—सनाम।

१. द्वन्द्व समास (Co-ordinative Compounds)

१८६. द्वन्द्व समास में दो या अधिक शब्दों का समास होता है, जो 'च' (और) शब्द के द्वारा जुड़े होते हैं। ये शब्द अधिकांशतः संज्ञा शब्द होते हैं। कुछ विशेषण शब्दों और बहुत थोड़े क्रिया विशेषण शब्दों का भी द्वन्द्व समास होता है। भारतीय वैयाकरणों ने द्वन्द्व (जोड़ा, युगल) के आधार पर इस समास का नाम द्वन्द्व समास रखा है।

(१) समास होने वाले शब्दों के द्वारा यदि दो का बोध होगा तो द्विवचन होगा, यदि दो से अधिक का बोध होगा तो बहुवचन होगा। द्वन्द्व समास में अन्तिम शब्द का जो लिंग होता है, वही लिंग समस्त पद में होता है। जैसे—हस्त्यश्वौ (एक हाथी और एक घोड़ा), हस्त्यश्वाः[1] (हाथी और घोड़े)। यदि समास होने वाले शब्द व्यक्ति का बोध न कराकर जाति या वर्ग का बोध कराते हैं तो समस्त पद में समूहसूचक नपुंसकलिंग एकवचन होगा। जैसे—गवाश्वम् (गाय और घोड़े)। विरुद्ध गुण वाली दो चीजों का प्रायः द्वन्द्व समास होता है जैसे—सिंहगजाः (शेर और हाथी) सारमेय मार्जाराः (कुत्ते और बिलाव)। अहोरात्र (पुं० और नपुं०) (दिन और रात)। द्वन्द्व समास में समस्त होने वाले शब्दों की कोई सीमा नहीं है, वे दो या उससे बहुत अधिक भी हो सकते हैं। जैसे—देवगन्धर्वमानुषोरगराक्षसाः (देवता, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प और राक्षस)।

(२) विशेषण शब्द (क्त-प्रत्ययान्त शब्दों को लेते हुए) अपेक्षाकृत बहुत कम समस्त होते हैं। जैसे—उत्तरदक्षिण(उत्तर और दक्षिण); शीतोष्ण (ठंडा और गर्म); सितासित (सफेद और काला); घनायत (घना और विस्तृत, वन); कृताकृत (किया और न किया हुआ), मृताजात (मृत और अनुत्पन्न)।

(क) कभी-कभी दो क्त-प्रत्ययान्त शब्दों का भी समास होता है। ऐसे शब्दों में तुरन्त बाद में होने वाली घटना का भाव व्यक्त किया जाता है। प्रथम और द्वितीय पदों का संबन्ध 'ज्योंही...त्यों ही' शब्दों के द्वारा अनुवाद में प्रकट किया जाता है। जैसे—दृष्टनष्ट (दिखाई दिया और छिप गया, अर्थात् ज्योंही दिखाई दिया, त्योंही छिप गया)। जातप्रेत (ज्योंही उत्पन्न हुआ,

---

१. देखो लेटिन+Su-ove-taurilia.

त्योंही मर गया)। उत्खातप्रतिरोपित (उखाड़ते ही उसे तुरन्त लगाया गया)। सुप्तोत्थित (सोया और जागा, अर्थात् सोकर अभी उठा है)।

३. क्रिया-विशेषण शब्दों के द्वन्द्व समास बहुत कम मिलते हैं। ऐसे समस्त पद हैं:—सायंप्रातर् (सायंकाल और प्रातःकाल); दिवानक्तम् (दिन-रात)।

(क) विभिन्न समासों से युक्त पदों का भी द्वन्द्व समास कहीं-कहीं मिलता है। जैसे—व्याकीर्णकेसरकरालमुख (व्याकीर्णकेसर+करालमुख, बिखरे हुए बाल और भयंकर मुँह वाला)। इसमें दो बहुव्रीहि समास वाले पद हैं। (१८९)

(ख) वेदों में अनेक देवता-द्वन्द्व समास मिलते हैं। इनमें प्रत्येक पद द्विवचन होता है और उसपर पृथक् पृथक् दो उदात्त स्वर होते हैं। संस्कृत में इनमें से बहुत कम शेष बचे हैं। जैसे—मित्रावरुणौ[1] (मित्र और वरुण), द्यावापृथिव्यौ (द्युलोक और पृथिवी)[2]। प्रथमा, सं० और द्वितीया को छोड़कर अन्य विभक्तियों में अन्तिम शब्द के ही रूप चलते हैं। जैसे—मित्रावरुणयोः, द्यावापृथिव्योः।

(ग) मातृ (माता) और पितृ (पिता) शब्द जब संबन्धसूचक द्वन्द्व-समास के प्रथम पद होते हैं तो ये माता और पिता (प्रथमा एक०) शेष रहते हैं। जैसे—मातापितरौ (माता और पिता), पितापुत्रौ (पिता और पुत्र)।

संबन्धवाचक युगल का द्वन्द्व समास करके पुंलिंग के द्विवचन का प्रयोग करने पर स्त्रीलिंग का भी अर्थ उसमें आ जाता है। जैसे—पितरौ (माता-पिता), श्वशुरौ (सास-ससुर), पुत्रौ (पुत्र और पुत्री या दो पुत्र), भ्रातरौ[3] (भाई और बहिन)।

२. (क) तत्पुरुष समास (Dependent Determinatives)

१८७. तत्पुरुष समास में प्रथमपद अन्तिम पद पर निर्भर होता है। वाक्य-

---

१. मित्रा और द्यावा वैदिक द्वन्द्व हैं। इस प्रकार के समास संभवतः एकशेष समास वाले द्विवचन रूपों के प्रतिरूप हैं। जैसे—मित्रा (दो मित्र अर्थात् मित्र और वरुण)। द्वादश (दो और दश) संख्यावाचक द्वन्द्व हैं। इसमें प्रथम पद द्वा प्राचीन द्विवचन है।

२. तुलना करो—लेटिन—Soceri=Socer et-socrus.

३. ,, ,, fratres='Brother and sister'.

विन्यास की दृष्टि से प्रथम पद का अन्तिम पद के साथ वही संबन्ध होता है, जो विशेषण (संज्ञा या सर्वनाम) का तृतीया आदि कारकों में होता है। समस्त पद का अन्तिम शब्द संज्ञा या विशेषण जैसा होगा, उसी प्रकार समस्त पद संज्ञा या विशेषण होगा।

जैसे—तत्पुरुष (पुं०, उसका आदमी)। (भारतीय वैयाकरणों ने इस समास को सूचित करने के लिए तत्पुरुष नाम दिया है, जो तत्पुरुष समास का उदाहरण भी है)। शूरमानिन् (विशेषण, अपने आपको शूर मानने वाला)। गुणोपेत (वि०, गुणों से युक्त) (उपेत—उप+इत, इ धातु का क्त-प्रत्ययान्त रूप है)।

तत्पुरुष समास में प्रथमपद द्वितीया आदि किसी भी विभक्ति से युक्त हो सकता है, परन्तु षष्ठी-तत्पुरुष समास अत्यधिक प्रचलित है।

१. **द्वितीया**—इसमें अन्तिम पद धातु से बना हुआ विशेषण शब्द होता है।[1] जयप्रेप्सु (वि०, जय का इच्छुक)। (प्रेप्सु—प्र+ईप्सु=आप्+सन् (स)+उ, नि० १७०,२)। वर्षभोग्य (वि०, वर्ष भर भोगने योग्य) (भोग्य भविष्यत् अर्थ वाले कृत्य प्रत्यय ण्यत् से युक्त है)। गृहागत (वि० घर आया हुआ) आगत क्त-प्रत्ययान्त है)। ग्रामप्राप्त (गांव में आया हुआ)[2]। बहुव्रीहि समास में क्त-प्रत्ययान्त रूप प्रायः प्रारम्भ में प्रयुक्त होता है। जैसे—प्राप्तग्राम (प्राप्त हो गया है ग्राम जिसको)।

२. **तृतीया**—मासपूर्वः (एक मास पहले)। स्वामि-सदृश (अपने मालिक के तुल्य) नि० १६६, २ ङ)। अल्पोन (थोड़ा कम अर्थात् लगभग समाप्त)। अहिहत (साँप का काटा हुआ)। देवदत्त (देवों के द्वारा प्रदत्त), यह शुभ अर्थ का सूचक है और साधारणतया एक व्यक्ति बोधक शब्द के तुल्य प्रयुक्त होता है। यह प्रायः अनिश्चित व्यक्ति (अमुक) का बोधक होता है।

३. **चतुर्थी**—यूपदारु (नपुं०, यज्ञिय स्तम्भ के लिए लकड़ी)। विष्णुबलि (पुं०, विष्णु के लिए प्रदत्त वस्तु)। प्रभुहित (वि०, राजा के लिए हितकर)।

---

१. तुलना करो—लैटिन—gu-dex (न्याय का संकेत करने वाला, अर्थात् न्यायाधीश)।

२. क्त-प्रत्ययान्त 'गत' (गया) शब्द का प्रयोग प्रायः तत्पुरुष समास के अन्त में 'प्राप्त' 'आया हुआ' 'संबद्ध' अर्थ में होता है। जैसे—हस्तगत (हाथ में आया हुआ)।

४. **पंचमी** स्वर्गपतित (वि०, स्वर्ग से गिरा हुआ)। भवदन्य (वि० आप से भिन्न)।

५. **षष्ठी**—राजपुरुष (पुं०, राजा का व्यक्ति, राजकर्मचारी)। व्याघ्रबुद्धि (स्त्री०, व्याघ्र की बुद्धि अर्थात् उसे व्याघ्र मानना)।

६. **सप्तमी**—उरोज (वि०, छाती पर उत्पन्न, अर्थात् स्तन)। अश्वकोविद (वि०, अश्वविद्या में निपुण)। गृहजात (वि०, घर में उत्पन्न)। पूर्वाह्णकृत (वि०, पूर्वाह्ण में किया गया)।

(क) कुछ तत्पुरुष समास वाले पदों में पूर्वपद में विभक्ति शेष रहती है (**अलुक् समास**)। जैसे—धनंजय (वि०, धन जीतने वाला); (पुं० व्यक्ति वाचक शब्द)। परस्मैपद (नपुं०, दूसरे के लिए पद या शब्द)। वाचस्पति (पुं०, वाणी का स्वामी)। युधिष्ठिर (वि० युद्ध में स्थिर; पुं० व्यक्तिवाचक शब्द)।

(ख) यदि तत्पुरुष समास का अन्तिम पद एक धातु होती है तो उसमें कोई अन्तर नहीं होता है, केवल धातु के आ को अ हो जाता है और धातु के इ, ऋ के बाद त् जुड़ जाता है (नि० १८२, १ क)। जैसे—वरद (वि०, वर देने वाला) (दा 'देना' धातु)। विश्वजित् (वि०, सबको जीतने वाला)। कर्मकृत् (वि०, काम करने वाला, परिश्रमी)।

(ग) तत्पुरुष समास के अन्त में प्रयुक्त '**विशेष**'(पुं०) शब्द का अर्थ है—विशेष प्रकार का, अर्थात् विशिष्ट, असाधारण, उत्कृष्ट। इसी प्रकार '**अन्तर**' (नपुं०) का अर्थ है 'भिन्न'। इसका साधारणतया अर्थ होता है 'दूसरा'। कभी-कभी इसका अर्थ होता है—'विशेष, प्रमुख'। जैसे—तेजोविशेष। (पुं०, असाधारण तेज)। देशान्तर (नपुं०, दूसरा देश)। उपायान्तर (नपुं, विशेष उपाय)। भाष्यान्तर (नपुं०, दूसरा भाष्य, विशेष प्रकार का वार्तालाप)।

(घ) '**अर्थ**' (पुं०, वस्तु, प्रयोजन) का तत्पुरुष समास में अन्तिक पद के रूप में क्रियाविशेषण के ढंग से प्रयोग होता है। इसका द्वितीया विभक्ति में भी प्रयोग होता है। कुछ स्थानों पर चतुर्थी और सप्तमी विभक्ति में भी प्रयोग होता है जैसे—दमयन्त्यर्थम् (दमयन्ती के लिए)।

२. (ख) कर्मधारय समास (Descriptive Determinatives

१८८. कर्मधारय समास में प्रथम पद अन्तिम पद की विशेषता बताता है

या उसका गुण-वर्णन करता है, वाक्य-विन्यास की दृष्टि से प्रथम और अन्तिम पद का संबन्ध विधेय का है। यह सम्बन्ध तीन प्रकार से प्रकट किया जा सकता है :—

१. **संज्ञा शब्द के द्वारा** (पूर्वपद में)। जैसे—राजर्षि। (पुं०, राजा-ऋषि अर्थात् राजा होते हुए ऋषि)। स्त्रीजन (पुं०, स्त्रीगण)।

(क) कभी-कभी उपाधिवाचक शब्द का व्यक्तिवाचक शब्द के साथ समास होता है। जैसे—अमात्यराक्षस (मंत्री राक्षस)। कभी-कभी व्यक्तिवाचक शब्द पहले आता है। जैसे—शाण्डिलीमातृ (माता शाण्डिली)।

(ख) प्रथम-पद प्रायः तुलना अर्थ को प्रकट करता है। जैसे—जलदश्याम (वि०, बादल के तुल्य (साँवला)। हिमशिशिर (वि०, बर्फ के तुल्य ठंडा)। जलान्तश्चन्द्रचपल (वि०, जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के तुल्य चंचल)। जब दोनों पद प्रातिपदिक होते हैं, तब जिस वस्तु से तुलना की जाती है वह समास में पहले न रखकर अन्त में रखी जाती है। जैसे—पुरुषव्याघ्र (पुं०, पुरुष-बघेरा, अर्थात् व्याघ्रसदृश बलवान् मनुष्य)। वाङ्मधु (नपुं०, वाणी-मधु, अर्थात् मधुर वाणी)। पादपद्म (नपुं०, चरण-कमल, अर्थात् कमल सदृश चरण)।

(ग) क्त-प्रत्ययान्त 'भूत' हुआ, रहा) शब्द 'होना, स्वरूप या विद्यमान' अर्थ में संज्ञा शब्दों के बाद जुड़ जाता है। इस प्रकार यह संज्ञाशब्द विशेषण हो जाता है। जैसे—तमोभूत (अन्धकार-स्वरूप), रत्नभूत (रत्नरूप) (देखो १८४ ख)।

२. **विशेषण के द्वारा**:—जैसे—कृष्णसर्प (पुं०) काला साँप); नीलोत्पल (नपुं०, नीला कमल); मध्याह्न (पुं०, दोपहर); अर्धमार्ग (पुं०, आधा रास्ता); वर्तमानकवि (पुं०, जीवित कवि)।

(क) जिन समस्त पदों में विशेषण शब्द संख्यावाचक होता है, उसे भारतीय वैयाकरणों ने एक पृथक् समास मानकर 'द्विगु' (दो-गाय) नाम दिया है। ये शब्द प्रायः नपुंसक लिंग या ईकारान्त स्त्रीलिंग होते हैं और समाहार (समूह) अर्थ के बोधक होते हैं। जैसे—त्रिलोक (नपुं०) या त्रिलोकी (स्त्री०) (तीन लोक)। ये शब्द बहुव्रीहि समास करने पर विशेषण भी हो जाते हैं (१८९)। जैसे—त्रिगुण (नपुं०, द्विगु०, तीन गुण); त्रिगुण (वि०, बहु० तीन गुणों वाला)।

(ख) 'पूर्व' (पहले) शब्द क्रियाविशेषण के रूप में प्रारम्भ में प्रयुक्त न होकर क्त-प्रत्ययान्त के बाद अन्त में प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ होता है —पहला । जैसे—दृष्टपूर्व (वि०, पहले देखा हुआ) ।

(ग) कर्मधारय समास के प्रारम्भ में 'महत्' शब्द को 'महा' हो जाता है । और अन्तिम शब्द राजन् को राज (पुं०), अहन् को अह (पुं०), सखि को सख (पुं०) और रात्रि को रात्र (पुं०, नपुं) हो जाता है । जैसे—महाराजः (बड़ा राजा), पुण्याहम् (शुभ दिन), प्रियसखः (प्रिय मित्र), अर्धरात्र (पुं०, आधी रात) ।

(घ) अन्योन्य (परस्पर) और परस्पर (परस्पर) शब्द एक प्रकार के अनियमित समास हैं, इनमें पुं० प्रथमा एक० का रूप, जो कि प्रायः वाक्य-विन्यास में अधिकतर प्रयुक्त होता था, सामान्यीकरण के द्वारा सर्वत्र प्रथम पद में प्रयुक्त होने लगा । जैसे—अन्योन्याम् (स्त्री०, द्वितीया १)=अन्या+अन्याम् (एक दूसरे को) है ।

३. **क्रिया-विशेषण के द्वारा**—(इसमें उपसर्गों और निपातों का भी संग्रह है) :—जैसे—सुजन (पुं०,सज्जन); अधिलोक (पुं०, सर्वोच्च लोक); अज्ञात (वि०, अपरिचित); यथोक्त (वि० पूर्वोक्त); एवंगत (वि०, ऐसा होने पर) ।

(क) इस प्रकार के समस्त पद जब नपुं० द्वितीया एक० में क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं, तब उन्हें भारतीय वैयाकरणों ने एक विशेष समास अर्थात् **अव्ययीभाव समास** (अव्यय की अवस्था) नाम दिया है । जैसे —अनुरूपम् (अनुसार, अनुकूल); यथाशक्ति (शक्ति के अनुकूल); सविनयम् (सविनय); यावज्जीवम् (जीवन भर) ।

३. बहुव्रीहि समास (Passessive Compounds)

१८९. ये समस्त पद वस्तुतः विशेषण पद हैं, जो उक्त या अनुक्त विशेष्य पद के अनुसार प्रयुक्त होते हैं । ये तत्पुरुष समास हैं (सामान्यतया विशेषण-रूप में प्रयुक्त कर्मधारय समास), जिनके अन्त में संज्ञा शब्द होते हैं और विशेष्य के अनुसार इनके लिंग, विभक्ति और वचन होते हैं । भारतीय वैयाकरणों ने इनके लिए 'बहुव्रीहि' समास नाम दिया है, जो स्वयं इसका एक उदाहरण है । बहुव्रीहि (पुं०) का अर्थ है 'बहुत चावल', यही विशेषण के रूप

में प्रयुक्त होगा तो इसका अर्थ होगा—'बहुत चावल वाला'। पहला कर्मधारय है और दूसरा बहुव्रीहि।

प्रत्येक तत्पुरुष बहुव्रीहि में बदला जा सकता है :—जैसे—इन्द्रशत्रु (पुं०, तत्पु० इन्द्र का शत्रु, बहु० इन्द्र है शत्रु जिसका); भीमपराक्रम (पुं०, तत्पु० भयंकर पराक्रम, बहु० भयंकर पराक्रम वाला); त्रिपद (त्रि० तीन पैरों वाला) लेटिन—tri-ped-); अधोमुख (वि० नीचे मुँह किए हुए) (मुख, नपुं० का अर्थ है मुँह); अपुत्र (वि० पुत्रहीन); सभार्य (वि० भार्या अर्थात् पत्नी से युक्त); तथाविध (वि०, वैसी अवस्था वाला) (विधि पुं० से बना है); दुर्मनास् (वि०, प्रथमा पुं०, स्त्री०, (खिन्न चित्त वाला)।

(क) वेद में उदात्त स्वर के अन्तर से तत्पुरुष और बहुव्रीहि का अन्तर होता था। जैसे—राजपुत्रं (तत्पु० राजा का पुत्र) (अन्तोदात्त अर्थात् अन्तिम स्वर उदात्त है), राजपुत्र (वि०, राजा है पुत्र जिसका) (आद्युदात्त प्रथम स्वर उदात्त है)।

(ख) बहुव्रीहि समास वाले पद प्रायः संज्ञाशब्द या व्यक्ति-नाम के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—सुहृद् (अच्छे हृदय वाला) यही पुं० 'मित्र' हो जाता है। सत्यश्रवास् (वि० प्रथमा १, वास्तविक कीर्ति वाला) यह एक व्यक्ति का नाम हो गया है।

(ग) बहुव्रीहि समास वाले पद प्रायः बहुत क्लिष्ट और उलझे हुए होते हैं, इनमें अन्य समासों वाले पद भी संबद्ध होते हैं। जैसे—[वीचि-क्षोभ)–स्तनित-(विहग-श्रेणि)]—(काञ्ची-गुण) में बहुव्रीहि समास कर्मधारय पर निर्भर है और इसमें दो मुख्य भाग हैं। द्वितीय भाग 'काञ्चीगुण' (पुं०) (मेखला की रस्सी) में तत्पुरुष समास है। प्रथमपद कर्मधारय समास है। इसमें 'विहग-श्रेणि' (पक्षियों की पंक्ति) तत्पुरुष समास है और इसका विशेषण 'वीचि-क्षोभ-स्तनित' (तरंगों की चंचलता से शब्द करती हुई) है। इसमें दो तत्पुरुष समास हैं। इसमें 'स्तनित' का विशेषण है—वीचि-क्षोभ (तत्पु०, तरंगों की चंचलता), जो एक तत्पुरुष समास-युक्त पद है। शीतोष्णकिरणौ (चन्द्रमा और सूर्य), इसमें द्वन्द्व समास-युक्त बहुव्रीहि समास है। यह वस्तुतः एकशेष-समास-युक्त द्वन्द्व है। इसका वास्तविक अर्थ है—'शीतल और उष्ण किरणों वाले',

यह 'शीतल-किरणों वाला और उष्ण किरणों वाला' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है।

(घ) बहुव्रीहि समास का प्रथम पद यदि क्त-प्रत्ययान्त है तो वाक्य-विचार की दृष्टि से वह प्रायः क्त्वा-प्रत्ययान्त या भावे सप्तमी का समकक्ष है। जैसे—त्यक्तनगर (जिसने नगर को छोड़ा है)=नगरं त्यक्त्वा (नगर को छोड़ कर) या नगरे त्यक्ते (नगर छोड़ने पर)।

(ङ) समानाधिकरण कर्मधारय पदों पर निर्भर बहुव्रीहि-पद प्रायः 'तुल्य' का अर्थ बताते हैं। जैसे—चन्द्रानन (चन्द्रवत् मुख वाला), पद्माक्ष (स्त्री०-ई) (कमलवत् नेत्र वाला)। कर्मधारय समास में (देखो १८८, १ ख) पदों का विपर्यय (बदलना) होता है, किन्तु इसमें पदों का स्वाभाविक क्रम बना रहता है।

(च) कल्प (पुं०, ढंग) और प्रायः (पुं०, मुख्य अंश) शब्दों का बहुव्रीहि-समास के अन्त में क्रमशः 'तुल्य' और 'प्रायः' अर्थ में प्रयोग होता है। जैसे—अमृतकल्प (अमृततुल्य), प्रभातप्राय (वि०, प्रायः प्रभातकाल)। इसीप्रकार बहुव्रीहि समास के अन्त में 'पर' और 'परम' (वि० सर्वोत्तम, मुख्य) शब्दों का 'तत्पर' 'लीन' अर्थों मे संज्ञा शब्द के तुल्य प्रयोग होता है (शब्दार्थ-प्रमुख वस्तु मानते हुए)। जैसे—चिन्तापर (चिन्तामग्न)।

(छ) मात्रा (स्त्री०, परिमाण) शब्द का बहुव्रीहि समास के अन्त में 'केवल' अर्थ में प्रयोग होता है। जैसे—नाममात्रा नराः (नाममात्र के मनुष्य) क्त-प्रत्ययान्त के अन्त में इसका अर्थ होता है—'ज्योंही'। जैसे—जातमात्रः शत्रुः (शत्रु ज्योंही उत्पन्न होता है)। इसका इसीप्रकार नपुंसकलिंग शब्द के रूप में सामान्यतया प्रयोग होता है। जैसे—जलमात्रम् (केवल जल) (शब्दार्थ-जल है मात्रा या परिमाण जिसका)।

(ज) आदि (पुं०, प्रारम्भ), प्रभृति (स्त्री०, प्रारम्भ) और आद्य (प्रथम) (संज्ञा शब्द के रूप में प्रयुक्त) शब्द बहुव्रीहि समास के अन्त में 'इत्यादि' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। मुख्य रूप से ये विशेषण शब्द हैं और गौण रूप से संज्ञा-शब्द। जैसे—(देवा) इन्द्रादयः, (देवता, इन्द्र तथा अन्य या इन्द्र इत्यादि) (शाब्दिक अर्थ—इन्द्र जिनमें प्रथम है)। इत्यादि (नपुं०, इसे लेकर, अर्थात्—इन शब्दों को लेकर)=इत्यादि, यह और अन्य।

इसी प्रकार पुरोगम, पूर्व, पुरःसर ('पूर्ववर्ती'='नेता') शब्दों का बहुव्रीहि समास के अन्त में 'पुरस्कृत, अग्रणी या साथ' अर्थ में प्रयोग होता है। जैसे—देवा इन्द्रपुरोगमाः (इन्द्र जिनका अग्रणी है ऐसे देवता)। पूर्व और पुरःसर का बहुव्रीहि समास के अन्त में क्रियाविशेषण के तुल्य प्रयोग होता है। जैसे—स्मितपूर्वम् (मुस्कराहट के साथ, मुस्कराते हुए), बहुमानपुरःसरम्। (आदर के साथ, सादर)।

(झ) 'हाथ' अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग बहुव्रीहि समास में अन्त में होता है। जैसे—शस्त्रपाणि (शस्त्र हाथ में लिए हुए), कुशहस्त (कुशा हाथ में लिए हुए)।

(ञ) बहुव्रीहि समास में समासान्त 'इन्' प्रत्यय निम्नलिखित शब्दों के बाद लगता है—धर्म (कर्तव्य), शील (चरित्र), माला (पुष्पमाला), शाला (गृह), शोभा (सौन्दर्य), वर्ण (रंग)। जैसे—वरवर्णिन् (सुन्दर रंग वाला)। इसी प्रकार कुछ शब्दों के अन्त में 'क' प्रत्यय लगता है, मुख्यतया कम प्रयोग में आने वाले अन्तिम वर्णों से युक्त शब्दों के बाद, जैसे—ऋकारान्त शब्द, ईकारान्त (नदी आदि) शब्द और 'इन्' अन्त वाले स्त्रीलिंग शब्द। जैसे—मृतभर्तृका (जिसका पति मर गया है), सपत्नीक (पत्नी के सहित)।

अध्याय—७

वाक्य-विन्यास की रूपरेखा (Outlines of Syntax)

१९०. लेटिन और ग्रीक भाषाओं की तुलना में संस्कृत वाक्यों की वाक्य-विन्यास-संबन्धी व्यवस्था अपूर्ण और अविकसित है, क्योंकि संस्कृत का अधिकांश साहित्य पद्यात्मक है। संस्कृत वाक्य-विन्यास की प्रमुख विशेषता है—समन्वय की प्रमुखता, लम्बे समास तथा क्त्वा (या ल्यप्)-प्रत्ययान्तों के द्वार संबद्ध तथा अन्य गौण वाक्यांशों का स्थान लेना। संस्कृत में oratio obliqua सर्वथा अप्राप्य है। संस्कृत-वाक्यों की अन्य विशेषता है—विधेय तिङन्त क्रिया पदों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग (वैदिक भाषा में इनका प्रयोग अधिक प्रचलित था), इनके स्थान पर क्त-प्रत्ययान्त शब्द या धातुज संज्ञा शब्द प्राय प्रयुक्त होते हैं। कर्मवाच्य प्रयोगों की ओर अधिक प्रवृत्ति दिखाई देती है संस्कृत-वाक्य-विन्यास की एक मुख्य विशेषता है—**भावे सप्तमी** का प्रयोग।

वाक्य में पद-क्रम (The order of words)

१९१. संस्कृत-वाक्यों में सामान्यतया पद-क्रम निम्नलिखित रूप से होत है—(१) कर्ता और कर्ता के विशेषण या कर्ता की विशेषता बताने वाले गुण वाचक शब्द (प्रथमान्त से पहले षष्ठयन्त प्रयोग रहता है), (२) कर्म और कम के विशेषण (ये कर्म से पहले रहते हैं), (३) क्रिया-पद।

क्रिया-विशेषण या विधेय से संबद्ध शब्द प्रायः प्रारम्भिक पदों के समीप ही रहते हैं और गौण संयोजक निपात प्रथम पद के बाद रखे जाते हैं। जैसे—जनकस्तु सत्वरं स्वीयं नगरं जगाम (किन्तु जनक शीघ्र ही अपने नगर को गए)।

जहाँ पर संबोधन पद होता है, वह प्रायः सर्वप्रथम रखा जाता है। यदि

किसी विशेष शब्द पर बल देना होता है तो वह कर्ता के स्थान पर सर्वप्रथम प्रयुक्त होगा। जैसे—रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यम् (रात्रि में तुम मठ में न घुसना)।

(क) कर्ता यदि व्यक्ति-वाचक सर्वनाम है और उसपर बल नहीं देना है तो उसका प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि तिङन्त क्रियापद से ही उसका अर्थ प्रकट हो जाता है। यहां तक कि कर्ता 'वह' या 'वे' का अर्थ केवल क्रिया के द्वारा ही प्रायः प्रकट किया जाता है। जैसे—ब्रूयात् (वह कहे), आहुः (वे कहते हैं=ऐसा कहा जाता है)।

(ख) यदि काल का बोध विशेष रूप से नहीं कराना होता है तो 'अस्ति' पद का प्रायः लोप रहता है। ऐसे स्थलों पर विधेय कर्ता (उद्देश्य) से पहले आता है। जैसे—शीतला रात्रिः (रात्रि ठंडी है)। यदि विधेय पर बल देना होता है तो 'अस्ति' का प्रयोग न करके 'भवति' का प्रयोग होता है। जैसे—यो विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् (जो विद्या, तपस्या या जन्म से वृद्ध होता है, वह द्विजों के लिए पूज्य होता है)।

(ग) जिस प्रकार गुणवाचक शब्द संज्ञा शब्दों से पहले आते हैं और समासों में विशेषण शब्द पहले आते हैं, उसी प्रकार संबद्ध या अन्य गौण वाक्यांश मुख्य वाक्यांश से पहले आते हैं और ये वाक्यांश सापेक्ष (यत्) शब्द से प्रारम्भ होते हैं। जैसे—यस्य धनं तस्य बलम् (शाब्दिक अर्थ—जिसका धन, उसका बल, अर्थात् जिसके पास धन है, उसके पास बल है)। इसी प्रकार सापेक्ष शब्द हैं—यदा—तदा, यावत्—तावत् आदि।

संज्ञा-ग्राहक शब्द (The Article)

१६२. संस्कृत में इंग्लिश के तुल्य अनिश्चयबोधक (a) और निश्चय-बोधक (the) संज्ञाग्राहक शब्द नहीं हैं। किन्तु एक (एक) और कश्चिद् (कोई) (११६) शब्द 'कोई या एक' अर्थ प्रकट करने के लिए प्रायः प्रयुक्त होते हैं, इसका अनुवाद 'कोई या एक' किया जा सकता है। इसी प्रकार सः (वह) (११०) शब्द जब पूर्वोक्त किसी व्यक्ति या वस्तु का संकेत करता है तो

उनका अनुवाद अंग्रेज़ी के the से किया जा सकता है। जैसे—स राजा (वह राजा, the king) (जिसका हम वर्णन कर रहे हैं)।

संख्या (Number)

१९३. (१) समूहवाचक शब्द कभी-कभी समास के अन्त में एकवचन में प्रयुक्त होते हैं और वे बहुत्व का अर्थ प्रकट करते हैं। जैसे—स्त्रीजनः (पुं०, स्त्री लोग = स्त्रियाँ)। इसप्रकार के समूहवाचक शब्द कभी-कभी स्वयं बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—'लोकः' या 'लोकाः' (ससार, लोग)।

(२) द्विवचन का नियमित रूप से प्रयोग होता है और द्विवचन में इसका प्रयोग अनिवार्य है। दो वस्तुओं के लिए बहुवचन का प्रयोग नहीं होता है। अतः जो वस्तुएँ दो या युगल (जोड़ा) हैं, जैसे शरीर के अवयव, उनमें अनिवार्यतया द्विवचन ही लगता है। जैसे—हस्तौ च पादौ च (२ हाथ और २ पैर)। कभी-कभी पुंलिग के द्विवचन के द्वारा उसी जाति के १ पुरुष और १ स्त्री का बोध कराया जाता है। जैसे—जगतः पितरौ (संसार के माता-पिता) (देखो नि० १८६, ३ ग)।

(३) (क) कभी-कभी विशेष आदर प्रकट करने के लिए वक्ता या लेखक के द्वारा एक व्यक्ति के लिए भी बहुवचन का प्रयोग किया जाता है:—त्वम् के स्थान पर यूयम्, और भवान् के स्थान पर भवन्तः। जैसे—श्रुतं भवद्भिः (क्या आपने सुना ?)। इसी अर्थ में द्विवचन पादौ के स्थान पर बहुवचन पादाः (पैर) का प्रयोग होता है (नि० १९३, २)। जैसे—एष देवपादान् अधिक्षिपति (वह आपके पैरों) की निन्दा करता है। इसीप्रकार व्यक्तिवाचक शब्द भी कभी-कभी बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—इति श्रीशंकराचार्याः (श्री शंकराचार्य जी ऐसा कहते हैं)।

(ख) कभी-कभी वक्ता महत्त्वबोधनार्थ (जैसे—सम्पादकीय स्तम्भों में 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग) 'मैं' के स्थान पर 'हम' (उ० पु० ३) का प्रयोग करते हैं (देखो १९३, २)। जैसे—वयमपि किंचित् पृच्छामः (हम भी कुछ पूछते हैं=मैं भी कुछ पूछता हूँ)। किं कुर्मः सांप्रतम् (हम क्या करें ?=तुम और मैं अब क्या करें।)

(ग) देशों के नाम बहुवचन में आते हैं, ये वस्तुतः जन-बोधक नाम हैं (जैसे—इंग्लिश् में 'Sweden' और जर्मन में 'Sachsen'। जैसे—विदर्भेषु (विदर्भ अर्थात् बरार में)। जनबोधक नाम यदि एकवचन में हैं तो वे प्रायः उस देश के राजा के बोधक होते हैं।

(घ) कुछ शब्द केवल बहुवचन में ही आते हैं:—आपः (स्त्री०, जल), (९६. १), प्राणाः (पुं०, प्राण), वर्षाः (स्त्री०, वर्षा=वर्षा ऋतु), दाराः (पुं० पत्नी)।

उद्देश्य और विधेय का समन्वय (concord)

१९४. विभक्ति, पुरुष, लिंग और वचन के सामंजस्य के नियम प्रायः वे ही हैं, जो विभक्ति-प्रधान भाषाओं में होते हैं, निम्नलिखित कुछ मुख्य बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) प्रथमान्त के बाद में यदि 'इति' लगा हुआ है तो वह बुलाना, सोचना और जानना आदि अर्थों वाली धातुओं के कर्म का स्थान ले लेता है। जैसे—ब्राह्मण इति मां विद्धि' (मुझे ब्राह्मण जानो)। यह 'ब्राह्मण मां विद्धि' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है।

(२) यदि क्रियापद द्विवचन या बहुवचन है और वह दो या अधिक कर्ताओं का बोध कराता है तथा उसमें उत्तम पुरुष कर्ता भी है तो प्रथम और मध्यम पुरुष की क्रिया न होकर उ० पु० की क्रिया रहेगी। प्र० पु० और म० पु० के कर्ता हैं तो म० पु० की क्रिया शेष रहेगी। जैसे—त्वमहं च गच्छावः (तू और मैं जाते हैं)।

(३) (क) पुंलिंग और स्त्रीलिंग शब्दों के साथ यदि विशेषण सामूहिक रूप से आता है तो वह पुंलिंग का द्विवचन या बहुवचन होता है, किन्तु यदि उसमें नपुं० पद भी आ जाता है तो विशेषण नपुं० का द्विवचन या बहु० होता है (कभी-कभी यह विशेषण पद एकवचन भी होता है)। जैसे—मृगयाक्षास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम् (शिकार खेलना, जुआ खेलना और मदिरापान, ये राजाओं के लिए निन्दित कर्म हैं)। पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्च तरुः सरश्च जलहीनं सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च (पंख-कटा पक्षी, सूखा पेड़, जल-

हीन तालाब, दांतरहित साँप और निर्धन व्यक्ति, संसार में समान हैं)। यहां पर विशेषणपद तुल्यम् नपुं० एकवचन है।

(ख) कभी-कभी गुणबोधक या विधेयपद व्याकरणोचित लिंग न अपना कर स्वाभाविक लिंग को अपनाते हैं। जैसे—त्वां चिन्तयन्तो निराहाराः कृताः प्रजाः [तेरा चिन्तन करती हुई (पुं०) प्रजा (स्त्री०) ने भोजन का त्याग कर दिया है]।

(ग) ग्रीक और लेटिन के तुल्य संस्कृत में भी संकेतवाचक सर्वनाम शब्दों का लिंग अपने विधेय के लिंग के अनुसार ही होता है। जैसे—असौ परमो मन्त्रः [यह (पुं०) सर्वोत्तम मंत्र (पुं०, मंत्रणा) है]।

तिङन्त क्रिया के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले कृदन्त पद का लिंग कर्ता के अनुसार होना चाहिए, परन्तु यदि उसके समीप कोई विधेय संज्ञा शब्द होता है तो उसका लिंग विधेय पद के अनुसार हो जाता है। जैसे—त्वं मे मित्रं जातम् [तू (पुं०) मेरा मित्र (नपुं०) हो गया है (नपुं०)]।

(४) समूहबोधक एकवचन संज्ञा शब्द के साथ क्रिया भी एकवचन होती है। एकवचन वाले दो कर्ताओं के साथ विधेय पद द्विवचन होना चाहिए तथा तीन और अधिक कर्ताओं के साथ विधेय बहु० होना चाहिए। किन्तु कभी-कभी विधेय पद में समीपस्थ कर्ता के अनुसार वचन रहता है और वह बौद्धिक रूप से अन्य कर्ताओं के साथ संबद्ध कर दिया जाता है। जैसे—कान्तिमती राज्यमिदं मम च जीवितमपि त्वदधीनम् [कान्तिमती, यह राज्य और मेरा जीवन भी तेरे अधीन है (एक०)]।

(क) इसी प्रकार अकेले बहुवचन कर्ता के साथ क्रिया बहुवचन होनी चाहिए, किन्तु कभी कभी समीपस्थ विधेय संज्ञा शब्द के वचन के अनुसार उसमें वचन होता है। जैसे—सप्तप्रकृतयो ह्येताः समस्तं राज्यमुच्यते [ये सात अंग मिलकर राज्य कहे जाते हैं (एकवचन)]।

सर्वनाम (Pronouns)

१९५. (१) **व्यक्तिवाचक सर्वनाम**—(क) संस्कृत भाषा अत्यधिक प्रत्यय-प्रधान है, अतः आधुनिक यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा इसमें व्यक्तिवाचक

सर्वनामों के प्रथमान्तपद बहुत कम प्रयुक्त होते हैं (देखो नि० १९१ क)।

(ख) अहम् और त्वम् (१०९ क) के स्थान पर होने वाले अनुदात्तपद न वाक्य के प्रारम्भ में, न पाद (श्लोक का एक चरण) के प्रारम्भ में, न संबोधन के बाद और न च, वा, एव, ह इन निपातों से पहले प्रयुक्त हो सकते हैं। जैसे—मम मित्रम् (मेरा मित्र) (मे मित्रम्, नहीं)। देवास्मान् पाहि (हे देव, हमारी रक्षा करो) (अस्मान् के स्थान पर नः का प्रयोग नहीं)। तस्य मम वा गृहम् (उसका या मेरा घर)।

(ग) **'भवान्'** (आप), स्त्रीलिंग **'भवती'** यह त्वम् (तू) का आदरसूचक शब्द है (एक ही वाक्य में ये दोनों शब्द अदल-बदलकर भी प्रयुक्त होते हैं), इसके साथ क्रिया प्रथमपुरुष होती है। जैसे—किमाह भवान् (आपने क्या कहा ?)। इसी प्रकार बहुवचन **'भवन्तः'** (स्त्री० **भवत्यः**) के साथ भी प्र० पु० क्रिया लगती है; इसका प्रायः एकवचन अभिप्राय होता है (१९३, ३ क)। नाटकों में 'भवान्' के दो समस्तपद प्रायः प्रयुक्त होते हैं :—(१) **अत्रभवान्** (पूजनीय आप), यह वर्तमान एक व्यक्ति को संकेत करता है, वह सामने संबोधित व्यक्ति हो या अन्य कोई व्यक्ति। (२) **तत्रभवान्** (पूजनीय वे), यह रंगमंच से बाहर किसी व्यक्ति को संकेत करता है और अन्य पुरुष के रूप में ही प्रयुक्त होता है। इन दोनों के साथ क्रिया प्रथम पुरुष ही लगती है।

(२) **संकेतवाचक सर्वनाम**—(क) **एषः** और **अयम्** (यह) ये समीपस्थ या वर्तमान को संकेत करते हैं। इन दोनों में से भी प्रथम (एषः) अधिक प्रबल है। इन दोनों का प्रयोग 'यहाँ' अर्थ में प्र० पु० और उ० पु० एकवचन क्रिया के साथ प्रायः होता है। जैसे—एष तपस्वी तिष्ठति (यहाँ तपस्वी खड़ा है)। अयमस्मि (मैं यहाँ हूँ)। अयम् आगतस्तव पुत्रः (तुम्हारा पुत्र यहाँ आया)। अयं जनः (यह व्यक्ति) का प्रयोग प्रायः 'मैं' के अर्थ में होता है।

(ख) **सः** और **असौ** (वह) का प्रयोग दूरस्थ या अनुपस्थित के लिए होता है। इन दोनों में से 'सः' अधिक स्पष्टरूप से संकेतवाचक है, क्योंकि यह सापेक्ष सर्वनाम का संबद्ध उत्तररूप है। इसके निम्नलिखित मुख्य प्रयोग होते हैं। इसका प्रायः (लेटिन 'ille' के तुल्य) 'प्रसिद्ध' 'सुविख्यात' अर्थ होता है। जैसे—सा रम्या नगरी वह प्रसिद्ध मनोहर नगरी)। इसका प्रायः 'पूर्वोक्त' अर्थ भी

होता है। जैसे—सोऽहम् (पूर्वोक्त वह मैं)। इस अर्थ में प्रायः इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद निश्चयवाचक 'the' के द्वारा करना चाहिए (नि० १९२)। जहाँ पर वाक्य में संज्ञाशब्द नहीं होता है, वहाँ पर 'सः' अन्यपुरुष व्यक्तिवाचक सर्वनाम का कार्य करता है और इसका अर्थ होता है—वह (पुं०), वह (स्त्री०), वह (नपुं०) वे, किन्तु यदि प्रथमा एक० में इसका प्रयोग होता है तो अर्थ में कुछ बल अधिक रहता है। (इसी प्रकार 'अयम्' और 'असौ' प्रथम पुरुष व्यक्ति-वाचक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त होते हैं)। यदि 'स' शब्द का दो बार प्रयोग होता है तो इसका अर्थ होता है—अनेक, विविध, सभी प्रकार के। जैसे—तानि तानि शास्त्राण्यध्यैत (उसने विविध शास्त्र पढ़े)।

(३) **स्वामित्ववाचक सर्वनाम**—इन सर्वनामों (११६) का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रयोग होता है, क्योंकि इस अर्थ में व्यक्तिवाचक सर्वनामशब्दों के षष्ठी के रूप अधिक प्रयोग में आते हैं। भवत् (१९५, १ ग) के अर्थ के अनु-सार ही इससे बने हुए तद्धित-शब्द 'भवदीय' और 'भावत्क' आदरसूचक मध्यम पुरुष के अर्थ में स्वामित्ववाचक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

कारक

(The cases)

प्रथमा

(Nominative)

१९६. अन्य भारोपीय भाषाओं (Indo-European Languages) की की तुलना में संस्कृत में वाक्य के कर्ता के रूप में प्रथमा का प्रयोग बहुत कम मात्रा में प्रचलित है। इसके स्थान पर प्रायः कर्मवाच्य प्रयोग होने से कर्ता में तृतीया वाले प्रयोग अधिक मिलते हैं। जैसे—केनापि सस्यरक्षकेणैकान्ते स्थितम् (कोई खेत का रक्षक एकान्त में खड़ा था, शाब्दिक अर्थ— किसी खेत-रक्षक के द्वारा एकान्त में खड़ा हुआ गया)।

(क) 'होना, प्रतीत होना, दिखाई पड़ना' अर्थ वाली धातुओं के साथ तथा 'पुकारना, जानना, भेजना, नियुक्त करना, बनाना' आदि अर्थ वाली धातुओं

के कर्मवाच्य रूप के साथ प्रथमा का प्रयोग विधेय के रूप में होता है। जैसे—तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्रः कृतः (उस मुनि ने कुत्ते को व्याघ्र बना दिया)।

(ख) कुछ परिस्थितियों में प्रथमान्त के बाद 'इति' का प्रयोग होने पर वह कर्म का स्थान ले लेता है (देखो १६४, १)।

द्वितीया

(Accusative)

१६७. द्वितीया विभक्ति मुख्य रूप से सकर्मक धातुओं के कर्म को प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित भावों को प्रकट करने के लिए भी द्वितीया का प्रयोग होता है:—

(१) गति (चलना, जाना) अर्थ की धातुओं के साथ गन्तव्य स्थान में द्वितीया होती है :—जैसे—स विदर्भान् अगमत् (वह विदर्भ देश को गया)।

(क) गति अर्थ वाली धातुएँ, जैसे गम् और या, प्रायः भाववाचक संज्ञा शब्दों के साथ प्रयुक्त होती हैं। इंग्लिश् में इनका अनुवाद विशेषण के बाद 'to become' (होता है) या केवल अकर्मक क्रिया द्वारा किया जा सकता है। जैसे—सः कीर्तिं याति (वह प्रसिद्ध होता है, शाब्दिक अर्थ—वह कीर्ति को जाता है)। पञ्चत्वं गच्छति (वह मरता है, शा० अर्थ—वह मृत्यु को जाता है)।

२. समय की अवधि और स्थान की दूरी में द्वितीया होती है :—जैसे—मासमधीते (वह महीने भर पढ़ता है)। योजनं गच्छति (वह एक योजन अर्थात् ९ मील जाता है)।

३. सन् प्रत्यय से बने हुए 'सु' अन्त वाले (नि० १६९) विशेषण शब्दों के कर्म उपसर्गों से प्रारम्भ होने वाले कुछ समासयुक्त विशेषण शब्दों में द्वितीया होती है। जैसे—तितीर्षुरस्मि सागरम् (मैं समुद्र को पार करना चाहता हूँ)। दमयन्तीम् अनुव्रतः (दमयन्ती का भक्त)।

४. अकर्मक धातुओं के साथ संज्ञा शब्द यदि संबद्ध कर्म के रूप में हो या विशेषण शब्द क्रिया विशेषण के रूप में हो तो उसमें द्वितीया होती है। जैसे—कामान् सर्वान् वर्षतु (वह सारी कामनाओं को बरसे अर्थात् पूर्ण करे)।

शीघ्रं गच्छाम: (हमें शीघ्रतापूर्वक चलना चाहिए, मूलत: इसका अर्थ था—शीघ्र चाल से चलते हैं)।

द्विकर्मक प्रयोग

(Double Accusative)

१९८. निम्नलिखित धातुओं के साथ दो कर्म होते है :—

(१) बुलाना, जानना, समझना, बनाना, नियुक्त करना और छाँटना अर्थ की धातुओं के साथ—जैसे—जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषम् (मैं तुम्हें मुख्य व्यक्ति समझता हूँ)।

(२) कहना (ब्रू, वच्, अह्), पूछना (प्रच्छ्), माँगना (याच्, प्रार्थय), आज्ञा देना (अनु-शास्), दण्ड देना (दण्डय), जीतना (जि), दुहना (दुह्) अर्थ की धातुओं के साथ :—जैसे—अन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलम् (पक्षी ने नल से बात कही)। साक्ष्यं पृच्छेद् ऋतं विद्वान् (वह ब्राह्मणों से सच्ची दृष्ट-घटना पूछे)। बलिं याचते वसुधाम् (वह बलि से भूमि माँगता है)। यदनुशास्ति माम् (वह मुझे जो आदेश देता है)। तान् सहस्रं दण्डयेत् (वह उनपर एक हजार पण दंड लगावे)। जित्वा राज्यं नलम् (नल का राज्य जीतकर)। रत्नानि दुदुहुर्धरित्रीम् (उन्होंने पृथ्वी से रत्न दुहे अर्थात् प्राप्त किए)।

(क) कथय (कहना), वेदय (बताना) और आ-दिश् (आज्ञा देना) के साथ व्यक्ति में कभी भी द्वितीया नहीं होती, अपि तु चतुर्थी (या षष्ठी) होती है।

३. लेना, पहुँचाना, भेजना, अर्थ की धातुओं के साथ:—जैसे—ग्रामम् अजां नयति (वह बकरी को गाँव में ले जाता है)। शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य (शकुन्तला को पति के घर भेजकर)।

४. णिजन्त धातुओं के साथ:—जैसे—रामं वेदमध्यापयति (राम को वेद पढ़ाता है)। यदि मुख्य कर्म पर बल दिया जाएगा तो उसमें तृतीया भी होगी। तां श्वभि: खादयेत् (वह उस स्त्री को कुत्तों से खिलवा दे)।

(क) यदि धातु में णिच् का अर्थ लुप्त हो गया है तो व्यक्ति में द्वितीया न होकर चतुर्थी या षष्ठी होगी। ऐसा प्राय: इन धातुओं के साथ होता है :—

दर्शय (दिखाना) (दृश्+णिच्) और श्रावय (सुनाना) (श्रु+णिच्)। वेदय (बताना) (विद+णिच्) के साथ सदा ऐसा होता है।

(ख) णिजन्त के कर्मवाच्य में प्रधान कर्म (व्यक्ति या कर्ता) में प्रथमा होती है और गौण (अप्रधान) कर्म (वस्तु) में द्वितीया ही रहती है। जैसे—रामो वेदम् अध्याप्यते (राम को वेद पढ़ाया जाता है)। तां श्वानः खाद्यन्ते (उस स्त्री को कुत्तों से खिलवाया जाता है)। बलिर्याच्यते वसुधाम् (बलि से पृथ्वी माँगी जाती है)।

तृतीया
(Instrumental)

१६६. तृतीया विभक्ति मूल रूप में कर्ता और साधन सहयोगी वस्तु को प्रकट करती है, जिसके द्वारा कोई कार्य किया जाता है। 'से' (By) या 'द्वारा' (with) के द्वारा इसका अनुवाद किया जाता है। जैसे—तेनोक्तम् (उसके द्वारा कहा गया, अर्थात् उसने कहा)। स खड्गेन व्यापादितः (वह तलवार से मारा गया)। यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् (जिसका मित्र से वार्तालाप है, उससे अधिक इस संसार में और कोई भाग्यशाली नहीं है) (नि० २०१, २ क)।

(१) तृतीया के द्वारा निम्नलिखित अर्थ भी प्रकट किए जाते हैं :—

(क) **कारण या हेतु**—(से, द्वारा, कारण से, क्योंकि, इसलिए कि):—जसे—भवतोऽनुग्रहेण (आपके अनुग्रह से); तेनापराधेन त्वां दण्डयामि (उस अपराध के कारण तुझे दण्ड देता हूँ); व्याघ्रबुद्ध्या (व्याघ्र समझने के कारण, अर्थात् उसने उसे व्याघ्र समझा अत एव) (नि० १८७, ५); सुखभ्रान्त्या (सुख-प्राप्ति के भ्रम से)।

(ख) **अनुरूपता या स्वभाव-बोधन**—(से, स्वभावानुसार):—जैसे—प्रकृत्या (स्वभाव से); जात्या (जाति से या जन्म से); स मम मतेन वर्तते (वह मेरे विचार के अनुसार चलता है)।

(ग) **वस्तु का मूल्य**—(द्वारा, इतने मूल्य में):—जैसे—रूपकशतेन विक्रीयमाणं पुस्तकम् (सौ रुपए में बेची जाती हुई पुस्तक को); आत्मानं

सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि (पत्नी और धन को खोकर भी मनुष्य को चाहिए कि वह सदा अपनी रक्षा करे)।

(घ) **समय**—जितने में कोई कार्य पूरा किया जाता है (इतने समय में) :—जैसे—द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते (१२ वर्ष में व्याकरण पढ़ा जाता है)।

(ङ) **मार्ग, यात्रा का साधन या शरीर का अंग**—जिसके द्वारा क्रिया पर प्रभाव पड़ता है :—जैसे—कतमेन मार्गेण प्रणष्टाः काकाः (कौए किस ओर से भाग गए ?); वाजिना चरति (वह घोड़े पर चढ़कर जाता है, शब्दार्थ—घोड़े के द्वारा जाता है); स श्वानं स्कन्धेनोवाह (वह कुत्ते को कन्धे पर रखकर ले गया)।

(च) **इस बारे में या इस बात में**—(प्रमुखता, हीनता या अंग विकार बोधक शब्दों के साथ):—जैसे—एताभ्यां शौर्येण हीनः (पराक्रम में इन दोनों से हीन); पूर्वान् महाभाग तयातिशेषे (हे महा प्रभावशाली, तुम भक्ति के द्वारा अपने पूर्वजों से बढ़कर हो); अक्ष्णा काणः (आँखों से काणा)।

(छ) **कारण या प्रयोजन** बताना [आवश्यकता या उपयोगिताबोधक अर्थः, प्रयोजनम् (प्रश्नवाचक के रूप में प्रयुक्त या निषेधार्थक के साथ प्रयुक्त) या किम् (क्या ? कृ धातु के साथ या उसके बिना) के साथ] :—जसे—को मे जीवितेनार्थः (मेरे जीवित रहने से क्या लाभ ?) ; देवपादानां सेवकैर्न प्रयोजनम् (आपको सेवकों की आवश्यकता नहीं है); किं तया क्रियते धेन्वा (उस गाय से क्या लाभ ?) ; किं न एतेन (हमें इससे क्या करना है ?)। इसी प्रकार 'कृतम्' (बस) और 'अलम्' (बस, मत) के साथ तृतीया होती है (नि० १८०)। कृतमभ्युत्थानेन (आप मत उठिए)।

(ज) **'से' या 'इतने मात्र से'**—(प्रसन्न होना, हँसना, आनन्दित होना, सन्तुष्ट होना, आश्चर्ययुक्त होना, लज्जित होना और खिन्न होना अर्थ वाली धातुओं के साथ) :—जैसे—कापुरुषः स्वल्पेनापि तुष्यति (नीच व्यक्ति थोड़े से भी प्रसन्न हो जाता है)। जहास तेन (इस बात पर वह हँसा)।

(झ) **'की' और 'द्वारा'**—(आत्मश्लाघा या शपथ लेना अर्थ की धातुओं

के साथ):—जैसे—भरतेनात्मना चाहं शपे (मैं भरत की और अपनी कसम खाता हूँ)।

(ञ) **यज् धातु के कर्म (वध्य पशु) में**:—जैसे—पशुना रुद्रं यजते (रुद्र को पशु बलिरूप में देता है)। इस प्रयोग में तृतीया का मौलिक अर्थ प्राप्त होता है, क्योंकि इसमें यज् (किसी देवता की, किसी वस्तु से, पूजा करना) धातु का मूल अर्थ अवशिष्ट है।

२. **सह (साथ) अर्थ**—यह अर्थ क्रियाविशेषण शब्द सह, साकम्, सार्धम् और समम् के द्वारा प्रकट किया जाता है। ये शब्द सम्बद्ध शब्द के साथ या पृथक् भी रखे जाते हैं। इनके द्वारा 'साथ रहना' 'पृथक्ता' और 'शत्रुता' अर्थ भी व्यक्त किया जाता है। जैसे—पुत्रेण सह पिता गतः (पिता पुत्र के साथ गया); मित्रेण सह चित्तविश्लेषः (मित्र के साथ मतभेद); स तेन विदधे समं युद्धम् (उसने उसके साथ युद्ध किया)। यह अर्थ निम्नलिखित स्थानों पर भी लागू होता है:—

(क) साथ रहने वाली परिस्थितियाँ या ढंग जिस प्रकार कोई कार्य किया जाता है, इस अर्थ को प्रकट करने के लिए:—जैसे—तौ दम्पती महता स्नेहेन वसतः (वे पति-पत्नी बड़े प्रेम से रहते हैं); महता सुखेन (बड़े सुख से)।

(ख) साथ रहना, मिलना, युक्त होना, रखना और इनके विपरीत अर्थ वाली कर्मवाच्य क्रियाओं के साथ:—जैसे—त्वया सहितः (तेरे साथ), धनेन संपन्नो विहीनो वा (धन से युक्त या धन से रहित), प्राणैर्वियुक्तः (प्राणों से रहित)।

(ग) समानता, सादृश्य या तुल्यता अर्थ वाले विशेषण शब्दों के साथ, जैसे—सम, समान, सदृश और तुल्य शब्द:—जैसे, शक्रेण समः (इन्द्र के समान), अनेन सदृशः (इसके सदृश), अयं न मे पादरजसापि तुल्यः (वह मेरे पैर की धूल के बराबर भी नहीं है। इन विशेषण शब्दों के साथ षष्ठी भी होती है। (नि० २०२, २ घ)।

चतुर्थी

(Dative)

२००. चतुर्थी विभक्ति गौण कर्म को, सामान्यतया व्यक्ति को, या क्रिया के उद्देश्य को प्रकट करती है।

(अ) निम्नलिखित स्थानों पर गौण कर्म में चतुर्थी होती है:—

(१) सकर्मक धातुओं के साथ, इनके साथ मुख्य कर्म हो या न हो:—

(क) इन अर्थों वाली धातुओं के साथ:—देना (दा, अर्पय), कहना (चक्ष्, शंस्, कथय, ख्यापय, निवेदय), प्रतिज्ञा करना या वचन देना (प्रति-श्रु, आ-श्रु, प्रति-ज्ञा), दिखाना (दर्शय:)—जैसे—विप्राय गां ददाति (वह ब्राह्मण को गाय देता है)। कथयामि ते भूतार्थम् (मैं तुमसे सच कहता हूँ)।

(ख) भेजना और फेंकना अर्थ की धातुओं के साथ:—जैसे—भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः (भोज ने रघु के पास दूत भेजा), शूलांश्चिक्षिपू रामाय (उन्होंने राम पर बाण फेंके) (४७)।

(२) निम्नलिखित अर्थों वाली अकर्मक धातुओं के साथ:—अच्छा लगना (रुच्), चाहना (लुभ्, स्पृह्), क्रुद्ध होना (असूय, कुप्, क्रुध्), द्रोह करना (द्रुह्):—जैसे—रोचते मह्यम् (यह मुझे अच्छा लगता है); न राज्याय स्पृहये (मुझे राज्य की इच्छा नहीं है); किंकराय कुप्यति (वह नौकर पर क्रोध करता है)। (क्रुध् और द्रुह् धातुएँ जब उपसर्ग के साथ समस्त होंगी तो उन के साथ द्वितीया होगी)।

(३) नमस्कार अर्थ वाले शब्दों के साथ:—जैसे—गणेशाय नमः (गणेश को नमस्कार), कुशलं ते (तुम्हारा कल्याण हो), रामाय स्वस्ति (राम को आशीर्वाद), स्वागतं देव्यै (देवी का स्वागत है)।

(आ) उद्देश्य अर्थ वाली चतुर्थी यह प्रकट करती है कि वह कार्य किस उद्देश्य से किया गया है और यह चतुर्थ्यन्त पद प्रायः तुमुन्-प्रत्ययान्त का समानार्थक होता है। जैसे—मुक्तये हरिं भजति—वह मुक्ति के लिए (मुक्ति प्राप्त करने के लिए) हरि को भजता है; फलेभ्यो याति—वह फल के लिए (फल प्राप्त करने के लिए) जाता है; अस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय

भवन्तः प्रमाणम्—मेरे पुत्रों को नीति-शास्त्र के उपदेश के लिए (नीतिशास्त्र का उपदेश देने के लिए) आप ही प्रमाण (पूर्ण अधिकारी) हैं। युद्धाय प्रस्थितः —वह युद्ध के लिए (युद्ध करने के लिए) चल पड़ा। पुनर्दर्शनाय—पुनः दर्शन के लिए।

यह चतुर्थी निम्नलिखित अर्थों वाली धातुओं के साथ मुख्यतया होती है:—

(१) 'योग्य होना' 'समर्थ होना' (क्लृप्, सं-पद्, प्र-भू):—भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते (भक्ति ज्ञान के लिए होती है)।

(क) इसी प्रकार अस् और भू धातुओं का प्रयोग होता है, किन्तु ये धातुएँ प्रायः लुप्त रहती हैं:—जैसे—लघूनामपि संश्रयो रक्षायै भवति (छोटी वस्तुओं का भी समूह रक्षा के लिये होता है); आर्तत्राणाय वः शस्त्रम् (आपका शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए है)।

(२) 'योग्य होना', 'प्रारम्भ करना', प्रयत्न करना', 'निश्चय करना', 'आज्ञा देना', 'नियुक्त करना', अर्थ की धातुओं के साथ:—जैसे— इयं कथा क्षत्रियस्याकर्षणायाशकत् (यह कथा क्षत्रियों को आकृष्ट करने में समर्थ हुई); प्रावर्तत शपथाय (वह कसम खाने लगा); तदन्वेषणाय यतिष्ये (उसका पता लगाने का यत्न करूंगा); तेन जीवोत्सर्गाय व्यवसितम् (उसने जीवन-त्याग का निश्चय किया); दुहितरम् अतिथिसत्कारायादिश्य (अपनी पुत्री को अतिथि-सत्कार करने का आदेश देकर); रावणोच्छित्तये देवैर्नियोजितः (वह रावण का नाश करने के लिये देवताओं के द्वारा नियुक्त किया गया)।

(क) क्रिया-विशेषण 'अलम्' (समर्थ) का प्रयोग 'पर्याप्त होना' 'बराबरी करने में समर्थ होना' अर्थ में होता है। जैसे—दैत्येभ्यो हरिरलम् (हरि दैत्यों के लिए पर्याप्त है)।

पंचमी

(Ablative)

२०१. पंचमी मुख्यरूप से निश्चित स्थान या आधार को सूचित करती है, जहाँ से कोई कार्य प्रारम्भ होता है। इस प्रकार यह 'कहाँ से' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करती हैं और सामान्यतया 'से' (from) के द्वारा इसका

अनुवाद किया जा सकता है। जैसे—अहम् अस्माद् वनाद् गन्तुमिच्छामि। (मैं इस वन से जाना चाहता हूँ); पापान्नाश उद्भवति (पाप से नाश होता है); निश्चयान्न चचाल सः (वह अपने निश्चय से विचलित नहीं हुआ); स्वजनेभ्यः सुतनाशं शुश्राव (उसने अपने संबन्धियों से अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुना); तां बन्धनाद् विमुच्य (उसको उसके बन्धन से छुड़ाकर); विरम कर्मणोऽस्मात् (इस काम से रुको); पाहि मां नरकात् (मुझे नरक से बचाओ)।

(क) भय अर्थ वाली धातुओं (भी, उद्-विज) के साथ भय के कारण में पंचमी होती है। जैसे—लुब्धकाद् बिभेषि (तुम बहेलिए से डरते हो); संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत (ब्राह्मण को चाहिए कि वह संमान से सदा बचे)।

(ख) 'पृथक् होना' अर्थ वाली धातुओं के साथ स्वभावतः पंचमी होती है। जैसे—भवद्भ्यो वियोजितः (आपसे छोड़ा हुआ); सा पतिलोकाच्च हीयते (वह अपने पति के स्थान से च्युत हो जाती है) (ऐसे शब्दों के साथ तृतीया भी होती है, देखो नियम १९९, २ ख)। इससे मिलता-जुलता 'वञ्चय' (ठगना, किसी वस्तु से उसको वंचित या वियुक्त करना) का प्रयोग है। जैसे—वञ्चयितुं ब्राह्मणं छागलात् (ब्राह्मण से बछड़ा ठगने के लिए)।

(ग) पंचमी पृथक् होने में निश्चित स्थान (ध्रुव स्थान) को सूचित करती है, अतः यह 'दूर' अर्थ वाले तथा 'दिशावाचक' सभी शब्दों के साथ होती है। जैसे—दूरं ग्रामात् (गाँव से दूर); ग्रामात् पूर्वो गिरिः (गाँव के पूर्व की ओर पहाड़ है)।

(घ) इसी प्रकार पंचमी 'समय' को बताती है, जिसके बाद कोई कार्य होता है। जैसे—बहोर्दृष्टं कालात् (बहुत समय के बाद दिखाई पड़ा); सप्ताहात् (एक सप्ताह के बाद)।

पंचमी विभक्ति अपने मूल अर्थ से संबद्ध निम्नलिखित अर्थों को भी प्रकट करती है :—

(१) कारण, लक्ष्य या उद्देश्य (=इसलिए, इस कारण से, इसके द्वारा, से) :—जैसे—लौल्याद् मांसं भक्षयति (लालच के कारण माँस खाता है)। इस प्रकार की पंचमी का प्रयोग 'त्व'-प्रत्ययान्त भाववाचक शब्दों के साथ,

विशेषकर टीका-ग्रन्थों में, मुख्यतया दिखाई पड़ता है। जैसे—पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात् (पहाड़ अग्नियुक्त है, क्योंकि इसमें धुआं है)। इस अर्थ में तृतीया भी होती है, नि० १९९, १ क)।

(२) तुलना अर्थ :—

(क) दो की तुलना में (तर-प्रत्ययान्त) या तुलना अर्थ वाले शब्दों के साथ। जैसे—गोविन्दाद् रामो विद्वत्तरः (राम गोविन्द से अधिक विद्वान् है); कर्मणो ज्ञानमतिरिच्यते (ज्ञान कर्म से बढ़कर है)। तुलना अर्थ होने पर तर प्रत्यय न होने पर भी पंचमी होती है। जैसे—भार्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति (पत्नी सारे संसार से अधिक प्रिय होती है)। वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि लोकोत्तराणां चेतांसि (असाधारण लोगों के चित्त वज्र से भी अधिक कठोर और फूल से भी अधिक कोमल होते हैं)।

(ख) अन्य या भिन्न अर्थ वाले शब्दों (अन्य, इतर, अपर, भिन्न) के साथ। जैसे—कृष्णादन्यो गोविन्दः (गोविन्द कृष्ण से भिन्न है)।

(ग) तुलनार्थक शब्दों से मिलते-जुलते 'गुना' अर्थ वाले दुगुना, तिगुना आदि शब्दों के साथ। जैसे—मूल्यात् पञ्चगुणो दण्डः (मूल्य की अपेक्षा पाँच गुना दण्ड है)।

षष्ठी (Genitive)

२०२. षष्ठी का मुख्य अर्थ अर्ध-विशेषणात्मक है, क्योंकि इसके द्वारा एक संज्ञाशब्द का दूसरे संज्ञाशब्द के साथ 'सम्बन्ध' बताया जाता है। अतः इसका अर्थ होता है—'संबद्ध' या 'उसका सम्बन्धी'। सामान्यतया इंगलिश में of (का) के द्वारा अनुवाद किया जाता है। संज्ञा शब्दों में षष्ठी का प्रयोग इन अर्थों में होता है—स्वस्वामिभाव, कर्तृत्व, कर्मत्व, और निर्धारण (बहुतों में से एक को छाँटना)। जैसे—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष); राक्षसकलत्र-प्रच्छादनं भवतः (आपका अर्थात् आपके द्वारा राक्षस की पत्नी का छिपाना); शङ्कया तस्याः (उसकी शंका से अर्थात् उसको वह स्त्री समझ कर); धुर्यो धनवताम् (धनवानों में अग्रगण्य)।

(१) बहुत सी क्रियाओं के साथ षष्ठी का प्रयोग होता है:—

(क) स्वामित्व अर्थ में ईश् (स्वामी होना) और प्र+भू (स्वामी होना,

दूसरे पर प्रभुत्व रखना) धातुओं के साथ तथा अस् (होना), भू (होना) और विद्यते (है, विद्यमान है) के साथ। जैसे—यदि आत्मनः प्रभविष्यामि (यदि मैं अपनी स्वामिनी होऊंगी, अर्थात् यदि मेरा अपने ऊपर अधिकार रहा तो); मम पुस्तकं विद्यते (मेरी पुस्तक है, मेरे पास पुस्तक है)।

(ख) दय् (दया करना), स्मृ (याद करना) और अनु-कृ (अनुकरण करना) धातुओं के साथ इनके कर्म में षष्ठी होती है (साथ ही द्वितीया भी होती है)। जैसे—एते तव दयन्ताम् (ये तुम पर दया करें); स्मरति ते प्रसादानाम् (वह तुम्हारी कृपा को स्मरण करता है); भीमस्यानुकरिष्यामि (मैं भीम का अनुकरण करूँगा)।

(ग) निम्नलिखित अर्थों वाली धातुओं के साथ इनके कर्म में षष्ठी होती है (इन अर्थों में सप्तमी भी होती है):—उपकार करना, या हानि पहुँचाना (उप-कृ, प्र-सद्, अप-कृ, अप-राध्), विश्वास करना (वि-श्वस्), क्षमा करना (क्षम्)। जैसे—मित्राणाम् उपकुर्वाणः (मित्रों का उपकार करता हुआ); किं मया तस्या अपकृतम् (मैंने उसका क्या अपकार किया है?); क्षमस्व मे (मुझे क्षमा करो)।

(घ) 'दूसरे के बारे में कहना या संभावना करना' अर्थ वाली धातुओं के साथ। जैसे—ममादोषस्याप्येवं वदति (मुझ निर्दोष के बारे में भी यह इस प्रकार कह रहा है)। सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते (इस मूर्ख के लिए सब कुछ करना संभव है)।

(ङ) निम्नलिखित अर्थों वाली धातुओं के साथ (गौण कर्म में चतुर्थी के स्थान पर) प्रायः षष्ठी होती है:—देना, कहना, प्रतिज्ञा करना, दिखाना, भेजना, झुकना, प्रसन्न करना, क्रुद्ध होना। जैसे—मया तस्याभयं प्रदत्तम् (मैंने उसे अभयदान दिया है)। किं तव रोचत एषः (क्या वह तुम्हें अच्छा लगता है?)। ममानतिक्रुद्धो मुनिः (वह मुनि मुझसे अधिक क्रुद्ध नहीं है)।

(च) कभी कभी, 'पूर्ण होना या तृप्त होना' अर्थ की धातुओं के साथ (तृतीया के स्थान पर) षष्ठी होती है। जैसे—नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम् (अग्नि लकड़ी से तृप्त नहीं होती है)। इसी प्रकार क्त-प्रत्ययान्त 'पूर्ण' शब्द

के साथ 'पूरा भरा' में षष्ठी और 'अमुक से भरा हुआ' अर्थ में तृतीया होती है।

(२) विशेषण शब्दों के साथ प्रायः षष्ठी होती है :—

(क) सकर्मक धातुओं के समकक्ष विशेषणों के साथ। जैसे—जरा विनाशिनी रूपस्य (वृद्धावस्था सौन्दर्य की नाशक है)।

(ख) इन अर्थों वाले शब्दों के साथ :—निर्भर, संबद्ध, प्रिय। जैसे—तवायत्तः स प्रतीकारः (वह प्रतीकार तुम्हारे अधीन है)। यत् त्वयास्य सक्तं किंचिद् गृहीतमस्ति तत् समर्पय (इसका जो कुछ भी तुमने लिया है, वह इसे लौटा दो)। को नाम राज्ञां प्रियः (भला कौन राजाओं का प्रिय है ?)।

(ग) इन अर्थों वाले शब्दों के साथ (इनके साथ सप्तमी भी होती है, नि० २०३ च) :—परिचित, दक्ष, अभ्यस्त। जैसे—अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम् (आप वस्तुतः लोक-व्यवहारों से परिचित हैं); संग्रामाणाम् अकोविदः (युद्ध में अचतुर)। उचितो जनः क्लेशानाम् (दुःख-सहन के अभ्यस्त व्यक्ति)।

(घ) तुल्य या सदृश अर्थ वाले शब्दों के साथ (इनके साथ तृतीया भी होती है, नि० १९९, २ ग)। जैसे—रामः कृष्णस्य तुल्यः (राम कृष्ण के तुल्य है)।

(३) क्त-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कर्ता में षष्ठी होती है :—

(क) सोचना, जानना और पूजा करना अर्थ वाली धातुओं से वर्तमान अर्थ में क्त-प्रत्यय होने पर :—जैसे—राज्ञां मतः (राजाओं के द्वारा माना गया = राजाओं के द्वारा आदृत)। विदितो भवान् आश्रमसदाम् इहस्थः (आप यहाँ पर हैं, यह आश्रमवासियों को ज्ञात हो गया है)।

(ख) कृत्य प्रत्ययों के साथ (इनके साथ तृतीया भी होती है नि० १९९): —मम (मया) सेव्यो हरिः (हरि मेरे द्वारा सेवनीय है)।

(४) दिशाबोधक तस् (तः) प्रत्ययान्त क्रिया विशेषण शब्दों के साथ षष्ठी होती है (१७७ घ):—जैसे—ग्रामस्य दक्षिणतः (गाँव के दक्षिण की ओर)। कभी-कभी 'एन' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ भी षष्ठी होती है (इनके

साथ द्वितीया भी होती है) :—जैसे —उत्तरेणास्य (इस स्थान के उत्तर की ओर)।

(५) काल-वाचक शब्दों के साथ षष्ठी निम्नलिखित स्थानों पर होती है :—

(क) निर्धारित समय में कोई कार्य कितनी बार किया गया है, इस अर्थ में संख्या-बोधक शब्दों से या 'इतनी बार' अर्थ वाले शब्दों से (१०८) षष्ठी होती है। जैसे—श्राद्धं त्रिरब्दस्य निर्वपेत् (वर्ष में तीन बार श्राद्ध करे)। संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः (ब्राह्मण को चाहिए कि वह वर्ष में कम से कम एक कठिन व्रत करे)।

(ख) 'इतने समय बाद' अर्थ में काल-वाचक शब्दों से षष्ठी होती है (पंचमी भी)। जैसे—कतिपयाहस्य (कुछ दिन बाद)। इस अर्थ में केवल 'चिरस्य' का भी प्रयोग होता है।

(ग) यदि समय-बोधक शब्द के साथ संज्ञा शब्द और क्त-प्रत्ययान्त रूप षष्ठी विभक्ति से युक्त होता है, तो वह 'समय की अवधि' बताता है। जैसे—अद्य दशमो मासस्तातस्योपरतस्य (मेरे पिता को मरे हुए आज दसवाँ महीना है)। इस प्रकार का प्रयोग भावे षष्ठी के तुल्य है (२०५, २)।

(६) दो वस्तुओं में विकल्प या अन्तर प्रकट करने के लिए दोनों शब्दों में षष्ठी का प्रयोग होता है। जैसे—व्यसनस्य मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते (दुर्गुण और मृत्यु में दुर्गुण अधिक कष्टदायी है)। एतावानेवायुष्मतः शतक्रतोश्च विशेषः (आपमें और चिरंजीवी इन्द्र में इतना ही अन्तर है)।

सप्तमी (Locative)

२०३. सप्तमी विभक्ति स्थान अर्थ बताती है, जहाँ पर वह कार्य हुआ है, या गति-अर्थ वाली धातुओं के साथ गन्तव्य स्थान को बताती है। प्रथम अर्थ में सप्तमी का अनुवाद में, पर, समीप आदि के द्वारा किया जाता है और दूसरे अर्थ में 'में' या 'पर' के द्वारा।

कहाँ ? अर्थ में सामान्य सप्तमी के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :— पक्षिणस्तस्मिन् वृक्षे निवसन्ति (पक्षी उस पेड़ पर रहते हैं)। विदर्भेषु (विदर्भ में) (१९३, ३ ग)। आत्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामि (मैं तुम्हारे दरवाजे पर अपनी हत्या करूंगा)। काश्याम् (काशी में)। फलं दृष्टं द्रुमेषु (पेड़ों पर फल दिखाई पड़ा)। आसेदुर्गङ्गायाम् (वे गंगा के किनारे रुके)। न देवेषु न यक्षेषु तादृग् रूपवती क्वचिद् मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वा (न देवों में, न यक्षों में और न अन्य मनुष्यों में ही इस प्रकार की सुन्दरी आज तक देखी गई है)। मम पार्श्वे (मेरे पास)।

(क) जब निर्धारण (बहुतों में से एक को छाँटना) अर्थ में सप्तमी होती है, तो उसका अर्थ षष्ठी के समकक्ष होता है (२०२)। जैसे—सर्वेषु पुत्रेषु रामो मम प्रियतमः (सारे पुत्रों में राम मेरा सबसे अधिक प्रिय है)।

(ख) जिसके साथ कोई व्यक्ति रहता है या रुकता है, उसमें सप्तमी होती है। जैसे—गुरौ वसति (वह गुरु के पास रहता है)।

(ग) तिष्ठति (रुकता है) और वर्तते (होता है) के साथ सप्तमी होने पर इनका अर्थ हो जाता है—मानता है, तदनुसार कार्य करता है। जैसे—न मे शासने तिष्ठसि (तुम मेरा कहना नहीं मानते हो)। मातुर्मते वर्तस्व (माँ की इच्छा के अनुसार काम करो)।

(घ) किसी कारण का परिणाम (फल) प्रकट करने अर्थ में सप्तमी होती है। दैवमेव नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् (मनुष्यों की समृद्धि और अवनति का कारण भाग्य ही है)।

(ङ) निम्नलिखित अर्थों वाली धातुओं के साथ सप्तमी संबन्ध (संपर्क) अर्थ को प्रकट करती है :—पकड़ना (ग्रह्), बाँधना (बन्ध्), लेटना या चिपकना (लग्, श्लिष्, सञ्ज्), निर्भर होना, विश्वास करना, आशा करना। जैसे —केशेषु गृहीत्वा (बाल पकड़कर), पाणौ संगृह्य (हाथ पकड़कर), वृक्षे पाशं बबन्ध (वृक्ष में बेड़ी बाँधी), व्यसनेष्वसक्तः शूरः (व्यसनों में न फँसा हुआ शूर), वृक्षमूलेषु संश्रिताः (वृक्षों की जड़ों पर लेटे हुए), विश्वसिति शत्रुषु (वह

शत्रुओं पर विश्वास करता है), आशंसन्ते सुरा अस्याधिज्ये धनुषि विजयम् (देवता इसके डोरी-चढ़े धनुष पर विजय की आशा करते हैं)।

(च) निपुण या कुशल अर्थ वाले विशेषण शब्दों के साथ सप्तमी होती है। (इनके साथ षष्ठी भी होती है, २०२, २ ग) :—रामोऽक्षद्यूते निपुणः (राम जुआ खेलने में निपुण है)। नाट्ये दक्षा वयम् (हम लोग अभिनय में निपुण हैं)।

(छ) किसी व्यक्ति या वस्तु में कोई गुण या विशेषता प्राप्त होती है तो उसको प्रकट करने के लिए सप्तमी का आलंकारिक प्रयोग होता है। जैसे—सर्वं संभावयाम्यस्मिन् (मैं इसमें सभी गुणों की आशा करता हूँ)। (२०७, १ घ)। दृष्टदोषा मृगया स्वामिनि (शिकार खेलना राजा के लिए दुर्गुण है)। आर्तानामुपदेशे न दोषः (विपत्तिग्रस्त को उपदेश देने में कोई दोष नहीं है)। इसी प्रकार शब्द का अर्थ स्पष्ट करने में सप्तमी विभक्ति का अर्थ होता है—'अमुक अर्थ में'। जैसे—कलापो बर्हे (कलाप शब्द का प्रयोग मोर के पंख अर्थ में होता है)।

(ज) सप्तमी विभक्ति विशेष परिस्थिति को प्रकट करती है, जिन परिस्थितियों में वह कार्य हुआ है। जैसे—आपदि (आपत्ति के समय में)। भाग्येषु (समृद्धि के समय में)। छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति (विपत्तियों के समय में अनर्थ बढ़ जाते हैं)। अन्तिम उदाहरण में सप्तमी कारण-बोधक है। यदि इसके साथ शतृ-प्रत्ययान्त विधेय होता तो इसमें 'सति सप्तमी' होती। (२०५, १ क)।

(झ) 'कालार्थक सप्तमी' प्रकट करती है कि किस समय वह कार्य हुआ है। यह पूर्वोक्त नियम का ही विशिष्ट प्रयोग है। जैसे—वर्षासु (वर्षा ऋतु में), निशायाम् (रात्रि में), दिने-दिने (प्रतिदिन)।

(ञ) सप्तमी स्थान की दूरी को प्रकट करती है कि कितनी दूर पर वह कार्य हुआ है। जैसे—इतो वसति...अध्यर्धयोजने महर्षिः (महर्षि यहाँ से डेढ़ योजन पर रहते हैं)।

२०४. सप्तमी 'किधर' और 'कहां' इन प्रश्नों का उत्तर देती है। इस अर्थ में यह निम्नलिखित धातुओं के साथ प्रयुक्त होती है :—(क) गिरना और रखना अर्थ की धातुओं के साथ अनिवार्य रूप से; (ख) फेंकना और भेजना अर्थ वाली धातुओं के साथ। इन अर्थों में चतुर्थी भी होती है (२००, अ १ख);

(ग) जाना, घुसना, चढ़ना, चोट मारना, लाना, भेजना अर्थ की धातुओं के साथ। इन अर्थों में द्वितीया भी होती है। जैसे—भूमौ पपात (वह पृथ्वी पर गिरा)। तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय (उसी भिक्षा-पात्र में रखकर)। हस्त-मुरसि कृत्वा (अपना हाथ छाती पर रखकर) (कृ धातु रखना अर्थ में भी प्रयुक्त होती है)। अरौ बाणान् क्षिपति (वह अपने शत्रु पर बाण फेंकता है)। मत्स्यो नद्यां प्रविवेश (मछली नदी में घुसी)। समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थितः (वह समीपवर्ती नगर के लिए चल पड़ा)। तं शिरस्यताडयत् (उसने उसके सिर पर चोट मारी)।

(क) सप्तमी उस व्यक्ति या वस्तु का बोध कराती है जिसके विषय में कुछ कार्य हुआ है, या जिसका उस कार्य से संबन्ध है। जैसे— प्राणिषु दयां कुर्वन्ति साधवः (सज्जन लोग प्राणियों पर दया करते हैं)। भव दक्षिणा परि-जने (सेवकों पर दयालु होना)। क्षेत्रे विवदन्ते (वे खेत के बारे में झगड़ा कर रहे हैं)।

(ख) निम्नलिखित अर्थों वाली धातुओं के साथ चतुर्थी (और षष्ठी) के साथ ही गौण कर्म में सप्तमी भी होती है :—देना, कहना, प्रतिज्ञा करना, खरीदना और बेचना। (२०० अ १ क; २००, १ ङ)। जैसे—सहस्राक्षे प्रति-ज्ञाय (इन्द्र से यह प्रतिज्ञा करके)। शरीरं विक्रीय धनवति (धनवान् को अपना शरीर बेचकर)। वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्याम् (गुरु बुद्धिमान् शिष्य को विद्या देता है)।

(ग) निम्नलिखित अर्थों वाले शब्दों और धातुओं के साथ कार्य के लक्ष्य को बताने अर्थ में चतुर्थी (२०० आ १, २) के साथ सप्तमी भी होती है :—प्रवृत्त होना, लगा रहना, निश्चय करना, इच्छुक होना, नियुक्त करना, चुनना, आज्ञा देना, स्वीकृति देना, योग्य होना या उस कार्य के उपयुक्त होना। जैसे—सर्वस्वहरणे युक्तः शत्रुः (सर्वस्व हरने में लगा हुआ शत्रु)। कर्मणि न्ययुङ्क्त (उसने उसे काम में नियुक्त किया)। पतित्वे वरयामास तम् (उसने उसे पति के रूप में चुना)। असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् (यह हमारी उदर-पूर्ति करने में असमर्थ है)। त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तस्मिन् युज्यते (तीनों लोकों का भी प्रभुत्व उसके योग्य है)। विधेय में सप्तमी के द्वारा ही

'योग्य होना' अर्थ प्रकट होता है। जैसे—नयत्यागशौर्यसंपन्ने पुरुषे राज्यम् (नीति, त्याग और शौर्य से संपन्न मनुष्य में ही राज्य रहता है)। कभी-कभी सप्तमी का प्रयोग ऐसी धातुओं के साथ भी होता है, जिनका अर्थ कोई लक्ष्य नहीं होता है। ऐसे स्थानों पर सप्तमी का अर्थ होता है कि कार्य के फलस्वरूप अमुक वस्तु प्राप्त हुई। जैसे—चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (वह चमड़े के लिए अर्थात् चमड़ा प्राप्त करने के लिए व्याघ्र को मारता है)।

(घ) इच्छा, भक्ति, आदर, मित्रता, विश्वास, दया, घृणा और उपेक्षा अर्थों के बोधक शब्दों के साथ जिनके प्रति ये भाव प्रकट किए जाते हैं, उनमें प्रायः सप्तमी होती है। जैसे—न खलु शकुन्तलायां ममाभिलाषः (वस्तुतः शकुन्तला के प्रति मेरी अभिलाषा नहीं है)। न मे त्वयि विश्वासः (मेरा तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं है)। न लघुष्वपि कर्तव्येष्वनादरः कार्यः (छोटे से छोटे कर्तव्यों के प्रति उपेक्षा नहीं करनी चाहिए)।

(ङ) निम्नलिखित अर्थों वाले विशेषण शब्दों या क्त-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ सप्तमी होती है :—अभ्यस्त, रत, प्रवृत्त, अनुरक्त या संलग्न तथा इनके विलोम (विरुद्धार्थक) शब्द। जैसे—नार्यः केवलं स्वसुखे रताः (औरतें केवल अपने सुख में ही मग्न रहती हैं)।

भावे षष्ठी और सप्तमी

(Locative and Genitive Absolute)

२०५. (१) संस्कृत में भावे सप्तमी सामान्यतया प्रचलित है। यह ग्रीक के 'भावे षष्ठी' और लेटिन के 'भावे पंचमी' के बहुत कुछ समकक्ष है। जैसे—गच्छत्सु दिनेषु (जैसे-जैसे दिन बीतते गए)। गोषु दुग्धासु स गतः (गायों के दुहे जाने पर वह गया)। कर्णं ददाति मयि भाषमाणे (मेरे बोलने पर वह अपने कान मेरी ओर लगाती थी)।

(क) भावे सप्तमी का विधेय प्रायः सदा ही शतृ या शानच् प्रत्ययान्त शब्द होता है। इसका अपवाद केवल शतृ-प्रत्ययान्त 'सत्' शब्द है जो प्रायः लुप्त रहता है। जैसे—कथं धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि (सज्जनों के रक्षक तुम्हारे रहते हुए, उनके धर्म-कार्यों में विघ्न कैसे हो सकता है ?)।

(ख) शतृ-प्रत्ययान्त 'सत्' (होता हुआ) शब्द (या इसके समानार्थक 'वर्तमान' और 'स्थित' शब्द) प्रायः दूसरे भावार्थक-प्रत्ययान्त शब्द के बाद जोड़ दिया जाता है। जैसे—सूर्योदयेऽन्धतां प्राप्तेषूलूकेषु सत्सु (सूर्योदय होने पर उल्लुओं के अन्धे हो जाने पर)।

(ग) जब क्त प्रत्यय का प्रयोग भाव अर्थ में होता है तो कर्ता प्रायः लुप्त रहता है। यदि क्त-प्रत्ययान्त के साथ एवम्, तथा, इत्थम्, इति आदि अव्यय होते हैं, तब भी कर्ता लुप्त रहता है। जसे—तेनाभ्युपगते (उसके द्वारा स्वीकृति दिए जाने पर)। एवं गते (ऐसा होने पर, शब्दार्थ—इसप्रकार जाने पर)। 'तथा कृते सति' या 'तथानुष्ठिते' (ऐसा करने पर)।

(घ) 'ज्योंही ..त्योंही' अर्थ को प्रकट करने के लिए भावार्थक क्त-प्रत्ययान्त के बाद (समस्तपद के द्वितीय पद के रूप में) 'एव' अव्यय और 'मात्र' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे प्रभातायामेव रजन्याम् (ज्योंही सवेरा हुआ त्योंही)। प्रविष्टमात्र एव तत्रभवति (ज्योंही आप प्रविष्ट हुए त्योंही)।

२. 'भावे सप्तमी' की अपेक्षा 'भावे षष्ठी' का प्रयोग बहुत कम मिलता है और इसका उपयोग बहुत कम स्थानों पर होता है। यह समकालीन के लिए प्रयुक्त होता है। इसका कर्ता कोई व्यक्ति होता है और विधेय शतृ-प्रत्ययान्त रूप या इसी भाव वाला शब्द होता है। इसका अनुवाद 'जबकि' 'यद्यपि' 'क्योंकि' के द्वारा किया जा सकता है। जैसे—पश्यतो मे परिभ्रमन् (यद्यपि मैं देख रहा था, फिर भी घूमते हुए)। एवं वदतस्तस्य स लुब्धको निभृतः स्थितः (जबकि वह इस प्रकार कह रहा था, तब वह बहेलिया छिपकर खड़ा रहा)। एवं चिन्तयतस्तस्य तत्र तोयार्थमाययुः स्त्रियः (जब वह इस प्रकार सोच रहा था, तभी जल लेने के लिए स्त्रियाँ आईं)।

कालार्थक कृत् प्रत्यय (क्त, क्तवतु, शतृ, शानच्

(Participles)

२०६. संस्कृत में कालार्थक कृत् प्रत्ययान्तों का प्रयोग मुख्य क्रिया के विशेषण के रूप में होता है और वे आश्रित उपवाक्य का कार्य करते हैं। लेटिन और ग्रीक के तुल्य ही ये शब्द निम्नलिखित अर्थों को प्रकट करते हैं :—

संबन्ध-बोधक लौकिक कारण, स्वीकृति और काल्पनिक। भविष्यत् अर्थ वाले कृत् प्रत्यय समाप्ति-सूचक अर्थ भी प्रकट करते हैं। उपर्युक्त अर्थ प्रत्ययों में स्वभाव-सिद्ध हैं और इसके लिए कोई निपात जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, केवल स्वीकृति-सूचक कृत् प्रत्ययान्तों में अन्त में 'अपि' साधारणतया जोड़ा जाता है।

जैसे—शृगालः कोपाविष्टस्तम् उवाच (क्रोध से भरा हुआ गीदड़ उससे बोला)। निषिद्धस्त्वं मयाऽनेकशो न शृणोषि (यद्यपि मैंने तुम्हें अनेक बार मना किया है, परन्तु तुमने मेरी बात नहीं सुनी)। अजल्पतो जानतस्ते शिरो यास्यति खण्डशः (जानते हुए भी यदि तुम नहीं बताते हो तो तुम्हारा शिर टुकडे-टुकड़े कर दिया जाएगा)। ताडयिष्यन् भीमं पुनरभ्यद्रवत् (वह फिर भीम को चोट मारने के लिए उसकी ओर दौड़ा)।

(क) कालार्थक कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थ में बहुव्रीहिसमास वाले शब्दों का प्रायः प्रयोग होता है और 'सत्' शब्द लुप्त रहता है। जैसे—अथ शङ्कितमना व्यचिन्तयत् (शंकित-चित्त होकर उसने सोचा)।

२०७. **वर्तमानार्थक कृत्प्रत्यय (Present Participle)**। क्रिया की निरन्तरता (रहा अर्थ) को सूचित करने के लिए (वर्तमानार्थक कृत्प्रत्ययों तथा) वर्तमान अर्थ वाले क्त-प्रत्ययान्त रूपों) के साथ अस्ति या भवति (है), आस्ते (बैठता है), तिष्ठति (रुकता है), वर्तते (है) का प्रयोग होता है। इंगलिश् में 'Is doing' (कर रहा है) के तुल्य ये शब्द 'रहा' अर्थ को प्रकट करते हैं। जैसे—एतदेव वनं यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा वसन्तः (यह वही वन है, जिसमें हम लोग पहले बहुत दिनों तक रहे थे)। भक्षयन्नास्ते (वह खा रहा है)। सा यत्नेन रक्ष्यमाणा तिष्ठति (वह यत्नपूर्वक सुरक्षित रखी जा रही है)। परिपूर्णोऽयं घटः सक्तुभिर्वर्तते (यह घड़ा सत्तू से भरा हुआ है)।

(क) इसी प्रकार 'शान्त होना' 'रुकना' अर्थ वाली क्रिया-निषेधार्थक धातुओं का प्रयोग वर्तमानार्थक कृत प्रत्ययों के साथ होता है। जैसे—सिंहो मृगान् व्यापादयन्नोपरराम (सिंह मृगों को मारने से नहीं रुका)।

(ख) 'लज्जित होना' 'सहन करना' आदि भावावेश-बोधक धातुओं के बाद भावावेश का कारण बताने के लिए शतृ या शानच् प्रत्ययान्त रूपों का

प्रयोग होता है। जैसे—किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः (क्या ऐसा कहते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ?)

(ग) देखना, सुनना, जानना, सोचना, चाहना अर्थ वाली धातुओं (१९८, १) के साथ विधेयरूप में प्रयुक्त शतृ, शानच् (या क्त) प्रत्ययान्त रूपों में कर्तृवाच्य में द्वितीया और कर्मवाच्य में प्रथमा होती है। जैसे—प्रविशन्त न मां कश्चिदपश्यत् (मुझ को प्रविष्ट होते हुए किसी ने नहीं देखा)। स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव (उस राजा ने एक बार किसी के द्वारा पढ़े जाते हुए दो श्लोक सुने)। गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः श्रूयन्ते परिणीताः (राजर्षियों की बहुत सी कन्याएँ गान्धर्वविधि से विवाहित हुई सुनी जाती हैं)।

२०८. भूतार्थक कृत्प्रत्यय (Past Participles) कर्मवाच्य क्त (त) प्रत्यय और कर्तृवाच्य तवत् प्रत्यय वाले रूप (१६१; ८९ पादटिप्पणी ३) (लिट् के स्थान में होने वाला 'वस्' प्रत्ययान्त रूप, बहुत कम नि० ८९) प्रायः मुख्य क्रिया के रूप में प्रयुक्त होते हैं (संयोजक शब्द लुप्त रहता है)। जैसे—तेनेदम् उक्तम् (उसने यह कहा)। स इदमुक्तवान् (उसने यह कहा)।

(क) अकर्मक धातुओं से कर्मवाच्य में क्त (त) प्रत्यय होने पर उनका प्रयोग भाववाच्य में होता है। अन्यत्र क्त-प्रत्ययान्त का कर्तृवाच्य प्रयोग होता है। जैसे—मयाऽत्र चिरं स्थितम् (मैं यहाँ देर तक रहा था)। स गङ्गां गतः (वह गंगा नदी पर गया)। स पथि मृतः (वह रास्ते में मर गया)।

(ख) कुछ क्त-प्रत्ययान्त रूपों का प्रयोग दोनों प्रकार से होता है—कर्मवाच्य में और सकर्मक कर्तृवाच्य में। जैसे—प्राप्त ('पाया' और 'पहुँच कर' या 'पाकर') प्रविष्ट ('प्रविष्ट' और 'प्रवेश करके'), पीत ('पिया हुआ' और 'पीकर'), विस्मृत ('भूला हुआ' और 'भूलकर'), विभक्त ('बँटा हुआ' और बाँटकर), प्रसूत ('उत्पन्न और 'उत्पन्न होकर') आरूढ़ (चढ़ा हुआ' आदि और 'चढ़ कर' आदि)।

(ग) 'न' अन्त वाले क्त-प्रत्ययान्त रूपों का प्रयोग सकर्मक कर्तृ-वाच्य के रूप में कभी नहीं होता है।

२०९. कृत्य प्रत्यय (Future Participles Passive)। कृत्य प्रत्यय (१६२) आवश्यकता, अवश्य-कर्तव्यता, योग्यता और संभावना अर्थों को प्रकट

करते हैं। कृत्य-प्रत्ययान्त के साथ भी वाक्य-रचना क्त-प्रत्ययान्त के सदृश ही होती है। जैसे—मयाऽवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम् (मुझे अवश्य दूसरे देश जाना चाहिए)। हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् (हे राजन्, मुझे मत मारिए)। ततस्तेनापि शब्दः कर्तव्यः (तब वह भी बोलेगा)।

(क) कभी-कभी कृत्य प्रत्यय केवल भविष्यत् काल का अर्थ बताते हैं। जैसे—युवयोः पक्षबलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम् (तुम्हारे पंखों के बल पर मैं भी सुखपूर्वक जाऊंगा)।

(ख) भू (होना) धातु से बने रूप भवितव्यम् और भाव्यम् का भाववाच्य के रूप में प्रयोग होता है और ये आवश्यकता और उच्च संभावना को प्रकट करते हैं। विधेय का विशेषण या अन्य संज्ञाशब्द तृतीयान्त कर्ता के अनुकूल ही हो जाते हैं। जैसे—तया संनिहितया भवितव्यम् (वह समीप में ही होगी)। तस्य प्राणिनो बलेन सुमहता भवितव्यम् (उस प्राणी का बल बहुत अधिक होगा)।

२१०. **क्त्वा (त्वा) और ल्यप् (य) (Indeclinable Participle, Gerund)**:—ये प्रत्यय प्रायः सदा एक कार्य के प्रारम्भ होने से पूर्व दूसरे कार्य की समाप्ति को सूचित करते हैं (बहुत कम स्थानों पर दोनों कार्यों का एक साथ होना सूचित किया जाता है)। यह मुख्य कार्य के व्याकरण-सम्बन्धी या वास्तविक कर्ता को बताता है और सामान्यतया प्रथमा से संबद्ध रहता है, या कर्मवाच्य में तृतीया से, किन्तु कभी कभी अन्य कारकों से भी संबद्ध रहता है। जैसे—तं प्रणम्य स गतः (उसको प्रणाम करके, वह गया)। अथ तेनात्मानं तस्योपरि प्रक्षिप्य प्राणाः परित्यक्ताः (इसके बाद उसने अपने आपको उसके ऊपर फेंककर अपने प्राण छोड़ दिए)। (इसमें प्रक्षिप्य का तेन से संबन्ध है)। तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम् (सुन्दर हास्य वाली उस कन्या को देखते ही उसकी काम-भावना बढ़ गई) (यहाँ दृष्ट्वा का तस्य से संबन्ध है)।

(क) धातुज संज्ञा-शब्द के बाद 'कर' या 'करके' के द्वारा प्रायः इसका अनुवाद किया जा सकता है। जैसे—मां निर्धनं हत्वा किं लभेध्वम् (मुझ गरीब को मारकर क्या पाओगे ?)। इस प्रकार का प्रयोग यह बताता है कि मूलरूप में यह धातुज संज्ञाशब्द का तृतीयान्त प्रयोग था।

(ख) इसमें रूप चलने वाले कृत् प्रत्ययों की सभी विशेषताएँ हैं और तद-नुसार यह अन्य कृत् प्रत्ययों के तुल्य विभिन्न संबन्धों को प्रकट कर सकता है—तथा इसके बाद क्रिया की निरन्तरता को सूचित करनेवाले आस्ते, तिष्ठति, वर्तते आदि क्रियापद भी लग सकते हैं। जैसे—सर्वपौरान् अतीत्य वर्तते (वह सारे नागरिकों से बढ़कर है, अर्थात् सारे नागरिकों का प्रमुख है)।

(ग) कतिपय क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययान्त रूप अर्थ की दृष्टि से उपसर्गों के समकक्ष हैं (१७९)।

(घ) 'त्वा' का मौलिक तृतीयान्त स्वरूप किम् और अलम् के साथ प्रयोगों में तथा भाववाच्य प्रयोगों में अभीष्ट सामान्य कर्ता के साथ अभी तक सुरक्षित है। जैसे—किं तव गोपायित्वा (छिपाने से तुम्हें क्या लाभ होगा ?)। अलं ते वनं गत्वा (वन जाने से बस करो, अर्थात् वन में मत जाओ)। पशून् हत्वा यदि स्वर्गे गम्यते (यदि पशुओं को मारने से कोई स्वर्ग को जाता है तो)।

तुम् प्रत्यय (Infinitive)

२११. यह अतिप्रचलित प्रत्यय कार्य के लक्षण को प्रकट करता है और प्रयोजन अर्थ में जहाँ पर चतुर्थी विभक्ति होती है, उन स्थानों पर इसका प्रयोग हो सकता है (२०० आ)। सामान्य चतुर्थी विभक्ति से इसका अन्तर यह है कि तुम्-प्रत्ययान्त के साथ कर्म में द्वितीया होती है और चतुर्थ्यन्त के साथ कर्म में षष्ठी होती है। जैसे—तं जेतुं यतते = तस्य जयाय यतते (वह उसको जीतने का प्रयत्न करता है)। यह अपने मूल द्वितीयान्त अर्थ को सुरक्षित रखे हुए है और यह क्रिया के मुख्य कर्म के रूप में प्रयुक्त होता है। (जैसे—स्नातुं लभते—स्नान को प्राप्त करता है) तथा वाक्य के कर्ता के रूप में इसका प्रयोग नहीं हो सकता है। सामान्यतया धातुज संज्ञाशब्द कर्ता के रूप में इसके स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। जैसे—वरं दानं न तु प्रतिग्रहः (देना अच्छा है, न कि लेना)। दानम् और प्रतिग्रहः दातुम् और प्रतिग्रहीतुम् के स्थान पर हैं।

(समय, अवसर आदि के बोधक) संज्ञाशब्दों, (योग्य, समर्थ आदि) विशे-षणशब्दों और (समर्थ होना, चाहना, प्रारम्भ करना आदि) क्रियाओं के साथ

तुम् का प्रयोग हो सकता है। जैसे—नायं कालो विलम्बितुम् (यह विलम्ब करने का समय नहीं है)। अवसरोऽयम् आत्मानं प्रकाशयितुम् (यह अपने आपको प्रकट करने का अवसर है)। लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः (माथे पर अर्थात् भाग्य में लिखे हुए को कौन मिटा सकता है)। अहं त्वां प्रष्टुम् आगतः (मैं तुमसे पूछने के लिए आया हूँ)। कथयितुं शक्नोति (वह कह सकता है)। इयेष सा कर्तुम् (वह करना चाहती थी)।

(क) सादर प्रश्न करने अर्थ में (=कृपया आदि) अर्ह् (योग्य होना) धातु के लट् प्र०१ और म०१ के साथ तुम् प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे—भवान् मां श्रोतुमर्हति (कृपया आप मेरी बात सुनिए)।

(ख) तुम् के म् का लोप हो जाता है, यदि बाद में काम (चाहना) या मनस् (मन) शब्द होता है। इसके साथ बहुव्रीहि समास (१८६) होता है और प्रयुक्त क्रिया को करने की इच्छा प्रकट की जाती है। जैसे—द्रष्टुकामः (देखने का इच्छुक)। किं वक्तुमना भवान् (आप क्या कहना चाहते हैं?)।

(ग) संस्कृत में तुम् का कर्मवाच्य प्रयोग नहीं होता है, अतः तुमको कर्मवाच्य बनाने के लिए मुख्य क्रिया के कर्मवाच्य का रूप प्रयुक्त किया जाता है। जैसे—कर्तुं न युज्यते (यह करने योग्य नहीं है)। मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते (ये मेरे द्वारा नीतिशास्त्र पढ़ाए जा सकते हैं)। तेन मण्डपः कारयितुम् आरब्धः (उसने एक मण्डप बनवाना शुरू किया)।

(घ) कृत्य-प्रत्ययान्त 'शक्य' का प्रयोग दो प्रकार से होता है—(१) कर्ता के अनुसार लिंग, विभक्ति आदि, (२) नपुं० एक०। जैसे—न शक्यास्ते (दोषाः) समाधातुम् (वे दोष दूर नहीं किए जा सकते हैं)। सा न शक्यम् उपेक्षितुं कुपिता (उस क्रुद्ध हुई की उपेक्षा नहीं की जा सकती है)। इसी प्रकार युक्त (योग्य) और न्याय्य (न्यायसंगत) शब्दों का भी प्रयोग होता है। जैसे—सेयं न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः (यह उचित है कि मैं उसको तुमसे छुड़ाऊँ)।

लकार

(Tenses and Moods)

वर्तमान काल

(Present)

२१२. संस्कृत में लट् (वर्तमान काल) का प्रयोग प्रायः वैसा ही है, जैसा इंग्लिश् में है। तथापि निम्नलिखित अन्तर उल्लेखनीय हैं :—

(१) वर्णनों में ऐतिहासिक वर्तमान का प्रयोग अंग्रेजी की अपेक्षा संस्कृत में अधिक होता है, विशेषरूप से समय की अवधि बताने अर्थ में (यह कार्य संस्कृत में लङ् लकार नहीं कर पाता है)। जैसे—दमनकः पृच्छति कथमेतत् (दमनक ने पूछा—यह कैसे?), हिरण्यको भोजनं कृत्वा बिले स्वपिति (हिरण्यक भोजन करके विल में सोता था)।

(क) कभी कभी लट् के साथ पुरा (पहले) का प्रयोग होता है। जैसे—कस्मिंश्चिद् वृक्षे पुराऽहं वसामि (मैं एक पेड़ पर पहले रहता था)। 'स्म' निपात भी इसी प्रकार बहुत प्रयुक्त होता था (यह प्राचीन संस्कृत में प्रायः 'पुरा' के साथ रहता था, अतः अकेले होने पर भी इसमें 'पुरा' का अर्थ शेष रह गया है। जैसे—कस्मिश्चिद् अधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म (एक स्थान पर सोमिलक नाम का एक जुलाहा रहता था)।

(ख) वर्तमान के समीपवर्ती भूतकाल को प्रकट करने के लिए भी लट् लकार का प्रयोग होता है। जैसे—अयम् आगच्छामि (मैं आता हूँ, अर्थात् मैं अभी आया हूँ)।

(२) लट् लकार वर्तमान के समीपवर्ती भविष्यत् काल को भी प्रकट करता है। इस अर्थ में इसके साथ कभी कभी 'पुरा' (अभी) और यावत् (अभी) का भी प्रयोग होता है। जैसे—तर्हि मुक्त्वा धनुर्गच्छामि (तो मैं अपना धनुष छोड़कर जाऊँगा। तद् यावच्छत्रुघ्नं प्रेषयामि (तो मैं अभी शत्रुघ्न को भेजूंगा)।

(क) प्रश्नवाचक शब्दों के साथ लट् भावी कार्य के विषय में सन्देह प्रकट करता है। जैसे—किं करोमि (मैं क्या करूँ ?)।

(ख) यह तुरन्त करने योग्य 'सलाह' का अभिप्राय भी प्रकट करता है। जैसे—तर्हि गृहमेव प्रविशामः (तो हम लोग घर में ही प्रवेश करें)।

भूतार्थक लकार (Past Tenses)

२१३. भूतार्थक कृत्-प्रत्यय त और तवत् (तथा ऐतिहासिक वर्तमान) के अतिरिक्त तीन लकार लङ्, लिट् और लुङ् ऐतिहासिक या परोक्ष भूत अर्थ को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये लकार एक बार घटित, अनेक बार घटित और निरन्तर चालू, सभी प्रकार की घटनाओं को समान रूप से प्रकट करते हैं। इन लकारों का बिना भेद-भाव के प्रयोग मिलता है।

(क) **लिट् लकार** का प्रयोग मुख्यतया परोक्ष तथ्यों के लिए होता है, जिनका अनुभव वक्ता को नहीं है। अतः म० पु० १ और उ० पु० १ के प्रयोग बहुत कम मिलते हैं।

(ख) **लङ् लकार**—ऐतिहासिक भूत के वर्णन के अतिरिक्त स्वयं दृष्ट या अनुभूत भूतकालिक तथ्यों का भी वर्णन करता है।

(ग) **लुङ् लकार**—(तथा त और तवत् कृत् प्रत्यय) की विशेषता यह है कि यह पूर्ण भूत के साथ ही वर्तमान काल में उसकी समाप्ति बताता है, अतः संवादों के लिए अधिक उपयुक्त है। जैसे—अभूत् सम्पादितस्वादुफलो मे मनोरथः (मेरे मनोरथ को स्वादिष्ट फल मिल गया है)। तुभ्यं मया राज्यम् अदायि (मैंने तुम्हें राज्य दे दिया है)। तं दृष्टवानस्मि (मैंने उसे देखा है)।

(घ) 'मा' के साथ लुङ् (लङ् का बहुत कम) का अडागम (अ) के बिना लोट् लकार के अर्थ में प्रयोग होता है। (नि० २१५ ङ और १८०)।

(ङ) संस्कृत में Pluperfect लकार नहीं है, अतः इसका अभिप्राय (जो कि प्रसंगानुसार ज्ञेय होता है) अन्य भूतकालिक लकारों से, क्त्वा प्रत्यय से या कभी-कभी सहायक क्रिया-रहित त या तवत् प्रत्ययान्त रूपों से प्रकट किया जाता है।

भविष्यत् (Future)

२१४. लृट् सामान्य भविष्यत् के लिए प्रयुक्त होता है। यह किसी भी भविष्यत् कालिक कार्य के लिए प्रयुक्त हो सकता है। लुट् लकार, जो कि अपेक्षाकृत बहुत कम प्रयुक्त होता है, सुदूर भविष्यत् के लिए प्रयुक्त होता है। अतः ये दोनों लकार किसी भी वर्णन में एक साथ आ सकते हैं और एक दूसरे से बदल कर प्रयुक्त हो सकते हैं।

(क) यदि लृट् के साथ लोट् का प्रयोग भी है तो लृट् कभी-कभी आज्ञा अर्थ को सूचित करता है। जैसे—भद्रे यास्यसि मम तावद् अर्थित्वं श्रूयताम् (प्रिये, जाती हो जाओ, परन्तु मेरी प्रार्थना सुनती जाओ)।

आज्ञा अर्थ (Imperative)

२१५. सामान्य आज्ञा या उपदेश अर्थ के अतिरिक्त इस लकार के कुछ विशेष प्रयोग भी हैं।

(क) उत्तम पुरुष का अनुवाद 'चाहिए' या 'गा' के द्वारा करना चाहिए। यह प्राचीन लेट् लकार का अवशेष है। जैसे—दीव्यावेत्यब्रवीद् भ्राता (उसके भाई ने कहा—हमें जुआ खेलना चाहिए)। अहं करवाणि (मैं करूंगा)।

(ख) कर्तृवाच्य म० पु० के स्थान पर कर्मवाच्य प्र० पु० १ का प्रयोग सामान्यतया सादर अनुरोध में होता है। जैसे—देव श्रूयताम् (श्रीमन्, आप सुनिए !) (नि० २११ क)।

(ग) विधिलिङ् और आशीर्लिङ् के स्थान पर आशीर्वाद या शुभकामना प्रकट करने में लोट् लकार भी होता है। जैसे—चिरं जीव (चिरकाल तक जीवित रहो)। शिवास्ते पन्थानः सन्तु (आपके मार्ग प्रशस्त हों)।

(घ) लोट् लकार संभावना या सन्देह अर्थ को प्रकट करता है, विशेषरूप से प्रश्नवाचक शब्दों के साथ। जैसे—विषं भवतु मा वाऽस्तु फटाटोपो भयंकरः (विष हो या न हो, सर्प का फन फैलाना भयंकर होता है)। प्रत्येतु कस्तद् भुवि (पृथ्वी पर कौन इस बात पर विश्वास करेगा ?)। किमधुना करवाम (हमें अब क्या करना चाहिए ?)

(ङ) निषेधार्थक 'मा' के साथ लोट् का प्रयोग दुर्लभ है। सामान्यतया

इसके स्थान पर अडागम (अ)-रहित लुङ् लकार हो जाता है (२१३ या न के साथ विधिलिङ् हो जाता है, या अलम् और कृतम् के साथ तृतीं विभक्ति हो जाती है (१८०)।

विधिलिङ् (optative or Potential)

२१६. विधिलिङ् अपने निर्धारित अर्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थों भी प्रकट करता है, जो लेट् लकार (जो अब संस्कृत में लुप्त है) के द्वारा प्र किए जाते थे।

(१) **मुख्य वाक्यों में**—यह निम्नलिखित अर्थों को प्रकट करता है :—

(क) इच्छा (प्रायः 'अपि' निपात के साथ प्रयुक्त) :—जैसे—अपि पश्ये मिह राघवम् (क्या मैं राम को यहाँ देख सकता हूँ ?)।

(ख) संभावना या सन्देह :—जैसे—कदाचिद् गोशब्देन बुध्येत (संभव कि वह गायों की आवाज से जाग जाए)। पश्येयुः क्षितिपतयश्चारदृष्ट (राजा लोग दूतों की दृष्टि से देख सकते हैं)। एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक धनुष्मता (धनुर्धारी के द्वारा छोड़ा गया बाण एक व्यक्ति को मार भी सक है, नहीं भी)।

(ग) संभावना। इस अर्थ में यह भविष्यत् के समकक्ष होता है। जैसे- इयं कन्या नात्र तिष्ठेत् (संभव है कि यह कन्या यहाँ न रुके)।

(घ) उपदेश या शिक्षा। जैसे—त्वमेवं कुर्याः (तुम्हें ऐसा करना चाहिए) आपदर्थं धनं रक्षेत् (आपत्ति के समय के लिए धन बचाकर रखना चाहिए)

(२) **आश्रित उपवाक्यों में**—विधिलिङ् का प्रयोग निम्नलिखित रूप होता है :—

(क) सामान्य संबद्ध उपवाक्य के रूप में। जैसे—कालातिक्रमणं वृत्ते न कुर्वीत भूपतिः (जो राजा वेतन देने में समय का उल्लंघन नहीं करता है)

(ख) अन्तिम उपवाक्यों में ('इसलिए कि')। जैसे—आदिश मे देशं य वसेयम् (मुझे वह स्थान बताइए, जहाँ मैं रह सकूं)।

(ग) परिणामात्मक उपवाक्य ('जिससे कि') जैसे—स भारो भर्तव्यो यं नरं नावसादयेत् (आदमी को उतना ही बोझ उठाना चाहिए, जितना उसे न न करदे)।

(घ) हेतु-हेतुमद् भाव-बोधक उपवाक्य। जैसे—यदि न स्यान्नरपतिर्विप्लवेत नौरिव प्रजा (यदि राजा न हो तो राज्य जहाज के तुल्य डूब जाएगा)।

आशीर्लिङ् (Benedictive or Precative)

२१७. यह लकार बहुत कम मिलता है (१५०)। यह लुङ् का ही एक भेद मानना चाहिए। यह आशीर्वाद अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। उत्तमपुरुष में यह वक्ता की इच्छा को प्रकट करता है। जैसे—वीर-प्रसवा भूयाः (तुम वीर सन्तान को जन्म देने वाली होओ)। कृतार्थो भूयासम् (मैं सफल होऊँ)। इस अर्थ में लोट् लकार का भी प्रयोग होता है (२१५ ग)। थोड़े से स्थानों पर अर्थ की ष्टि से आशीर्लिङ् और लोट् या विधिलिङ् में स्पष्ट अन्तर प्रतीत नहीं होता है। जैसे—इदं वचो ब्रूयास्त (तुम लोग यह वचन कहो)। नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकम् (मैं ऐसी कोई चीज़ नहीं देखता हूँ जो मेरे शोक को दूर कर सके)।

लृङ् (Conditional)

२१८. यह लकार हेतु (कारण) और हेतुमत् (कार्य) अर्थ को बताता है। हेतु-हेतुमद्भाव अर्थ में यह लकार होता है। प्रथमपद में कोई अतीत (भूतकालिक) कारण बताया जाता है—और द्वितीय पद में उसका कार्य बताया जाता है। दोनों पदों का कार्यकारण संबन्ध होता है। दोनों ही पदों में लृङ् लकार का प्रयोग होता है। यह लेटिन और इंग्लिश् के Pluperfect (conditional) subjunctive और ग्रीक के Aorist indicative के समकक्ष है। जैसे—सुवृष्टिश्चेदभविष्यद् दुर्भिक्षं नाभविष्यत् (यदि अच्छी वर्षा होती तो दुर्भिक्ष न होता)। यदि प्रथम हेतु-वाक्य में विधिलिङ् हो और द्वितीय हेतुमद् वाक्य में लृङ् हो तो संभावनामूलक भूतकालिक अर्थ होगा। जैसे—यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः (यदि राजा दण्डविधान ठीक से न करे तो बलवान् दुर्बलों को इसी प्रकार भून देंगे, जैसे मछली को काँटे पर भूना जाता है)।

परिशिष्ट १

धातुसूची

जहाँ पर धातुओं के सभी लकारों आदि के रूप दिए गए हैं, वहाँ पर उनका क्रम निम्नलिखित है :—लट् (Present), लोट् (Imperative), विधिलिङ् (Optative), लिट् (Perfect), लुङ् (Aorist), लृट् (Future); कर्मवाच्य या भाववाच्य (Passive)—लट् (Present), लुङ् (Aorist), क्त (त)(Participle); क्त्वा (त्वा) या ल्यप् (य) (Gerund), तुमुन् (तुम्) (Infinitive); णिच् (causative), लुङ् (Aorist); सन् (Desiderative); यङ् या यङ्लुक् (Intensive).

धातुओं के बाद दिए गए अंक गण-सूचक हैं, अर्थात् भ्वादिगण आदि १० गणों में से धातु किस गण की है। प० का अभिप्राय है कि धातु के रूप परस्मैपद में ही चलते हैं। आ० का अभिप्राय है कि धातु के रूप आत्मनेपद में ही चलते हैं। उ०=उभयपदी, दोनों पदों में रूप चलते हैं।

अञ्च् (झुकना)—१ प०, लट्—अञ्चति, कर्म० अच्यते, क्त—अञ्चित, णिच्—अञ्चयति।

अञ्ज् (लेप करना)—७ प०, लट्—अनक्ति, लङ्—आनक्, लोट्—अनक्तु, विधि० अञ्ज्यात्, कर्म० अज्यते, क्त—अक्त, णिच्—अञ्जयति।

अद् (खाना)—२प०, लट्—अत्ति, अदन्ति, अत्सि, अद्मि। लङ्—आदत्, आदन्; आदः, आदम्। लोट्—अत्तु, अदन्तु; अद्धि, अदानि। विधि०—अद्यात्। लृट्—अत्स्यति। कर्म०—अद्यते। क्त—जग्ध (अन्न—नपुं० अन्न)। क्त्वा—जग्ध्वा। तुम्—अत्तुम्। णिच्—आदयति।

अन् (साँस लेना)—२ प०, लट्—अनिति। लङ्—आनीत्—आनत्, आनीः—आनः, आनम्। लोट्—अनितु, अनिहि, अनानि। विधि०—अन्यात्। णिच्—आनयति।

अश् (प्राप्त करना)—५ उ०, लट्—अश्नोति, अश्नुते। लङ्—आ० आश्नुत, आश्नुथाः, आश्नुवि। लङ्—अश्नुताम्, अश्नुष्व, अश्नवै। विधि०—अश्नुवीत। लिट्—आनंश, आनशे।

अश् (खाना)—९ प०, लट्—अश्नाति। लोट्—अश्नातु, अशान, अश्नानि। विधि०—अश्नीयात्। लिट्—आश। लुङ्—आशीत्। लृट्—अशिष्यति। कर्म०—अश्यते। क्त—अशित। क्त्वा—अशित्वा। तुम्—अशितुम्। णिच्—आशयति। सन्—अशिशिषति।

अस् (होना)—२ प०, लट्—अस्ति, स्तः, सन्ति; असि, स्थः, स्थ; अस्मि, स्वः, स्मः। लङ्—आसीत्, आस्ताम्, आसन्: आसीः, आस्तम्, आस्त; आसम्, आस्व, आस्म। लोट्—अस्तु, स्ताम्, सन्तु; एधि, स्तम्, स्त; असानि, असाव, असाम। विधि०—स्यात्, स्याताम्, स्युः, स्याः, स्यातम्, स्यात; स्याम्, स्याव, स्याम। लिट्—आस, आसतुः, आसुः; आसिथ, आसथुः, आस; आस, आसिव, आसिम।

अस् (फेंकना)—४ प०, लट्—अस्यति। लिट्—आस, आसिथ आदि, अस् (होना) के तुल्य। लुङ्—आस्यत्। लृट्—असिष्यति। कर्म०—अस्यते, लुङ्—आसि। क्त—अस्त। णिच्—आसयति।

आप् (पाना)—५ प०, लट्—आप्नोति। लङ्—आप्नोत्। लोट्—आप्नोतु, आप्नुहि, आप्नवानि। विधि० आप्नुयात्। लिट्—आप। लुङ्—आपत्। लृट्—आप्स्यति। कर्म०—आप्यते। क्त—आप्त। क्त्वा—आप्त्वा, ०आप्य। तुम्—आप्तुम्। णिच्—आपयति। सन्—ईप्सति।

आस् (बैठना)—२ आ०, लट्—आस्ते। लङ्—आस्त लोट्—आस्ताम्, विधि० आसीत। लिट्—आसांचक्रे। लृट्—आसिष्यते। कर्म०—आस्यते। क्त—आसित। शानच्—आसीन। तुम्—आसितुम्।

इ (जाना)—२ प०, लट्—एति, यन्ति, एषि, एमि, इवः। लङ्—ऐत्, आयन्, ऐः, आयम्, ऐव। लोट्—एतु, यन्तु, इहि, अयानि—अयाव। विधि० —इयात्। लिट्—इयाय, ईयुः, इयेथ, इयाय, ईयिव। लृट्—एष्यति। लुट् एता। कर्म० ईयते। क्त—इत। क्त्वा—इत्वा, ०इत्य। तुम्—एतुम्। णिच्—आययति।

अधी (अधि+इ) (पढ़ना)—२ आ०, लट्—अधीते। लङ्—अध्यैत अध्यैयाताम्, अध्यैयत। लोट्—अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम्; अधीष्व अधीयाथाम्, अधीध्वम्; अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै। विधि०—अधीयीत लुङ्—अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैषत। लृट्—अध्येष्यते। कर्म०—अधीयते क्त—अधीत। णिच्—अध्यापयति।

इध्, इन्ध् (जलाना)—७ आ०, लट्—इन्द्धे, इन्धते। लङ्—ऐन्ध। लो —इन्धाम्, इन्त्स्व, इनधै। विधि०—इन्धीत। लृट्—इन्धिष्यते। कर्म इध्यते। क्त—इद्ध।

इष् (चाहना)—६ प०, लट्—इच्छति। लङ्—ऐच्छत्। लिट्—इयेष ईषुः, इयेषिथ, इयेष, ईषिव। लुङ्—ऐषीत्। लृट् एषिष्यति। कर्म० इष्यते क्त—इष्ट। तुम्—एष्टुम्। णिच्—एषयति।

ईक्ष् (देखना)—१ आ०, लट्—ईक्षते। लङ्—ऐक्षत। लिट्—ईक्ष चक्रे। लुङ्—ऐक्षिष्ट। लृट्—ईक्षिष्यते। कर्म० ईक्ष्यते, लुङ्—ऐक्षि। क्त—ईक्षित। तुम्—ईक्षितुम्। णिच्—ईक्षयति।

उष् (जलाना)—१ प०, लट्—ओषति। लङ्—औषत्। लुङ्—औषीत् कर्म० उष्यते। क्त—उष्ट।

ऋ (जाना)—६ प०, लट्—ऋच्छति। लङ्—आर्च्छत्। लिट्—आर आरिथ; आर, आरिव। क्त—ऋत। णिच्—अर्पयति।

एध् (बढ़ना)—१ आ०, लट्—एधते। लङ्—ऐधत। लोट्—एधताम् विधि० एधेत। लिट्—एधामास। एधित। एधितुम्। एधयति। सन्—एदि धिषते।

कम् (चाहना, प्रेम करना)—आ०, लट्—प्रयोग नहीं होता। लिट्—चकमे, कामयांचक्रे। लृट्—कामयिष्यते। क्त—कान्त। णिच्—कामयते।

काश् (चमकना)—१ आ०, काशते। चकाशे। काशित। काशयति।

कृ (करना)—८ उ०, लट्—करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति; करोषि, कुरुथ कुरुथ; करोमि, कुर्वः, कुर्मः। लङ्—अकरोत्, अकुर्वन्; अकरोः; अकरव अकुर्व। लोट्—करोतु, कुर्वन्तु; कुरु; करवाणि, करवाव। विधि० कुर्यात् लिट्—चकार (१३८)। लुङ्—अकार्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्षुः; अकार्षी

अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट; अकार्षम्, अकार्ष्व, अकार्ष्म। लृट्—करिष्यति। लुट्—कर्ता। आत्मने० लट्—कुरुते, कुर्वते; कुरुषे, कुर्वे, कुर्वहे। लङ्—अकुरुत, अकुर्वत; अकुरुथाः, अकुर्वि, अकुर्वहि। लोट्—कुरुताम्, कुर्वताम्; कुरुष्व; करवै, करवावहै। विधि० कुर्वीत। लिट्—चक्रे (१३८)। लुङ्—अकृत, अकृषत; अकृथाः, अकृषि, अकृष्वहि। लृट्—करिष्यते। कर्म०—क्रियते, लुङ् अकारि। क्त—कृत। क्त्वा—कृत्वा, ० कृत्य। तुम्—कर्तुम्। णिच्—कारयति, लुङ्—अचीकरत्। सन्—चिकीर्षति।

कृत् (काटना),—६ प०, लट्—कृन्तति। लिट्—चकर्त। लृट्—कर्तिष्यति। कर्म० कृत्यते। क्त—कृत्त। णिच्—कर्तयति। सन्—चिकर्तिषति।

कृष् (खींचना)—१ प० कर्षति। (जोतना)—६ प०, कृषति। लिट् चकर्ष; चकर्षिथ; चकर्ष, चकर्षिव। लृट्—क्रक्ष्यति। कर्म० कृष्यते। क्त—कृष्ट। क्त्वा—कृष्ट्वा,० कृष्य। तुम्—क्रष्टुम्। णिच्—कर्षयति।

कॄ (फैलाना)—६ प०, किरति। लिट्—चकार। लृट्—करिष्यति। कर्म० कीर्यते। क्त—कीर्ण। ल्यप्—०कीर्य।

क्लृप् (समर्थ होना)—१ आ०, कल्पते। लिट्—चक्लृपे। लृट्—कल्पिष्यते। क्त—क्लृप्त। णिच्—कल्पयति, लुङ्—अचीक्लृपत्।

क्रम् (चलना)—१ उ०, क्रामति, क्रमते। लिट्—चक्राम, चक्रमे। लुङ् अक्रमीत्। लृट्—क्रमिष्यति०, ०ते। कर्म० क्रम्यते। क्त—क्रान्त। क्त्वा—क्रान्त्वा, ०क्रम्य। णिच्—क्रमयति, क्रामयति। सन्—चिक्रमिषति। यङ्—चङ्क्रम्यते, चङ्क्रमीति।

क्री (खरीदना)—९ उ०, क्रीणाति, क्रीणीते (१०२ में क्री धातु)। लिट्—चिक्राय। लृट्—क्रेष्यति,—ते। कर्म०—क्रीयते। क्रीत। क्रीत्वा० क्रीय। तुम्—क्रेतुम्। सन्—चिक्रीषते।

क्षन् (हिंसा करना)—८ उ०, क्षणोति, क्षणुते। क्त—क्षत।

क्षि (नष्ट करना)—५ प०—क्षिणोति। कर्म० क्षीयते। क्त—क्षित। णिच्—क्षययति, क्षपयति।

क्षिप् (फेंकना)—६ उ०—क्षिपति, ०ते। लोट्—क्षिपतु, क्षिपाणि; क्षिपताम्, क्षिपै। लिट्—चिक्षेप, चिक्षिपे। लृट्—क्षेप्स्यति, ०ते। कर्म० क्षिप्यते।

क्त—क्षिप्त । क्त्वा—क्षिप्त्वा—,०क्षिप्य । तुम्—क्षेप्तुम् । णिच्—क्षेपयति सन्—चिक्षिप्सति ।

क्षुभ् (क्षुब्ध होना)—४ उ०, लट्—क्षुभ्यति,—ते । लिट्—चुक्षोभ चुक्षुभे । क्त—क्षुब्ध, क्षुभित । णिच्—क्षोभयति,—ते ।

खन् (खोदना)—१ उ०, लट्—खनति,—ते । लिट्—चखान; चख्नुः लृट्—खनिष्यति । कर्म० खन्यते, खायते, क्त—खात । क्त्वा—खात्वा खनित्वा, ०खाय । तुम्—खनितुम् । णिच्—खानयति ।

खाद् (खाना)—१ प०, लट्—खादति । लिट्—चखाद । लृट्—खादिष्यति । कर्म० खाद्यते । क्त—खादित । णिच्—खादयति । सन्—चिखादिषति

ख्या (कहना)—२ प०, लट्—ख्याति । लोट्—ख्यातु, ख्याहि । लिट्—चख्यौ, चख्युः । लुङ्—अख्यत् । लृट्—ख्यास्यति । कर्म० ख्यायते । ख्यात ०ख्याय । ख्यातुम् । णिच्—ख्यापयति,—ते । सन्—चिख्यासति ।

गद् (कहना)—१ प०, गदति । लिट्—जगाद । गदिष्यति । गद्यते । गदित । गदितुम् । णिच्—गादयति । सन्—जिगदिषति । यङ्—जागद्यते ।

गम् (जाना)—१ प०, गच्छति । जगाम (१३८, ७) । लुङ्—अगमत् । लृट्—गमिष्यति । लुट्—गन्ता । कर्म० गम्यते । क्त—गत । त्वा—गत्वा, ०गम्य, ०गत्य । तुम्—गन्तुम् । णिच्—गमयति । सन्—जिगमिषति । यङ्—जङ्गम्यते, जङ्गन्ति ।

गाह् (घुसना)—१ आ०, गाहते । लिट्—जगाहे । लृट्—गाहिष्यते । कर्म० गाह्यते । क्त—गाढ, गाहित । ल्यप्—० गाह्य । णिच्—गाहयति ।

गुह् (छिपाना)—१ उ०, गूहति,—ते । लिट्—जुगूह । लुङ् अघुक्षत् । कर्म० गुह्यते । क्त—गूढ । ल्यप्—०गुह्य । तुम्—गूहितुम् । णिच्—गूहयति ।

गै (गाना)—१उ०, गायति, ०ते । लिट्—जगौ, जगे । लुङ्—अगासीत् । लृट्—गास्यति । कर्म० गीयते । क्त—गीत । क्त्वा—गीत्वा, ०गाय । गातुम् । णिच्—गापयति ।

ग्रथ्, ग्रन्थ् (बाँधना)—९ प०, ग्रथ्नाति । कर्म० ग्रथ्यते । क्त—ग्रथित । ल्यप्—०ग्रथ्य । णिच्—ग्रथयति, ग्रन्थयति ।

ग्रह् (लेना)—९उ०, गृह्णाति, गृह्णीते । लोट्—गृह्णातु, गृहाण । लिट्—

जग्राह, जगृहे। लुङ्—अग्रहीत्, अग्रहीष्ट। लृट्—ग्रहीष्यति, ०ते। लुट्—ग्रहीता। कर्म० गृह्यते। गृहीत। क्त्वा—गृहीत्वा, ०गृह्य। तुम्—ग्रहीतुम्। णिच्—ग्राहयति,० ते; लुङ्—अजिग्रहत्। सन्—जिघृक्षति, ०ते।

ग्लै (खिन्न होना)—१ प०, ग्लायति। क्त—ग्लान। णिच्—ग्लापयति, ग्लपयति।

घुष् (शब्द करना)—१ उ०, घोषति,० ते। कर्म० घुष्यते। क्त—घुष्ट। ल्यप्—०घुष्य। णिच्—घोषयति।

घ्रा (सूँघना)—१ प०, जिघ्रति। लिट्—जघ्रौ। कर्म० घ्रायते। क्त—घ्रात। णिच्—घ्रापयति।

चक्ष् (कहना)—२ आ०, लट्—चष्टे, चक्षते; चक्षे, चड्ढ्वे; चक्षे, चक्ष्महे। लिट्—चचक्षे। लृट्—चक्ष्यते। ल्यप्—०चक्ष्य। तुम्—चष्टुम्। णिच्—चक्षयति।

चर् (चलना)—१ प०, चरति। लिट्—चचार, प्र०३ चेरुः; चचर्थ। लृट्—चरिष्यति। कर्म० चर्यते। चरितुम्। क्त—चरित। क्त्वा—चरित्वा, ल्यप्—०चर्य। णिच्—चारयति, लुङ्—अचीचरत्

चल् (चलना)—१ प०, चलति। लिट्—चचाल, प्र० ३ चेलुः। लृट्—चलिष्यति। क्त—चलित। तुम्—चलितुम्। णिच्—चलयति, चालयति। सन्—चिचलिषति।

चि (इकट्ठा करना, चुनना)—५उ०, चिनोति, चिनुते। लिट्—चिकाय, चिक्ये। लृट्—चेष्यति, ०ते। लुट्—चेता। कर्म० चीयते। क्त—चित। क्त्वा—चित्वा, ०चित्य। तुम्—चेतुम्। णिच्—चाययते। सन्—चिकीषते, चिचीषति।

चिन्त् (सोचना)—१० प०, चिन्तयति। लिट्—चिन्तयामास। कर्म० चिन्त्यते। क्त—चिन्तित। क्त्वा—चिन्तयित्वा, ०चिन्त्य।

चुर् (चुराना)—१० प०, चोरयति। लिट्—चोरयांचकार। लुङ्—अचुचूरत्। कर्म० चोर्यते। क्त—चोरित।

छिद् (काटना)—७ उ०, छिनत्ति, छिन्दन्ति। लिट्—चिच्छेद, चिच्छिदे। लुङ्—अच्छिदत्, अच्छैत्सीत्। लृट्—छेत्स्यति, ०ते। कर्म० छिद्यते। क्त—छिन्न। क्त्वा—छित्त्वा, ०छिद्य। तुम्—छेत्तुम्। णिच्—छेदयति।

जन् (पैदा होना)—४ आ०, जायते। लिट्—जज्ञे। लुङ्—अजनिष्ट। लृट्—जनिष्यते। लुट्—जनिता। क्त—जात। णिच्—जनयति, ०ते; लुङ्—अजीजनत्। सन्—जिजनिषते।

जागृ (जागना)—२ प० (१३४ अ ४) लट्—जागर्ति, जागृतः, जाग्रति। लङ्—अजागः, अजागृताम्, अजागरुः, अजागः; अजागरम्। लोट्—जागर्तु, जागृहि, जागराणि। लिट्—जजागार, जागरामास। लृट्—जागरिष्यति। क्त—जागरित। णिच्—जागरयति।

जि (जीतना)—१ प० (वि और परा के साथ आ०) जयति। लिट्—जिगाय, जिग्युः; जिग्यिव। लुङ्—अजैषीत्। लृट्—जेष्यति। कर्म० जीयते। क्त—जित। क्त्वा—जित्वा०, ०जित्य। तुम्—जेतुम्। णिच्—जापयति। सन्—जिगीषति।

जीव् (जीवित होना)—१ प०, जीवति। लिट्—जिजीव, जिजीवुः। लुङ्—अजीवीत्। लृट्—जीविष्यति। कर्म० जीव्यते। क्त—जीवित। ल्यप्—०जीव्य। तुम्—जीवितुम्। णिच्—जीवयति। सन्—जिजीविषति।

जॄ (वृद्ध होना)—४ प०, जीर्यति। लिट्—जजार। कर्म० जीर्यते। क्त—जीर्ण। णिच्—जरयति।

ज्ञा (जानना)—९ उ०, जानाति, जानीते। लिट्—जज्ञौ, जज्ञे। लुङ्—अज्ञासीत्। लृट्—ज्ञास्यति। लुट्—ज्ञाता। कर्म० ज्ञायते; लुङ्—अज्ञायि। क्त—ज्ञात। क्त्वा—ज्ञात्वा, ०ज्ञाय। तुम्—ज्ञातुम्। णिच्—ज्ञापयति, ०ते; ज्ञपयति, ०ते। क्त—ज्ञापित, ज्ञप्त। सन्—जिज्ञासते।

तन् (फैलाना)—८ उ०, तनोति, तनुते। लिट्—ततान, तेने। कर्म० तन्यते, तायते। क्त—तत। क्त्वा—तत्वा, ०त्य, ०ताय। णिच्—तानयति।

तप् (तपाना)—१ उ०, तपति०, ०ते; तप्यति, ०ते। लिट्—तताप, तेपे। लृट्—तप्स्यति। कर्म० तप्यते। क्त—तप्त। क्त्वा—तप्त्वा, ०तप्य। तुम्—तप्तुम्। णिच्—तापयति।

तुद् (चोट मारना)—६ उ०, तुदति, ०ते। लिट्—तुतोद। कर्म० तुद्यते। क्त—तुन्न। णिच्—तोदयति।

तृप् (तृप्त होना)—४ प०, तृप्यति। लिट्—ततर्प, ततृपिव। क्त—तृप्त। णिच्—तर्पयति। लुङ्—अतीतृपत्।

तॄ (तैरना, पार करना)—१ प० या ६ आ० तरति, तिरते । लिट्—ततार, तेरुः । लुङ्—अतार्षीत्, अतारीत् । लृट्—तरिष्यति०, ते । क्त—तीर्ण । क्त्वा—तीर्त्वा, ०तीर्य । तुम्—तर्तुम्, तरीतुम्, तरितुम् । णिच्—तारयति, ०ते । सन्—तितीर्षति ।

त्यज् (छोड़ना)—१ उ०, त्यजति, ०ते । लिट्—तत्याज, तत्यजे । लुङ्—अत्याक्षीत् । लृट्—त्यक्ष्यति, ०ते,—त्यजिष्यति, ०ते । कर्म० त्यज्यते । क्त—त्यक्त । त्वा—त्यक्त्वा, ०त्यज्य । णिच्—त्याजयति । सन्—तित्यक्षति ।

त्रस् (काँपना)—१ प०, ४ उ०, त्रसति, त्रस्यति, ०ते । लिट्—तत्रास, तत्रसुः, त्रेसुः । लृट्—त्रसिष्यति । क्त—त्रस्त । णिच्—त्रासयति ।

त्वर् (शीघ्रता करना)—१आ०, त्वरते । लिट्—तत्वरे । क्त—त्वरित । णिच्—त्वरयति ।

दंश् (काटना)—१ प०, दशति । लिट्—ददंश । लृट्—दशिष्यति । कर्म०—दश्यते । क्त—दष्ट । त्वा—दंष्ट्वा, ०दश्य । णिच्—दंशयति ।

दह् (जलाना)—१ प०, दहति । लिट्—ददाह, देहिथ—ददग्ध । म० १; लुङ्—अधाक्षीत् । लृट्—धक्ष्यति । कर्म०—दह्यते । क्त—दग्ध । त्वा—दग्ध्वा, ०दह्य । तुम्—दग्धुम् । णिच्—दाहयति । सन्—दिधक्षति ।

दा (देना)—३ उ०, ददाति, दत्ते । लिट्—ददौ, ददे । लुङ्—अदात्; अदित, प्र० ३ अदिषत । लृट्—दास्यति, ०ते । लुट्—दाता । दीयते । दत्त । त्वा—दत्त्वा, ०दाय । णिच्—दापयति । सन्—दित्सति ।

दिव् (खेलना, जुआ खेलना)—४ प०, दीव्यति । लुङ्—अदेवीत् । लृट्—देविष्यति । क्त—द्यूत । तुम्—देवितुम् । णिच्—देवयति ।

दिश् (बताना, कहना)—६ उ०, दिशति, ०ते । लिट्—दिदेश, दिदिशे । लुङ्—अदिक्षत् । लृट्—देक्ष्यति, ०ते । कर्म०—दिश्यते । क्त—दिष्ट । ल्यप्—०दिश्य । तुम्—देष्टुम् । णिच्—देशयति । सन्—दिदिक्षति ।

दिह् (लीपना)—२ उ०, लट्—देग्धि, दिग्धः, दिहन्ति । धेक्षि, दिग्धः, दिग्ध । देह्मि, दिह्वः, दिह्मः । आ० दिग्धे, दिहाते, दिहते । धिक्षे, दिहाथे, धिग्ध्वे । दिहे, दिह्वहे, दिह्महे । लङ्—अधेक्, अदिग्धाम्, अदिहन् । अधेक्, अदिग्धम्, अदिग्ध । अदेहम्, अदिह्व, अदिह्म । आ० अदिग्ध, अदिहाताम्,

अदिहत । अदिग्धाः, अदिहाथाम्, अधिग्ध्वम् । अदिहि, अदिह्वहि, अदिह्महि । लोट्—देग्धु, दिग्धाम्, दिहन्तु । दिग्धि, दिग्धम्, दिग्ध । देहानि, देहाव, देहाम । आ० दिग्धाम्, दिहाताम्, दिहताम् । धिक्ष्व, दिहाथाम्, धिग्ध्वम् । देहै, देहावहै, देहामहै । विधि० दिह्यात्, आ० दिहीत । लिट्—दिदेह, आ० दिदिहे । कर्म० दिह्यते । क्त—दिग्ध । ल्यप्—०दिह्य । णिच्—देहयति ।

दुह् (दुहना)—२ उ०, दिह् के तुल्य । लट्—दोग्धि । लङ्—अधोक् । लोट्—दोग्धु । विधि० दुह्यात् । लिट्—दुदोह, दुदुहे । लुङ्—अधुक्षत्, अधुक्षत । लृट्—धोक्ष्यते । कर्म—दुह्यते । क्त—दुग्ध । त्वा—दुग्ध्वा । तुम्—दोग्धुम् । णिच्—दोहयति, लुङ्—अदूदुहत् । सन्—दुधुक्षति ।

दृश् (देखना)—१ प०, पश्यति । लिट्—ददर्श, ददृशुः । लुङ्—अद्राक्षीत्, अदर्शत् । लृट्—द्रक्ष्यति । लुट्—द्रष्टा । कर्म०—दृश्यते । क्त—दृष्ट । त्वा—दृष्ट्वा, ०दृश्य । द्रष्टुम् । णिच्—दर्शयति । लुङ्—अदीदृशत् । सन्—दिदृक्षते ।

द्युत् (चमकना)—१ आ० द्योतते । लिट्—दिद्युते । लुङ्—अद्युतत् । णिच्—द्योतयति ।

द्रु (दौड़ना)—१ प०, द्रवति । लिट्—दुद्राव, दुद्रोथ, दुद्रुव, उ०२ । लुङ्—अदुद्रुवत् । क्त—द्रुत । ०द्रुत्य । तुम्—द्रोतुम् । णिच्—द्रावयति ।

द्रुह् (द्रोह करना)—४ प०, द्रुह्यति । लिट्—दुद्रोह, दुद्रोहिथ, दुद्रुहिव, उ० २ । लुङ्—अद्रुहत् । क्त—द्रुग्ध ।

द्विष् (द्वेष करना)—२ उ०, द्वेष्टि (४.१३२, द्विष् के रूप) । क्त—द्विष्ट । द्वेष्टुम् । द्वेषयति ।

धा (रखना)—३ उ०, दधाति, धत्तः, दधति । आ० धत्ते, दधाते, दधते । लङ्—अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः । आ०, अधत्त, अदधाताम्, अदधत । लोट्—दधातु, धत्ताम्, दधतु; धेहि । दधानि । आ० धत्ताम्, दधाताम्, दधताम्; धत्स्व, दधै । विधि० दध्यात्, दधीत । लिट्—दधौ, दधे । लुङ्—अधात्, अधित । लृट्—धास्यति, ०ते । कर्म० धीयते, लुङ्—अधायि । क्त—हित । ल्यप्—०धाय । तुम्—धातुम् । णिच्—धापयति । सन्—धित्सति ।

धाव् (दौड़ना, धोना)—१ उ०, धावति, ०ते । लिट्—दधाव । कर्म० धाव्यते । क्त—धावित (दौड़ा), क्त—धौत (धोया) । कर्म० धावयति ।

धू (हिलाना)—५ उ०, ६ उ, धुनोति, धुनुते ; धुनाति, धुनीते। लिट्—दुधाव। लृट्—धविष्यति। कर्म० धूयते। क्त—धूत। णिच्—धूनयति। यङ्—दोधूयते, यङ्लुक्—दोधवीति।

धृ (धारण करना)—वर्तमान वाले रूप नहीं होते)। लिट्—दधार, दध्रे। धरिष्यति, ०ते। ध्रियते। धृत। धृत्वा। धर्तुम्। णिच्—धारयति, ०ते, लुङ्—अदीधरत्।

ध्मा (फूंकना, साँस से फूंककर बजाना) १ प०, धमति। लिट्—दध्मौ। लुङ् अध्मासीत्। कर्म० धम्यते, ध्मायते। क्त—ध्मात। ल्यप्—०ध्माय। णिच्—ध्मापयति।

नद् (शब्द करना, अस्पष्ट ध्वनि करना)—१ प० नदति। लिट्—ननाद, नेदतुः, नेदुः, नेदिथ। क्त—नदित। णिच्—नदयति, नादयति। यङ्—नानद्यते।

नम् (झुकना)—१ प०, नमति। लिट्—ननाम, नेमतुः, नेमुः। लुङ्—अनंसीत्। नंस्यति। कर्म० नम्यते। क्त—नत। त्वा—नत्वा, ०नम्य। तुम्—नमितुम्, नन्तुम्। णिच्—नमयति, नामयति, लुङ्—अनीनमत्। सन्—निनंसति।

नश् (नष्ट होना)—४ प०, नश्यति। लिट्—ननाश, नेशुः। लुङ्—अनशत्। लृट्—नशिष्यति, नङ्क्ष्यति। क्त—नष्ट। णिच्—नाशयति, लुङ्—अनीनशत्।

नह् (बाँधना)—४ उ०, नह्यति, ०ते। कर्म० नह्यते। क्त—नद्ध। ल्यप्—०नह्य। णिच्—नाहयति।

नी (ले जाना)—१ उ०, नयति, ०ते। लिट्—निनाय (४.१३८)। लुङ्—अनैषीत्। लृट्—नेष्यति। लुट्—नेता। कर्म० नीयते। क्त—नीत। त्वा—नीत्वा, ०नीय। नेतुम्। णिच्—नाययति। सन्—निनीषति, ०ते। यङ्—नेनीयते।

नृत् (नाचना)—४ प०, नृत्यति। लिट्—ननर्त, ननृतुः। लृट्—नर्तिष्यति। कर्म० नृत्यते। क्त—नृत्त। णिच्—नर्तयति। सन्—निनर्तिषति। यङ्—नरीनृत्यते। यङ्लुक्—नरीनर्ति।

पच् (पकाना)—१ उ०, पचति, ०ते। लिट्—पपाच, पेचे। लृट्—

पक्ष्यति । कर्म० पच्यते । क्त—पक्व (विशेषण) । त्वा—पक्त्वा । णिच्—पाचयति । यङ्—पापच्यते ।

पत् (गिरना)—१ प०, पतति । लिट्—पपात, पेतुः । लुङ्—अपप्तत् । लृट्—पतिष्यति । क्त—पतित । तुम्—पतितुम् । त्वा—पतित्वा, ०पत्य । णिच्—पातयति । सन्—पित्सति ।

पद् (जाना)—४ आ०, पद्यते । लिट्—पेदे । लुङ्—अपादि । लृट्—पत्स्यते । क्त—पन्न । ल्यप्—०पद्य । तुम्—पत्तुम् । णिच्—पादयते । सन्—पित्सते । यङ्—पनीपद्यते ।

पा (पीना)—१ प०, पिबति । लिट्—पपौ, पपुः, पपिथ—पपाथ । लुङ्—अपात् । पास्यति । कर्म०—पीयते, लुङ्—अपायि । क्त—पीत । त्वा—पीत्वा, ०पाय । तुम्—पातुम् । णिच्—पाययति । सन्—पिपासति । यङ्—पेपीयते ।

पा (रक्षा करना)—२प०, पाति । लुङ्—अपासीत् । तुम्—पातुम् ।

पुष् (पुष्ट होना)—४ प०, ९प०, पुष्यति, पुष्णाति । लिट्—पुपोष । कर्म० पुष्यते । क्त—पुष्ट । णिच्—पोषयति ।

पू (पवित्र करना)—९ उ०, पुनाति, पुनीते । लिट्—पुपाव, पुपुवे । कर्म० पूयते । क्त—पूत । ल्यप्—०पूय । णिच्—पावयति ।

पॄ (पूर्) (भरना)—३ प०, पिपर्ति, पिप्रति । लिट्—(पपार), पुपूरे । कर्म० पूर्यते । क्त—पूर्त, पूर्ण । ल्यप्—०पूर्य । णिच्—पूरयति ।

प्रछ् (पूछना)६प०, पृच्छति । लिट्—पप्रच्छ, पप्रच्छुः । लुङ्—अप्राक्षीत्, अप्रष्ट । लृट्—प्रक्ष्यति । कर्म०—पृच्छ्यते । क्त—पृष्ट । त्वा—पृष्ट्वा, ०पृच्छ्य । तुम्—प्रष्टुम् । सन्—पिपृच्छिषति ।

प्री (प्रसन्न करना)—९ उ०, प्रीणाति, प्रीणीते । लुङ्—अप्रैषीत् । क्त—प्रीत । णिच्—प्रीणयति ।

फल् (फलना)—१ प०, फलति । लिट्—पफाल । क्त—फलित, फुल्ल । णिच्—फालयति ।

बन्ध् (बाँधना)—९प०, बध्नाति । लिट्—बबन्ध, बबन्धिथ—बबन्द्ध, बबन्ध । लृट्—भन्त्स्यति । कर्म० बध्यते । क्त—बद्ध । त्वा—बद्ध्वा, ०बध्य । तुम्—बन्द्धुम् । णिच्—बन्धयति ।

बुध् (जानना)—१ उ०, ४ आ०, बोधति, ०ते, बुध्यते। लिट्—बुबुधे। लुङ्—अबुद्ध, अबुद्धाः, अभुत्सि; अबोधीत, अबोधिषम् (१४५ क)। लृट्—भोत्स्यते। कर्म० बुध्यते। क्त—बुद्ध। त्वा—बुद्ध्वा, ०बुध्य। तुम्—बोद्धुम्। णिच्—बोधयति। सन्—बुभुत्सते।

ब्रू (कहना)—२ उ०, ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति। ब्रवीषि, ब्रूथः, ब्रूथ। ब्रवीमि, ब्रूवः ब्रूमः। आ० ब्रूते, ब्रुवते। लङ्—अब्रवीत्, अब्रूताम्, अब्रुवन्; अब्रवीः, अब्रवम्। लोट्—ब्रवीतु, ब्रूताम्, ब्रुवन्तु। ब्रूहि, ब्रूतम्, ब्रवाणि, ब्रवाव, ब्रवाम। विधि०—ब्रूयात्। अन्य स्थानों पर 'वच्' के रूप चलते हैं।

भक्ष् (खाना)— १ प०, भक्षति। कर्म० भक्ष्यते, लुङ्—अभक्षि। क्त—भक्षित। तुम्—भक्षितुम्। णिच्—भक्षयति।

भज् (बाँटना)—१ उ०, भजति, ०ते। लिट्—बभाज, भेजुः, बभक्थ; भेजे। लुङ्—अभाक्षीत्, अभक्त। लृट्—भजिष्यति, ०ते। कर्म० भज्यते। भक्त। त्वा—भक्त्वा, ०भज्य। तुम्—भक्तुम्। णिच्—भाजयति, ०ते। सन्—भिक्षति, ०ते।

भञ्ज् (तोड़ना)—७ प०, भनक्ति। अभनक्। भनक्तु। भञ्ज्यात्। लिट्—बभञ्ज। लुङ्—अभाङ्क्षीत्। लृट्—भङ्क्ष्यति। लुट्—भङ्क्ता। कर्म० भज्यते। लुङ्—अभाजि। क्त—भग्न। त्वा—भङ्क्त्वा, ०भज्य।

भा (चमकना)—२ प०, भाति, भान्ति। लङ्—अभात्, अभान्—अभुः। लिट्—बभौ। लृट्—भास्यति। क्त—भात।

भाष् (कहना)—१ आ०, भाषते। लिट्—बभाषे। लुङ्—अभाषिष्ट। लृट्—भाषिष्यते। कर्म० भाष्यते। क्त—भाषित। त्वा—भाषित्वा, ०भाष्य। तुम्—भाषितुम्। णिच्—भाषयति, ०ते।

भिद् (तोड़ना, फाड़ना)—७ उ०, भिनत्ति, भिन्ते। लिट्—बिभेद, बिभिदे, लृट्—भेत्स्यति, ०ते। कर्म० भिद्यते। क्त—भिन्न। क्त्वा—भित्वा, ०भिद्य। तुम्—भेत्तुम्। णिच्—भेदयति।

भी (डरना)—३ प०, बिभेति, बिभ्यति। लङ्—अबिभेत्, अबिभयुः। लिट्—बिभाय। लुङ्—अभैषीत्। कर्म० भीयते। भीत। भेतुम्। णिच्—भाययति, भीषयते। यङ्—बेभीयते।

भुज् (भोगना, उपभोग करना)—७ उ०, भुनक्ति, भुङ्क्ते। लिट्—बुभुजे। लृट्—भोक्ष्यति, ०ते। कर्म० भुज्यते। क्त—भुक्त। त्वा—भुक्त्वा। तुम्—भोक्तुम्। णिच्—भोजयति,०ते। सन्—बुभुक्षते। यङ्—बोभुज्यते। यङ्लुक्—बोभुजीति।

भू (होना)—१ उ०, भवति, ०ते (४.१३२)। बभूव (१३९, ७)। अभूत् (१४८,२)। भविष्यति। भविता (१५२)। भूयते (१५४)। कर्म० लुङ्—अभावि। क्त—भूत। त्वा—भूत्वा, ०भूय। तुम्—भवितुम्। णिच्—भावयति, ०ते। सन्—बुभूषति, ०ते। यङ्लुक्—बोभवीति।

भृ (ले जाना)—३ प० (१ उ० भी भरति, ०ते) बिभर्ति, बिभ्रति। लोट्—बिभर्तु, बिभृहि, बिभराणि। लिट्—बभार, बभर्थ, बभृव, बिभरांबभूव। लृट्—भरिष्यति। कर्म० भ्रियते। क्त—भृत। ल्यप्—०भृत्य। तुम्—भर्तुम्। णिच्—भारयति। सन्—बुभूर्षति। यङ्लुक्—बरीभर्ति।

भ्रज्ज् (भूनना)—६ प०, भृज्जति। कर्म० भृज्ज्यते। क्त—भृष्ट। त्वा—भृष्ट्वा। णिच्—भर्ज्जयति।

भ्रम् (घूमना)—४ प०, १ उ०, भ्राम्यति, भ्रमति, ०ते। लिट्—बभ्राम, बभ्रमुः—भ्रेमुः (१३९)। लृट्—भ्रमिष्यति। क्त—भ्रान्त। त्वा—भ्रान्त्वा, ०भ्रम्य, ०भ्राम्य। तुम्—भ्रमितुम्, भ्रान्तुम्। णिच्—भ्रामयति, भ्रमयति, यङ्—बम्भ्रम्यते, बम्भ्रमीति।

मज्ज् (डूबना)—१ प०, मज्जति। लिट्—ममज्ज। लुङ्—अमाङ्क्षीत्। लृट्—मङ्क्ष्यति। क्त—मग्न। ०मज्ज्य। तुम्—मज्जितुम्। मज्जयति। सन्—मिमङ्क्षति।

मद् (प्रसन्न होना)—४ प०, माद्यति। लुङ्—अमादीत्। क्त—मत्त। णिच्—मादयति, मदयति।

मन् (सोचना)—४ आ०, ८ आ०, मन्यते, मनुते। लिट्—मेने। लुङ्—अमंस्त। लृट्—मंस्यते। कर्म० मन्यते। क्त—मत। त्वा—मत्वा, ०मन्य, ०मत्य। तुम्—मन्तुम्। णिच—मानयते। सन्—मीमांसते।

मन्थ् (मथना)—१ प०, ९ प०, मथति (मन्थति), मथ्नाति। लिट्—ममन्थ, ममन्थिथ। लृट्—मन्थिष्यति। कर्म० मथ्यते। क्त—मथित। ल्यप्—०मथ्य। णिच्—मन्थयति।

मा (मापना)—२ प०, ३ आ०, माति, मिमीते। लिट्—ममौ, ममे। कर्म० मीयते, लुङ्—अमायि। क्त—मित। क्त—मित। त्वा—मित्वा, ०माय। तुन्—मातुम्। णिच्—मापयति। सन्—मित्सति।

मुच् (छोड़ना)—६ उ०, मुञ्चति, ०ते। लिट्—मुमोच, मुमुचे। लुङ्—अमुचत्, अमुक्त। लट्—मोक्ष्यति, ०ते। कर्म० मुच्यते। मुक्त। मुक्त्वा, ०मुच्य। मोक्तुम्। णिच्—मोचयति, ते, लुङ्—अमूमुचत्। सन्—मुमुक्षति, मोक्षते।

मुह् (किंकर्तव्यविमूढ़ होना)—४ प०, मुह्यति। लिट्—मुमोह, मुमोहिथ — मुमोग्ध—मुमोढ। क्त—मुग्ध—मूढ। णिच्—मोहयति। यङ्—मोमुह्यते।

मृ (मरना)—पर०, (वर्तमान के रूप नहीं)। लिट्—ममार, ममर्थ, मम्रिव। लृट्—मरिष्यति। कर्म० म्रियते। क्त—मृत। त्वा—मृत्वा। तुम्—मर्तुम्। णिच्—मारयति, लुङ्—अमीमरत्। सन्—मुमूर्षति। यङ् लुक्—मरीमर्ति।

मृज् (स्वच्छ करना)—२ प०, मार्ष्टि, मृष्टः, मृजन्ति। लङ्—अमार्ट्, अमृष्टाम्, अमृजन्। लोट्—मार्ष्टु, मृष्टाम्, मृजन्तु, मृड्ढि, मार्जानि। विधि० मृज्यात्। लिट्—ममार्ज, ममृजुः। लुङ्—अमार्जीत्, अमार्क्षीत्, अमृक्षत्। लृट्—मार्क्ष्यति। कर्म० मज्यते। क्त—मृष्ट। ल्यप्—०मार्ज्य, ०मृज्य। तुम्—मार्ष्टुम्, मार्ष्टुम्, मार्जितुम्। णिच्—मार्जयति। यङ्—मर्मृज्यते।

म्ना (वर्णन करना)—१ प०, मनति। लुङ्—अम्नासीत्। कर्म० म्नायते। क्त—म्नात।

म्लै (मुरझाना)—१ प०, म्लायति। लिट्—मम्लौ। लुङ्—अम्लासीत्। क्त—म्लान। णिच्—म्लापयति, म्लपयति।

यज् (पूजा करना)—१ उ०, यजति, ०ते। लिट्—इयाज, ईजे। लुङ्—अयाक्षीत्, अयष्ट। लृट्—यक्ष्यति। कर्म० इज्यते। क्त—इष्ट। त्वा—इष्ट्वा। तुम्—यष्टुम्। णिच्—याजयति। सन्—यियक्षति।

यम् (रोकना)—१ प०, यच्छति। लिट्—ययाम, येमुः, ययन्थ। लृट्—यमिष्यति। कर्म० यम्यते। क्त—यत। त्वा—यत्वा, यम्य०। तुम्—यन्तुम्, यमितुम्। णिच्—यमयति, यामयति।

या (जाना)—२ प०, याति। लङ्—अयात्, अयान्—अयुः। लोट्—यातु। विधि० यायात्। लिट्—ययौ। लुङ्—अयासीत्। लृट्—यास्यति। लुट्—याता। कर्म० यायते। क्त—यात। त्वा—यात्वा, ०याय। तुम्—यातुम्। णिच्—यापयति। सन्—यियासति।

यु (मिलाना)—२ प०, यौति, युवन्ति। लङ्—अयौत्, अयुवन्। लोट्—यौतु, युवन्तु। विधि० युयात्। क्त—युत।

युज् (मिलाना)—७ उ०, युनक्ति, युङ्क्ते। लिट्—युयोज, युयुजे। लुङ्—अयुजत्, अयुक्त। लृट्—योक्ष्यति, ०ते। कर्म० युज्यते। युक्त। युक्त्वा, ०युज्य। योक्तुम्। णिच्—योजयति, ०ते; लुङ्—अयूयुजत्। सन्—युयुक्षति।

रक्ष् (रक्षा करना)—१ उ०, रक्षति, ०ते। लिट्—ररक्ष। लुङ्—अरक्षीत्। रक्षिष्यति, रक्षिता। कर्म० रक्ष्यते। क्त—रक्षित। ल्यप्—०रक्ष्य। तुम्—रक्षितुम्। णिच्—रक्षयति।

रञ्ज् (रँगना)—४ प०, रज्यति। कर्म० रज्यते। क्त—रक्त। ल्यप्—०रज्य। णिच्—रञ्जयति।

रभ् (पाना) (आ—रभ्—आरम्भ करना)—१ आ०, रभते। लिट्—रेभे। लृट्—रप्स्यते। कर्म० रभ्यते, लुङ्—अरम्भि। क्त—रब्ध। ल्यप्—०रभ्य। तुम्—रब्धुम्। णिच्—रम्भयति। सन्—रिप्सते।

रम् (क्रीडा करना)—१ आ० (सकर्मक होने पर परस्मैपदी है), रमते। लिट्—रेमे। लुङ्—अरंसीत्। लृट्—रंस्यते। तुम्—रन्तुम्। क्त—रत। त्वा—रत्वा, ०रम्य। कर्म० रम्यते। णिच्—रमयति। सन्—रिरंसते।

राज् (चमकना)—१ उ०, राजति, ०ते। रराज, रेजे। राजयति।

रु (चिल्लाना)—२ प०, रौति, रुतः, रुवन्ति। लिट्—रुराव, रुरुवुः। क्त—रुत। तुम्—रोतुम्। णिच्—रावयति, लुङ्—अरूरुवत्। यङ्—रोरूयते; रोरवीति।

रुद् (रोना)—२प०, रोदिति, रुदन्ति। लङ्—अरोदीत्—अरोदत्, अरुदन्, अरोदीः—अरोदः, अरोदम्, अरुदिव। लोट्—रोदितु, रुदन्तु, रुदिहि, रोदानि, रोदाव। विधि० रुद्यात्। लिट्—रुरोद। लुङ्—अरुदत्। लृट्—रोदि-

ष्यति। कर्म० रुद्यते। क्त—रुदित। त्वा—रुदित्वा, ०रुद्य। तुम्—रोदितुम्। णिच्—रोदयति। सन्—रुरुदिषति। रोरुद्यते।

रुध् (रोकना)—७ उ०, रुणद्धि, रुन्द्धे (१३२, रुध्)। लिट्—रुरोध, रुरुधे। लुङ्—अरुधत्—अरौत्सीत्, अरुद्ध। लृट्—रोत्स्यति। कर्म० रुध्यते। क्त—रुद्ध। त्वा—रुद्ध्वा, ०रुध्य। तुम्—रोद्धुम्। णिच्—रोधयति। सन्—रुरुत्सति।

रुह् (उगना, उत्पन्न होना)—१ प०, रोहति। लिट्—रुरोह। लुङ्—अरुक्षत्—अरुहत्। लृट्—रोक्ष्यति। कर्म० रुह्यते। क्त—रूढ। ल्यप्—०रुह्य। तुम्—रोढुम्। णिच्—रोहयति, रोपयति। सन्—रुरुक्षति।

लभ् (पाना)—१ आ०, लभते। लिट्—लेभे। लृट्—लप्स्यते। कर्म० लभ्यते। क्त—लब्ध। त्वा—लब्ध्वा, ०लभ्य। णिच्—लम्भयति। सन्—लिप्सते।

लिख् (लिखना)—६ प०, लिखति। लिट्—लिलेख। कर्म० लिख्यते। क्त—लिखित। त्वा—लिखित्वा, ०लिख्य। णिच्—लेखयति।

लू (काटना)—९ उ०, लुनाति, लुनीते। लिट्—लुलाव, लुलुवे। क्त—लून।

वच् (कहना)—२ प०, वक्ति, वक्तः, (वदन्ति)। वक्षि, वक्थः, वक्थ। वच्मि, वच्वः, वच्मः। लङ्—अवक्, अवक्ताम्, (अवदन्)। अवक्, अवक्तम्, अवक्त। अवचम्, अवच्व, अवच्म। लोट्—वक्तु, वग्धि, वचानि, वचाव। विधि० वच्यात्। लिट्—उवाच, ऊचुः। लुङ्—अवोचत्। लृट्—वक्ष्यति। लुट्—वक्ता। कर्म० उच्यते, लुङ्—अवाचि। उक्त। उक्त्वा, ०उच्य। वक्तुम्। णिच्—वाचयति। सन्—विवक्षति।

वद् (कहना)—१ प०, वदति। लिट् उवाद, ऊदुः। लुङ्—अवादीत्। लृट्—वदिष्यति। कर्म० उद्यते। क्त—उदित। उदित्वा, ०उद्य। तुम्—वदितुम्। णिच्—वादयति। सन्—विवदिषति।

वप् (बोना)—१ प०, वपति। लिट्—उवाप, ऊपुः, उवपिथ—उवप्थ। लुङ्—अवाप्सीत्। लृट्—वप्स्यति, वपिष्यति। कर्म० उप्यते। क्त—उप्त। णिच्—वापयति।

वश् (चाहना)—२ प०, वष्टि, उशन्ति, वक्षि, वश्मि, उश्वः। लङ्—

अवट्, अवट्, अवशम्, औश्व । लोट्—वष्टु, उड्ढि, वशानि । विधि० उश्यात् । णिच्—वशयति ।

वस् (रहना)—१ प०, वसति। लिट्—उवास, ऊषुः। लुङ्—अवात्सीत्। लृट्—वत्स्यति। कर्म० उष्यते। क्त—उषित। त्वा—उषित्वा, ०उष्य। तुम्—वस्तुम्। णिच्—वासयति।

वस् (पहनना)—२ आ०, वस्ते। लिट्—ववसे। क्त—वसित। त्वा, वसित्वा, ०वस्य। तुम्—वसितुम्। णिच्—वासयति।

वह् (ढोना)—१ उ०, वहति, ०ते। लिट्—उवाह, ऊहुः। लुङ्—अवाक्षीत्। लृट्—वक्ष्यति। कर्म० उह्यते, लुङ्—अवाहि। क्त—ऊढ। ल्यप्—०उह्य। तुम्—वोढुम्। णिच्—वाहयति। यङ्लुक्—वावहीति।

विद् (जानना)—२ प०, वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। वेत्सि, वित्थः, वित्थ। वेद्मि, विद्वः, विद्मः। लङ्—अवेत्, अवित्ताम्, अविदन्—अविदुः। अवेः—अवेत्, अवित्तम्, अवित्त। अवेदम्, अविद्व, अविद्म। लोट्—वेत्तु वित्ताम्, विदन्तु। विद्धि, वित्तम्, वित्त। वेदानि, वेदाव, वेदाम। विधि०—विद्यात्। लिट्—विवेद, विदांचकार। लुङ्—अवेदीत्। लृट्—वेदिष्यति। कर्म० विद्यते। क्त—विदित। त्वा—विदित्वा। तुम्—वेदितुम्। वेदयति। विविदिषति। लट् अर्थ में लिट्—वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्व, विद्म (१३९.३)।

विद् (पाना)—६ उ०, विन्दति, ०ते। विवेद, विविदे। लुङ्—अविदत्, अविदत। वेत्स्यति, ०ते। कर्म० विद्यते (है)। क्त—वित्त—विन्न। त्वा—वित्त्वा, ०विद्य। तुम्—वेत्तुम्। णिच्—वेदयति। सन्—विवित्सति।

विश् (प्रवेश करना)—६ प०, विशति। लिट्—विवेश। लुङ्—अविक्षत्। लृट्—वेक्ष्यति। कर्म० विश्यते, लुङ्—अवेशि। क्त—विष्ट। ०विश्य। तुम्—वेष्टुम्। णिच्—वेशयति, लुङ्—अवीविशत्। सन्—विविक्षति।

वृ (ढकना)—५ उ०, वृणोति, वृणुते। लिट्—ववार, वव्रुः, ववर्थ, ववृव; वव्रे। कर्म० व्रियते। क्त—वृत। त्वा—वृत्वा, ०वृत्य। तुम्—वरितुम्-वरीतुम्। णिच्—वारयति।

वृ (चुनना)—९ आ०, वृणीते। लिट्—वव्रे। लुङ्—अवृत। कर्म० व्रियते। क्त—वृत। त्वा—वृत्वा। तुम्—वरीतुम्। णिच्—वरयति।

वृत् (होना)—१ आ० (लुङ्, लृट् लृङ् में पर० भी), वर्तते। लिट्—ववृते। लुङ्—अवृतत्। लृट्—वर्तिष्यते, वर्त्स्यति। क्त—वृत्त। ल्यप्—०वृत्य। तुम्—वर्तितुम्। णिच्—वर्तयति।

वृध् (बढ़ना)—१ आ०। (लुङ्, लृट्, लृङ् में पर० भी), वर्धते। लिट्—ववृधे। लुङ्—अवृधत्, अवर्धिष्ट। लृट्—वर्त्स्यति। क्त—वृद्ध। तुम्—वर्धितुम्। णिच्—वर्धयति, ०ते, लुङ्—अवीवृधत्।

व्यध् (बींधना)—४ प०, विध्यति। लिट्—विव्याध, विविधुः। कर्म० विध्यते। क्त—विद्ध। त्वा—विद्ध्वा, ०विध्य। णिच्—व्यधयति।

व्रज् (जाना)—१ प०, व्रजति। लिट्—वव्राज, वव्रजिथ। लुङ्—अव्राजीत्। लृट्—व्रजिष्यति। कर्म० व्रज्यते। क्त—व्रजित। त्वा—व्रजित्वा, ०व्रज्य। तुम्—व्रजितुम्। णिच्—व्राजयति।

व्रश्च् (काटना)—६ प०, वृश्चति। कर्म० वृश्च्यते। क्त—वृक्ण। त्वा—वृष्ट्वा, ०वृश्च्य।

शंस् (प्रशंसा करना)—१प०, शंसति। शशंस। लुङ्—अशंसीत्। शंसिष्यति। कर्म० शस्यते। शस्त। शस्त्वा, ०शस्य। शंसितुम्। णिच्—शंसयति।

शक् (सकना, समर्थ होना)—५ प०, शक्नोति। लिट्—शशाक, शेकुः। लुङ्—अशकत्। लृट्—शक्ष्यति। कर्म० शक्यते। क्त—शक्त, शकित। सन्—शिक्षति।

शप् (शाप देना)—१ उ०, शपति, ०ते। लिट्—शशाप, शेपे। लृट्—शपिष्यते। कर्म० शप्यते। क्त—शप्त। णिच्—शापयति।

शम् (शान्त होना)—४ प०, शाम्यति। लिट्—शशाम, शेमुः। क्त—शान्त। णिच्—शमयति, शामयति, लुङ्—अशीशमत्।

शास् (आज्ञा देना)—२ प०, शास्ति, प्र० ३ शासति, उ० २शिष्वः। लङ्—अशात्, अशासुः, अशाः—अशात्; अशासम्, अशिष्व। लोट्—शास्तु, शिष्टाम्, शासतु। शाधि, शिष्टम्, शिष्ट। शासानि, शासाव, शासाम। विधि० शिष्यात्। लिट्—शशास। लुङ्—अशिषत्। लृट्—शासिष्यति। कर्म० शास्यते, शिष्यते। क्त—शासित, शिष्ट। त्वा—शासित्वा। तुम्—शासितुम्।

शिष् (छोड़ना)—७ प०, शिनष्टि, शिंषन्ति, शिंष्वः। लोट्—शिनष्टु, शिण्ढि, शिनषाणि। कर्म० शिष्यते। क्त—शिष्ट। त्वा—शिष्ट्वा, ०शिष्य। णिच्—शेषयति।

शी (सोना)—२ आ०, शेते, शयाते शेरते, । शेषे, शयाथे, शेध्वे । शये, शेवहे, शेमहे । लङ्—अशेत, अशयाताम्, अशेरत । अशेथाः अशयाथाम् । अशेध्वम् । अशयि, अशेवहि, अशेमहि । लोट्—शेताम्, शयाताम्, शेरताम् । शेष्व, शयाथाम्, शेध्वम् । शयै, शयावहै, शयामहै । विधि० शयीत । लिट्—शिश्ये । लुङ्—अशयिष्ट । लृट्—शयिष्यते । क्त—शयित । णिच्—शाययति । सन्—शिशयिषते ।

शुच् (शोक करना)—१ प०, शोचति । लिट्—शुशोच । लुङ्—अशुचत् । लृट्—शोचिष्यति । त्वा—शोचित्वा । तुम्—शोचितुम् । णिच्—शोचयति ।

श्रि (जाना)—१ उ०, श्रयति, ०ते । लिट्—शिश्राय, शिश्रिये । लुङ्—अशिश्रियत् । लृट्—श्रयिष्यति, ०ते । कर्म० श्रीयते । क्त—श्रित । त्वा—श्रयित्वा, ०श्रित्य । तुम्—श्रयितुम् ।

श्रु (सुनना)—५ प०, शृणोति, शृणुतः, शृण्वन्ति । लिट्—शुश्राव, शुश्रुवुः; शुश्रोथ; शुश्राव, शुश्रुव । लुङ्—अश्रौषीत् । श्रोष्यति । श्रोता । कर्म० श्रूयते, लुङ्—अश्रावि । क्त—श्रुत । त्वा—श्रुत्वा, श्रुत्य । तुम्—श्रोतुम् । णिच्—श्रावयति । सन्—शुश्रूषते ।

श्वस् (साँस लेना)—२ प०, श्वसिति । लिट्—शश्वास । लृट्—श्वसिष्यति । क्त—श्वस्त, श्वसित । ल्यप्—०श्वस्य । तुम्—श्वसितुम् । णिच्—श्वासयति ।

सञ्ज् (लगना)—१प०, सजति । लिट्—ससञ्ज । लुङ्—असाङ्क्षीत् । कर्म० सज्यते । क्त—सक्त । ल्यप्—०सज्य । तुम्—सक्तुम् । णिच्—सञ्जयति ।

सद् (बैठना)—१ प०, सीदति । लिट्—ससाद, सेदुः, सेदिथ—ससत्थ । लुङ्—असदत् । लृट्—सत्स्यति । कर्म० सद्यते । क्त—सन्न । ल्यप्—०सद्य । तुम्—सत्तुम् । णिच्—सादयति ।

सह् (सहन करना)—१आ०, सहते । लृट्—सहिष्यते । सोढा । कर्म० सह्यते । क्त—सोढ । ल्यप्—०सह्य । तुम्—सोढुम् । णिच्—साहयति ।

सिच् (सींचना)—६ उ०, सिञ्चति, ०ते । लिट्—सिषेच, सिषिचे । लुङ्—असिचत्, ०त । लृट्—सेक्ष्यति, ०ते । कर्म० सिच्यते । क्त—सिक्त । त्वा—सिक्त्वा, ०सिच्य । णिच्—सेचयति, ०ते ।

सिध् (रोकना, पीछे हटाना)—१ प०, सेधति। लिट्—सिषेध। लुङ्—असेधीत्। लृट्—सेधिष्यति, सेत्स्यति। कर्म० सिध्यते। सिद्ध। तुम्—सेद्धुम्। णिच्—सेधयति।

सु (निचोड़ना, रस निकालना)—५ उ०, सुनोति, सुनुते (१३२, सु धातु)। लिट्—सुषाव, सुषुवे। लृट्—सोष्यति। कर्म० सूयते। क्त—सुत। ल्यप्—०सुत्य। णिच्—सावयति।

सू (जन्म देना)—२ आ०, सूते। लङ्—असूत। लोट्—सूताम्, सूष्व, सुवै। विधि० सुवीत। लिट्—सुषुवे। लृट्—सविष्यते, सोष्यते। कर्म० सूयते। सूत।

सृ (जाना)—१ प०, सरति। लिट्—ससार, सस्रुः; ससर्थ; ससार, ससृव। लृट्—सरिष्यति। क्त—सृत। ल्यप्—०सृत्य। तुम्—सर्तुम्। णिच्—सारयति।

सृज् (बनाना, निकालना)—६ प०, सृजति। लिट्—ससर्ज। लुङ्—अस्राक्षीत्। लृट्—स्रक्ष्यति। कर्म० सृज्यते। त्वा—सृष्ट्वा, ०सृज्य। तुम्—स्रष्टुम्। णिच्—सर्जयति। सन्—सिसृक्षति।

सृप् (रेंगना)—१ प०, सर्पति। लिट्—ससर्प, ससृपिव। लृट्—स्रप्स्यति। कर्म० सृप्यते। क्त—सृप्त। णिच्—सर्पयति। सन्—सिसृप्सति।

स्तम्भ् (अवलम्ब देना)—९ प०, स्तभ्नाति। लोट्—स्तभ्नातु, स्तभान, स्तभ्नानि। लिट्—तस्तम्भ। कर्म०—स्तभ्यते, लुङ्—अस्तम्भि। क्त—स्तब्ध। त्वा—स्तब्ध्वा, ०स्तभ्य। तुम्—स्तब्धुम्। णिच्—स्तम्भयति।

स्तु (स्तुति करना)—२ प०, स्तौति, स्तवीति। लङ्—अस्तौत्, अस्तवीत्। स्तौतु, स्तवीतु। स्तुयात्, स्तुवीत। लिट्—तुष्टाव। लुङ्—अस्तावीत् —अस्तौषीत्, अस्तोष्ट। लृट्—स्तोष्यति। कर्म०—स्तूयते। क्त—स्तुत। त्वा स्तुत्वा, ०स्तुत्य। तुम्—स्तोतुम्। णिच्—स्तावयति। सन्—तुष्टूषति।

स्तृ (ढकना)—५ उ०, ९ उ०, स्तृणोति, (स्तृणाति। लिट्—तस्तार, तस्तरे। लृट्—स्तरिष्यति। कर्म० स्तीर्यते। स्तॄ धातु मानकर यह रूप है, ५८)। क्त—स्तृत। त्वा—स्तृत्वा, ०स्तृत्य। णिच्—स्तारयति।

स्था (रुकना)—१ प०, तिष्ठति। लिट्—तस्थौ। लुङ्—अस्थात्। लृट् स्थास्यति। कर्म० स्थीयते, लुङ्—अस्थायि। क्त—स्थित। त्वा—स्थित्वा, ०स्थाय। तुम्—स्थातुम्। णिच्—स्थापयति। सन्—तिष्ठासति।

स्पृश् (छूना)—६ प०, स्पृशति । लिट्—पस्पर्श, पस्पृशुः । लुङ्— अस्प्राक्षीत् । लृट्—स्प्रक्ष्यति । कर्म० स्पृश्यते । क्त—स्पृष्ट । त्वा—स्पृष्ट्वा, ०स्पृश्य । तुम्—स्प्रष्टुम् । णिच्—स्पर्शयति । सन—पिस्पृक्षति ।

स्मि (मुस्कराना)—१ आ०, स्मयते । लिट्—सिस्मिये । लुङ्—अस्मयिष्ट । क्त—स्मित । त्वा—स्मित्वा, ०स्मित्य । णिच्—स्मापयति, स्माययति ।

स्मृ (स्मरण करना)—१ प०, स्मरति । लिट्—सस्मार । लृट्—स्मरिष्यति । कर्म० स्मर्यते । क्त—स्मृत । त्वा—स्मृत्वा, ०स्मृत्य । तुम्—स्मर्तुम् । णिच्—स्मारयति ।

स्यन्द् (टपकना)—१ आ०, स्यन्दते । लिट्—सस्यन्दे । कर्म० स्यन्द्यते । क्त—स्यन्न । णिच्—स्यन्दयति ।

स्रु (बहना)—१ प०, स्रवति । लिट्—सुस्राव । लृट्—स्रविष्यति । क्त—स्रुत ।

स्वज् (आलिंगन करना)—१ आ०, स्वजते । सस्वजे । क्त—स्वक्त । स्वक्तुम् ।

स्वप् (सोना)—२ प०, स्वपिति । लिट्—सुष्वाप, सुषुपुः । लुङ्—अस्वाप्सीत् । लृट्—स्वप्स्यति । कर्म० सुप्यते । लुङ्—अस्वापि । क्त—सुप्त । त्वा—सुप्त्वा । तुम्—स्वप्तुम् । णिच्—स्वापयति । सन्—सुषुप्सति ।

हन् (मारना, हिंसा करना)—२ प०, हन्ति, हत, घ्नन्ति । लङ्—अहन्, अघ्नन् । लोट्—हन्तु, घ्नन्तु; जहि, हनानि । विधि० हन्यात् । लिट्—जघान । लुङ्—अवधीत् लृट्—हनिष्यति । कर्म० हन्यते । क्त—हत । त्वा—हत्वा, ०हत्य । तुम्—हन्तुम् । णिच्—घातयति । सन्—जिघांसति ।

हा (छोड़ना)—३ प०, जहाति, जहति । लोट्—जहातु, जहतु; जहीहि; जहानि । लिट्—जहौ, जहिथ—जहाथ । लुङ्—अहासीत्, अहासुः । लृट्—हास्यति । कर्म० हीयते । क्त—हीन । त्वा—हित्वा, ०हाय । तुम्—हातुम् । णिच्—हापयति । सन्—जिहासति ।

हिंस् (हिंसा करना, चोट मारना)—७ प०, हिनस्ति । लङ्—अहिनत्, अहिंसन् । लोट्—हिनस्तु, हिन्धि, हिनसानि । विधि०—हिंस्यात् । लिट्—जहिंस । लुङ्—अहिंसीत् । लृट्—हिंसिष्यति । कर्म—हिंस्यते । हिंसित । णिच्—हिंसयति ।

हु (हवन करना)—३ प०, जुहोति (१३२, हु धातु)। लिट्—जुहाव, जुहवांचकार। लुङ्—अहौषीत्। लृट्—होष्यति। कर्म० हूयते। क्त—हुत। क्त्वा—हुत्वा। तुम्—होतुम्। णिच्—हावयति। सन्—जुहूषति। यङ्लुक्—जोहवीति।

हृ (लेना, हरना)—१ उ०, हरति, ०ते। लिट्—जहार, जह्रुः, जहर्थ। लुङ्—अहार्षीत्, अहृत। हरिष्यति। हर्ता। कर्म० ह्रियते, लुङ्—अहारि। क्त—हृत। क्त्वा—हृत्वा, ०हृत्य। णिच्—हारयति। सन्—जिहीर्षति, ०ते। यङ्लुक्—जरीहर्ति।

ह्री (लज्जित होना)—३ प०, जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति। लङ्—अजिह्रेत्। लोट्—जिह्रेतु। विधि० जिह्रीयात्। लिट्—जिह्राय, जिह्रियुः। क्त—ह्रीण, ह्रीत। णिच्—ह्रेपयति। यङ्—जेह्रीयते।

ह्वे (पुकारना)—१ उ०, ह्वयति, ०ते। लिट्—जुहाव, जुहुवुः। लृट्—ह्वास्यते। कर्म० हूयते। क्त—हूत। क्त्वा—हूत्वा, ०हूय। तुम्—ह्वातुम्। णिच्—ह्वाययति। यङ्लुक्—जोहवीति।

परिशिष्ट—२

लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त छन्द

(Metre in Classical Sanskrit)

श्रेण्य संस्कृत का पद्य-बन्ध वैदिक मन्त्रों के पद्य-बन्ध से बहुत अधिक भिन्न है। लौकिक छन्द अधिक कृत्रिम, अधिक नियमाधीन और संख्या में बहुत अधिक हो गए हैं।

लौकिक छन्द दो भागों में विभक्त हैं—

१. वर्णवृत्त (इनमें वर्णों की संख्या गिनी जाती है)।

२. मात्रिक छन्द (इनमें प्रत्येक चरण में मात्राएँ गिनी जाती हैं)।

लगभग सारा संस्कृत-काव्य पद्यों में लिखा गया है। इनमें प्रत्येक पद्य में चार पाद या चरण (पाद=पैर—$\frac{1}{4}$ भाग) होते हैं। प्रत्येक श्लोक दो भागों में विभक्त होता है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध (२ श्लोकार्ध)।

लेटिन और ग्रीक के तुल्य ही पद्यों का परिमाण गिना जाता है। स्वर स्वभावानुसार या स्थान की दृष्टि से दीर्घ (गुरु) गिना जाता है। संयुक्त वर्ण, अनुस्वार और विसर्ग बाद में होने पर पूर्ववर्ती लघु (ह्रस्व) स्वर गुरु माना जाता है। यह स्थान की दृष्टि से लघु का गुरुत्व है। अनुस्वार और विसर्ग को पूर्ण व्यंजन का स्थान दिया जाता है। लघु स्वर की एक मात्रा गिनी जाती है और गुरु स्वर की (स्वाभाविक या स्थान की दृष्टि से) दो मात्रा।

१. अक्षर-छन्द या वर्णवृत्त

(Metres measured by Syllables)

इसमें दो प्रकार के वृत्त (छन्द) होते हैं—

(अ) जिनका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रचना की दृष्टि से समान होता है। इनमें १ और ३ पाद, २ और ४ पाद से कुछ भिन्न होता है।

(आ) जिनके चारों पाद समान होते हैं।

(अ) श्लोक

श्लोक ('गीत', श्रु-सुनना-धातु से बना हुआ) छन्द वेद के अनुष्टुभ्' छन्द का ही विकसित रूप है। यह रामायण और महाभारत का प्रिय छन्द है। इसको भारतीय पद्य का सर्वोत्तम छन्द मानना चाहिए, क्योंकि संस्कृत के काव्यों में अन्य छन्दों की अपेक्षा यह सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। इसमें १६ वर्णों वाले दो श्लोकार्ध (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध) होते हैं तथा ८ वर्णों वाले ४ पाद होते हैं।

यदि एक श्लोकार्ध को ४, ४ वर्णों वाले ४ भागों में बाँटा जाए, तो ज्ञात होता है कि केवल दूसरे और चतुर्थ भाग में ही मात्राओं का विचार होता है। इनमें से चतुर्थ भाग नियमित रूप से Iambic (लघु, गुरु, लघु, गुरु, ˘ – ˘ ⏓) है और द्वितीय भाग के चार विभिन्न रूप हैं। प्रथम और तृतीय भाग में गुरु-लघु का विचार नहीं होता है, केवल ⏓ ˘ ˘ ⏓ का क्रम सर्वथा वर्जित है। द्वितीय भाग का सबसे प्रसिद्ध क्रम है: ˘ – – ⏓ (लघु, गुरु, गुरु, गुरु / लघु)। (नलोपाख्यान के १७३२ श्लोकार्धों में १४४२ में यह क्रम है)।

अतः श्लोक का निम्नलिखित रूप बनता है:—

. . . . | ˘ – – ⏓ | . . . . | ˘ – ˘ ⏓ ||

जैसे—आ सीद् रा जा न लो ना म । वी र से न सु तो ब ली ।
उ प प न्नो गु णै रि ष्टै । रू प वा न श्व को वि दः ॥

जब द्वितीय अंश का स्वरूप ˘ – – ⏓ होता है, तब प्रथम अंश का स्वरूप कुछ भी हो सकता है। जब द्वितीय अंश का स्वरूप अन्य तीन प्रकार के रूपों में से कोई भी होता है तो प्रथम अंश भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं रहता है, जैसा कि नीचे की सारणी में दिखाया गया है:—

	१	२	३	४
१.	. . . . |	˘ . ||		
२.	. ˘ |	˘ ˘ ˘ . ||		
	. ˘ |		. . . . |	˘ ˘ . ||
३.	. ˘	˘ ˘ . ||		
४.	. ˘ |	, . ||		

इनमें से प्रथम (सं० १) को **'पथ्या'** छन्द कहते हैं और शेष तीन (
२ से ४) को **'विपुला'** कहते हैं। उपर्युक्त सारणी में जो क्रम अधिक प्रयु
हुआ है, वह पहले है और जो उससे कम प्रयुक्त हुआ है, वह क्रमशः २, ३
४ स्थान पर है। उदाहरण के लिए कालिदास (रघुवंश और कुमारसंभव
माघ, भारवि और बिल्हण के २५७९ श्लोकार्धों में गणना करने पर उपर्यु
चार वर्गों को क्रमशः निम्नलिखित अंक प्राप्त हुए हैं :—(१) २२८९, (
११९, (३) ८९, (४) ८५=२५७९।

उपर्युक्त सारणी में बिन्दु यह सूचित करता है कि उस स्थान का व
अनिश्चित है, अर्थात् वह लघु या गुरु कोई भी हो सकता है। अर्ध विराम
अर्थ है कि वहाँ पर यति (अल्पविराम, Caesura) होती है।

पाद के अन्त के साथ ही शब्द का अन्त भी होता है (कभी-कभी पाद
अन्तिम शब्द समस्त पद का अंश भी होता है) और पूरा श्लोक एक पू
वाक्य होता है। एक श्लोकार्ध की रचना दूसरे श्लोकार्ध में अविच्छिन्न नह
जाती है। कुछ स्थानों पर तीन श्लोकार्ध मिल कर वाक्य को पूर्ण करते हैं।

(आ) समवृत्त

(All four Padas identical in form)

(१) वेद के **त्रिष्टुभ्** (प्रत्येक पाद में ११ वर्ण) छन्द से जो अनेक छन्द
विकसित हुए हैं उनमें से अधिक प्रचलित छन्द निम्नलिखित हैं :—

(क) **इन्द्रवज्रा** — ˘ | — ˘ | ˘ ˘ | — ||

(ख) **उपेन्द्रवज्रा** ˘ — ˘ | — ˘ | ˘ ˘ | — ||

(ग) **उपजाति** (उपर्युक्त दोनों का मिश्रण)

˘ | — — ˘ | ˘ — ˘ | — ||

(घ) **शालिनी** — | , ˘ | ˘ | ||

(ङ) **रथोद्धता** ˘ | ˘ ˘ ˘ | ˘ | ˘ ||

(२) **जगती** (१२ वर्ण प्रत्येक पाद में) के अधिक प्रचलित रूप ये हैं :—

(क) **वंशस्थ** ˘ ˘ | ˘ | ˘ — ˘ | ˘ ||

(ख) **द्रुतविलम्बित** ˘ ˘ ˘ | — ˘ ˘ | ˘ ˘ | ˘ ||

(३) शक्वरी (१४ वर्ण प्रत्येक पाद में) का अधिक प्रचलित रूप यह है :—

वसन्ततिलका ˘। ˘˘।˘ ˘।˘ ˘। ˘॥

(४) **अतिशक्वरी** (१५ वर्ण प्रत्येक पाद में) का अधिक प्रचलित रूप यह है :—

मालिनी ˘˘˘।˘˘˘। , ।˘ ।˘ ˘॥

(५) **अत्यष्टि** (१७ वर्ण प्रत्येक पाद में) के अधिक प्रचलित रूप ये हैं :—

(क) शिखरिणी ˘ । ,।˘˘˘।˘˘ । ˘˘।˘ ॥

(ख) हरिणी ˘˘˘।˘˘ ,। । ,˘ ।˘˘ ।˘ ॥

(ग) मन्दाक्रान्ता । ,˘˘।˘˘˘। , ˘। ˘। ˘॥

(६) **अतिधृति** (१९ वर्ण प्रत्येक पाद में) का अधिक प्रचलित रूप यह है :—

शार्दूलविक्रीडित —

।˘˘ ।˘ ˘।˘˘ ,। ˘। ˘।˘॥

(७) **प्रकृति** (२१ वर्ण प्रत्येक पाद में) का अधिक प्रचलित रूप यह है :—

स्रग्धरा —

। ˘ । ,˘˘।˘˘˘।˘ , ।˘ ।˘ ॥

२. मात्रा-छन्द या जाति

(Metres measured by Morae)

(अ) मात्रा —छन्द जिसमें केवल मात्राओं की संख्या निर्धारित है :—

वैतालीय—इसमें एक श्लोकार्ध में ३० मात्राएँ होती हैं, प्रथमपाद में १४ और द्वितीयपाद में १६। प्रत्येक पाद को तीन भागों में बाँट सकते हैं। द्वितीय भाग का क्रम choriambus(˘˘) होगा, तृतीय भाग में दो iambic अर्थात् ˘ ˘) होंगे, प्रथम पाद के प्रथम भाग में pyrrhic (˘˘) होगा और द्वितीय पाद के प्रथम भाग में anapaest (˘˘) होगा। इस प्रकार एक श्लोकार्ध में २१ वर्ण होंगे। श्लोकार्ध का रूप यह होगा :—

˘˘। ˘˘ ।˘ ˘˘॥˘˘ । ˘˘ ।˘ ˘˘॥

(आ) **गण-छन्द**—इसमें प्रत्येक गण (अंश) में मात्राएँ निर्धारित होती

आर्या या गाथा—में श्लोकार्ध में ७½ गण होते हैं और प्रत्येक गण
मात्रा होती है, अतः कुल ३० मात्राएँ होती हैं। ४ मात्राएँ निम्नलि
रूप से किसी भी प्रकार हो सकती हैं:— ˘˘˘˘, --, -˘˘, ˘˘-। द्व
और चौथे अंश में वे ˘-˘ इस रूप में भी रह सकती है; षष्ठ अंश
˘˘˘˘ या ˘-˘ इस रूप में मिलती हैं। आठवाँ गण एक वर्ण का होता
उत्तरार्ध के षष्ठ अंश में केवल एक ह्रस्व वर्ण होता है। अतः उत्तरार्ध
केवल २७ मात्राएँ होती हैं।

———

परिशिष्ट—३

वैदिक व्याकरण की मुख्य विशेषताएँ

(Chief peculiarities of Vedic Grammar)

१. वैदिक भाषा के विकास के कई स्वर देखने को मिलते हैं, परन्तु नीचे जो कुछ वर्णन किया गया है, उसका साक्षात् संबन्ध ऋग्वेद से है, क्योंकि वही वैदिक साहित्य का सब से प्राचीन और सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है।

वर्णमाला

२. संस्कृत के तुल्य ही वैदिक ध्वनियाँ भी हैं। वैदिक भाषा में दो वर्ण अधिक हैं। दो स्वरों के मध्यगत मूर्धन्य ड् और ढ् अनिवार्य रूप से क्रमशः मूर्धन्य ळ् और ळ्ह् हो जाते हैं। जैसे—ईळे = ईडे) (मैं स्तुति करता हूँ)। मीळ्हुषे=मीढुषे (दानी के लिए)।

सन्धि

३. (अ)—स्वर-सन्धि—एक एक शब्द में, समस्त (समासयुक्त) पदों के विभिन्न शब्दों में और वाक्य के विभिन्न शब्दों में प्रगृह्य (संधि का अभाव, Hiatus) निषिद्ध नहीं है, अर्थात् इन स्थानों पर संधि नहीं भी की जा सकती है। विशेषतः ए और ओ(२१ क) के बाद अ को पूर्वरूप (अ का अभाव या लोप) बहुत कम स्थानों पर होता है। जैसे—सूर्यस्य का सूरि अस्य (सूर्य का), स्वश्वियम् का सु—अश्वियम् (अश्व-संबन्धी समृद्धि), वरुणस्य अग्नेः (वरुण और अग्नि का), अभ्येति का अभि एति (उस ओर जाता है), विप्रो अक्षरत् (पुरोहित ने डाला)।

(क) स्वर बाद में होने पर निम्नलिखित सर्वनामों के ए (चतुर्थी, सप्तमी) में सन्धि-कार्य नहीं होता है—त्वे (तुझको, तुझ में), अस्मे (हमें, हममें), युष्मे

(तुम्हें, तुममें)। इसी प्रकार शब्द के अन्तिम अ और निपात उ संधि में जो ओ होता है, उसमें भी संधि-कार्य नहीं होता है। जैसे—उ साथ संधि-कार्य नहीं होगा—अथो (अथ+उ), मो (मा+उ), नो (न+उ

(आ) **व्यंजन-सन्धि**—पद के अन्तिम आन् को आँ होता है (लेट् प्र० ३ के आन् को छोड़कर, क्योंकि वह मूलतः आन्त् माना जाता है) और को ईर्, ऊन् को ऊँर् और ऋन् को ऋँर् होता है। जैसे—महाँ असि (महान् हो), किन्तु, आ गच्छान् उत्तरा युगानि—(बाद के युग आएंगे) में के कारण आँ नहीं हुआ। रश्मीँरिव (लगामों के तुल्य)।

(क) संस्कृत में कुछ नियम जो एक पद के अन्दर ही लगते हैं, वे अ शब्दों के प्रथम वर्ण में भी लगते हैं। जैसे—सहो षु णः (नि० ६७)।

शब्द-रूप (Declension)

४. (अ) अन्तिम अवयव, एकवचन। (क) तृतीया :—

अकारान्त शब्दों में तृतीया एक० में कुछ स्थानों पर 'आ' लगता है, स्त्र लिंग आकारान्त शब्दों में भी कुछ स्थानों पर 'आ' लगता है। जैसे—य (पुं०, यज्ञ) का तृ० १—यज्ञेन, यज्ञा। मनीषा (स्त्री०, बुद्धि) का तृ० १- मनीषया, मनीषा। 'एन' के अ को भी प्रायः दीर्घ हो जाता है।

'मन्' अन्त वाले शब्दों में कभी-कभी भ-स्थानों पर मन् के अ का लो नहीं होता और जब अ का लोप होता है तो कभी कभी म् या न् का भी लो हो जाता है। जैसे—भूमन् का तृ० १ भूमना, भूना (भूम्ना के स्थान पर) द्राघ्मा (द्राघ्मना के स्थान पर)।

(ख) **सप्तमी**—इकारान्त शब्दों के स० १ में 'औ' की अपेक्षा कुछ क स्थानों पर 'आ' भी लगता है। जैसे—अग्नि (पुं०, आग) > स० १—अग्नौ अग्ना।

अन्-अन्त वाले शब्दों में स० १ अन्तिम इ का प्रायः लोप होता है जैसे—ब्रह्मन् > स० १ ब्रह्मणि, ब्रह्मन्। इनमें उपधा (अन्तिम से पूर्व वर्ण) के अ का लोप नहीं होता जैसे—राजन् > राजनि ही रूप होगा (देखो नि० ९०)

(ग) **संबोधन**—मत्, वत्, वस्, यस् अन्त वाले शब्दों को सं० १ में अस् (अः) हो जाता है। जैसे—भानुमत् >प्र० १ भानुमान्, सं० १ भानुमः। हरिवत् >प्र० १ हरिवान्, सं० १ हरिवः। चक्रवस् >प्र० १ चक्रवान्, सं० १ चक्रवः। कनीयस् >प्र० १ कनीयान्, सं० १ कनीयः।

द्विवचन। (क) प्रथमा, द्वितीया और संबोधन के द्विवचन में 'औ' की अपेक्षा 'आ' अधिक लगता है। जैसे—अश्विना (दो अश्विनीकुमार), द्वारा (स्त्री०, दो दरवाजे), नद्या (दो नदियाँ)। ई-प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्दों की ई में परिवर्तन नहीं होता। जैसे—देवी (दो देवियाँ)।

(ख) युष्मद् और अस्मद् सर्वनामों में ५ स्थानों पर अन्तर होता है :—जैसे, प्र० २ युवम्, द्वि० २ युवाम्, तृ० २—युवाभ्याम्, युवभ्याम्, पं० २—युवत्, स० २—युवोः।

बहुवचन। प्रथमा। (क) अकारान्त पुं० शब्दों के प्रथमा बहु० में (आकारान्त स्त्री० में बहुत कम) 'आः' के साथही 'आसः' वाले रूप भी बनते हैं। जैसे—मर्त्यासः, मर्त्याः (मनुष्य)।

(ख) ई—प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्दों में केवल विसर्ग और जुड़ता है। जैसे—देवीः (देवियाँ)।

(ग) नपुंसकलिंग में आनि, ईनि, ऊनि के साथ ही आ, ई, ऊ (कभी-कभी अ, इ, उ भी) वाले रूप भी बनते हैं। जैसे—युगानि, युगा (जुए) (लेटिन—juga)।

तृतीया—अकारान्त शब्दों में तृ० ३ में जितने स्थानों पर 'ऐः' लगता है, प्रायः उतने ही स्थानों पर 'एभिः' भी लगता है। जैसे—देवैः, देवेभिः।

(आ) प्रत्ययान्त शब्द (Inflexional Type)

इस प्रकार के शब्दों में मुख्य अन्तर अनेकाच् (अनेक स्वर वाले) ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों के रूपों में है (जो कि अधिकांशतः स्त्रीलिंग हैं और कुछ पुंलिंग भी हैं)। इनमें से अधिकांश के रूप एकाच् (एक स्वर वाले) धी और भू (१००) शब्दों के तुल्य चलते हैं, केवल षष्ठी बहु० में इनमें नाम् लगता है। (अन्यत्र ई-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप प्रायः नदी के तुल्य चलते हैं और ऊकारान्त के रूप वधू के तुल्य, १००)। जैसे—

रथी (पुं०, सारथी)				नदी (स्त्री०)		
रथीः	रथ्या	रथ्यः	प्र०	नदीः	नद्या	नद्यः
रथ्यम्	,,	,,	द्वि०	नद्यम्	,,	,,
रथ्या	रथीभ्याम्	रथीभिः	तृ०	नद्या	नदीभ्याम्	नदीभिः
रथ्ये	,,	रथीभ्यः	च०	नद्ये	,,	नदीभ्यः
रथ्यः	,,	,,	पं०	नद्यः	,,	,,
,,	रथ्योः	रथीनाम्	ष०	,,	नद्योः	नदीनाम्
—	,,	रथीषु	स०	—	,,	नदीषु
रथि	रथ्या	रथ्यः	सं०	—	नद्या	नद्यः

तनू (स्त्री०, शरीर)

तनूः	तन्वा	तन्वः	प्र०
तन्वम्	,,	,,	द्वि०
तन्वा	तनूभ्याम्	तनूभिः	तृ०
तन्वे	,,	तनूभ्यः	च०
तन्वः	,,	,,	पं०
,,	तन्वोः	तनूनाम्	ष०
तन्वि	,,	तनूषु	स०
तनु	तन्वा	तन्वः	सं०

धातुरूप (Conjugation)

५. **अडागम (Augment)** (क) यह अट् (अ) कुछ स्थानों पर स्थायी रूप से दीर्घ आ है, और कुछ स्थानों पर छन्द की दृष्टि से दीर्घ है। जैसे—वृ (ढकना) > लुङ् प्र० १ आवः (उसने ढका)। रिच् (छोड़ना) > लुङ् प्र० १ आरैक् (उसने छोड़ा)।

(ख) यह 'अ' सर्वत्र हटाया जा सकता है और इससे अर्थ में अन्तर नहीं होता है। 'अ' रहित रूपों को प्रायः Injunctive (अडागम-रहित रूप) के रूप में प्रयोग किया जाता है। संस्कृत में ऐसा प्रयोग निषेधार्थक निपात 'मा' के साथ अभी तक शेष है (१२८.क)।

६. **उपसर्ग (Verbal Prefixes)** । उपसर्ग साधारणतया पहले लगते हैं, किन्तु कुछ स्थानों पर धातु के बाद भी आते हैं। धातु और उपसर्ग के बीच में निपात या अन्य शब्द भी आ सकते हैं। जैसे—आ त्वा विशन्तु (वे तुम्हारे यहाँ आवें)। गमद् वाजेभिरा स नः (वह हमारे पास धन के साथ आवे)।

७. **अन्त्यावयव (Endings)** (क) कर्तृवाच्य उ० ३ मूल प्रत्यय मस् (मः) की अपेक्षा 'मसि' अधिक प्रचलित है। जैसे—इ (जाना) > इमः, इमसि (हम जाते हैं)।

(ख) म० पु० ३ में थ और त के स्थान पर 'थन' और 'तन' प्रयोग भी प्रायः मिलते हैं। जैसे—या (जाना) > याथ, याथन (तुम जाते हो); यात, यातन (तुम जाओ)।

(ग) लोट् म० पु० १ में 'तात्' अन्त वाले प्रयोग भी प्रायः मिलते हैं (यह निर्बल अंग के साथ लगता है)। यह भविष्यत् में करने योग्य आदेश को प्रकट करता है। जैसे—रक्षतात् (रक्षा करना); ब्रूतात् (कहना); धत्तात् (रखना) (तु० करो—लेटिन—lege-tod)। यह कभी-कभी प्र० १ और उ० १ तथा म० पु० २, ३ के लिए भी प्रयुक्त होता है।

(घ) आत्मनेपद लट् प्र० पु० १ में भी (आत्मनेपद लिट् के तुल्य, १३६) प्रायः उ० पु० १ वाला रूप बनता है। जैसे—शी (सोना)—लट् प्र० १ शये (=शेते, वह सोता है)।

८. **द्वित्व कार्य (Reduplication)**—बहुत सी धातुओं में लिट् लकार में द्वित्व होने पर अभ्यास (द्वित्व का पूर्व अंश) में दीर्घ स्वर रहता है। जैसे—धृ (धारण करना) > दाधार; वस् (वस्त्र पहनना) > वावसे; तु (फलना, फूलना) > तूताव।

९. **लकार (Tenses)**—(क) वेद Pluperfect के भी कुछ रूप मिलते हैं। इनकी संख्या कम है। यह लिट् लकार वाले अंग में आदि में 'अ' लगाकर तथा अन्त में गौण तिङ् प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं। जैसे—चित् (प्रकट होना) > प्र० पु० १ अचिकेत्; उ० पु० १ अचिकेतम्।

(ख) लुट् लकार का प्रयोग नहीं मिलता है। ऋग्वेद में 'आम्' वाले लिट् (जैसे—गमयांचकार आदि) का सर्वथा अभाव है।

१०. **लकार (Moods)**—(क) वेद में लेट् लकार (Subjunctive) का प्रयोग है। यह विधिलिङ् की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। इसका आज्ञा या कार्य-समाप्ति अर्थ है। इसका प्रायः भविष्यत् अर्थ भी होता है। धातु के बाद 'अ' लगाकर इसका अंग (धातु जिससे तिङ् प्रत्यय होता है) बनाया जाता है। अतएव अ-विकरण वाली धातुओं में यह 'आ' हो जाता है। जैसे—भू > भवा। अ-भिन्न विकरण वाली धातुओं में सबल अंग के बाद यह 'अ' लगता है, धातु को गुण होता है और यह गुण-युक्त अंग सर्वत्र बना रहता है। जैसे—कृ (करना) > कृणव। इसमें तिङ् प्रत्यय कुछ मूलरूप में और कुछ गौण रूप में लगते हैं। इस प्रकार भू (होना) और सु (निचोड़ना) धातुओं के लेट् के रूप निम्नलिखित होंगे—

भू—लेट्—परस्मैपद

भवाति, भवात्	भवातः	भवान्	प्र० पु०
भवासि, भवाः	भवाथः	भवाथ	म० पु०
भवानि	भवाव	भवाम	उ० पु०

आत्मनेपद

भवाते	भवैते	(भवन्त)	प्र० पु०
भवासे	भवैथे	भवाध्वे	म० पु०
भवै	भवावहै	भवामहै	उ० पु०

सु—लेट्—परस्मैपद

सुनवत्	सुनवतः	सुनवन्	प्र० पु०
सुनवः	सुनवथः	सुनवथ	म० पु०
सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम	उ० पु०

आत्मनेपद

सुनवते	सुनवैते	सुनवन्त	प्र० पु०
सुनवसे	सुनवैथे	सुनवध्वे	म० पु०
सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै	उ० पु०

(ख) लट् लकार ही नहीं, अपि तु लिट् और लुङ् के भी तीनों लकार—लेट्, विधिलिङ् और लोट्—होते हैं। जैसे—स्तु (प्रशंसा करना) का लिट्-लेट्-

तुष्टुवत् । वृत् (चक्कर लगाना) का लिट्-विधि-लिङ् ववृत्यात् । मुच् (छोड़ना) का लिट्-लोट् मुमुग्धि । भू (होना) का लिट्-लोट् बभूतु । वृत् का लिट्-लोट् आत्मने० म० २-ववृत्स्व ।

लुङ्-लेट् के रूप—नी (ले जाना) >प्र० १ नेषति, नेषत्; बुध् (जागना) >बोधिषत्; विद् (पाना) >विदात्; कृ (करना) >करति, करत् । लुङ्-विधिलिङ् के रूप—विद् >विदेयम्; अश् (पहुँचना) >अश्यात्; भज् (बाँटना) >भक्षीष्ट । लुङ्-लोट् के रूप—अव् (रक्षा करना) >म० १ अविड्ढि, म० २ अविष्टम्, म० ३ अविष्टन । प्र० १ अविष्टु । सद् (बैठना) >प्र० पु० सदतु, सदताम्, सदन्तु । श्रु (सुनना) >म० पु० श्रुधि, श्रुतम्, श्रुत; प्र० पु० श्रोतु, श्रुताम्, श्रुवन्तु ।

११. **कालार्थक कृत्-प्रत्यय (Participles)**—संस्कृत में जो कालार्थक कृत्-प्रत्यय शेष हैं, उनके अतिरिक्त वेद में लुङ् के भी कृत् प्रत्यय परस्मैपद और आत्मनेपद में मिलते हैं । जैसे—कृ (करना) पर० >क्रन्त् ; गम् (जाना) > ग्मन्त् ; स्था (ठहरना) >स्थान्त् । आत्मने० कृ >क्राण; बुध् >बुधान ।

(ख) ऋग्वेद में तव्यत्-प्रत्यय का सर्वथा अभाव है ।

१२. **क्त्वा, ल्यप् प्रत्यय (Gerunds)**—वेद में त्वा के अतिरिक्त 'त्वी' प्रत्यय भी बहुत प्रचलित है । एक 'त्वाय' प्रत्यय भी है, परन्तु यह बहुत कम प्रयुक्त हुआ है । समासगत धातुओं के साथ जो 'य' या 'त्य' लगता है, वह प्रायः दीर्घ होकर 'या' या 'त्या' हो जाता है ।

१३. **तुम् प्रत्यय (Infinitive)**—लगभग १ दर्जन तुम् अर्थ वाले प्रत्यय हैं । ये द्वितीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्ति वाले हैं । अन्त की तीन विभक्तियों वाले तुमर्थक प्रत्यय बहुत कम हैं । अधिकांश तुमर्थक प्रत्यय चतुर्थी विभक्ति वाले हैं और ये द्वितीयान्त (अम्, तुम्) से लगभग १२ गुना अधिक हैं ।

(क) **द्वितीयान्त तुमर्थक रूप**—यह शुद्ध धातु से (अम्) प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है या धातुज शब्द 'तु' से बने 'तुम्' प्रत्यय को लगाकर बनता है (ऋग्वेद में तुम्-प्रत्ययान्त रूप बहुत कम हैं) :—जैसे—समिधम् (अम् प्रत्यय, जलाने को), प्रतिधाम् (अम् प्रत्यय, रखने को), प्रतिरम् (अम् प्रत्यय, फैलाने को), कर्तुम् (तुम्, करने को), दातुम्, (तुम्, देने को) ।

(ख) **चतुर्थ्यन्त तुमर्थक रूप**—ये रूप शुद्ध धातु से या अस्, मन्, वन्, तु, धि अन्तवाले धातुज शब्दों से चतुर्थी विभक्ति वाले प्रत्यय लगाकर बनते हैं ।

जैसे—दृशे (ए प्रत्यय, देखने को), श्रद्धे (ए प्रत्यय, विश्वास करने को), जीवसे (अस्+ए, जीने को), विद्मने (मन्+ए, जानने को), दावने (वन्+ए, देने को), दातवे (तवे, देने को), 'कर्तवै' (तवै, दो उदात्तस्वरयुक्त, करने को), गमध्यै (ध्यै, जाने को)।

(ग) अन्य विभक्ति वाले तुमर्थक प्रत्ययों के रूप हैं:—अवपदः (अस्, पंचमी, गिरने को), दातोः (तोः, षष्ठी, देने को), नेषणि (अन्+इ, सप्तमी, ले जाने को), धातरि (इ, सप्तमी, रखने को)।

उपसर्ग निपात (Prepositions)

१४. वास्तविक उपसर्गों के साथ द्वितीया, सप्तमी या पंचमी होती है (कुछ के साथ तृतीया भी होती है)।

(क) द्वितीया विभक्ति वाले—अति (परे, दूर), अधि (की ओर), अनु (पश्चात्), अन्तर् (बीच में), अच्छ, अभि, आ, उप, प्रति (ओर), परि (चारों ओर), तिरस् (पार), पुरस् (सामने)।

(ख) सप्तमी विभक्ति वाले—अधि (पर), अन्तर् (अन्दर), अपि, आ, उप (समीप), पुरस् (सामने)।

(ग) पंचमी विभक्ति वाले—अधि (ऊपर से), अन्तः (अन्दर से), आ (दूर, तक), परि (चारों ओर से), पुरः (सामने)।

स्वर (Accent)

१५. चारों वेदों की सभी संहिताओं में तथा दो ब्राह्मण-ग्रन्थों में स्वर-चिह्न लगाए गए हैं। स्वर-चिह्न चार प्रकार से लगाए गए हैं। इनमें से ऋग्वेद में जो पद्धति अपनाई गई है वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें मुख्य स्वर-चिह्न अर्थात् उदात्त (उन्नत या उन्नतिशील) पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह अनुदात्त (निम्न ध्वनि) जो उससे पहले आता है, और स्वरित (उतरती हुई ध्वनि) जो इसके बाद आता है, उन दोनों के बीच की ध्वनि है तथा उन्नत ध्वनि से अवनत (या ध्वनि-रहित) ध्वनि की ओर संक्रमण को बताता है। उदात्त से पहले वर्ण पर अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। यह वर्ण के नीचे सीधी पड़ी लकीर (जैसे—क॒) के रूप में होता है। उदात्त के बाद स्वरित का चिह्न लगाया जाता है। यह वर्ण के

ऊपर सीधी खड़ी लकीर के रूप में होता है (जैसे–कं), अग्निना। स्वतन्त्र स्वरित पर भी अनुदात्त के स्थान पर होने वाले स्वरित के तुल्य ही चिह्न लगता है। जैसे— (क्वं kva) (kúa)। इससे पूर्ववर्ती स्वर पर अनुदात्त चिह्न लगाया जाता है। जैसे—वीर्यम् (viryàm = viriam)। मूलरूप में स्वतंत्र स्वरित से पूर्ववर्ती स्वर पर उदात्त चिह्न था और वहाँ संधि का अभाव था, किन्तु लिखित संहिता में उस अवग्रह को हटाकर संधि करने से उदात्त-स्वर लुप्त हो गया है। प्रायः उच्चारण करते समय उस अवग्रह को पुनः अपनाना पड़ता है। यदि स्वतन्त्र स्वरित से पहले कोई उदात्त होता है और वह ह्रस्व स्वर है तो स्वतन्त्र स्वरित का संकेत १ अंक से किया जाता है और यदि पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ है तो ३ अंक से संकेत किया जाता है। उदात्त के बाद स्वतन्त्र स्वरित का अंक लिखा जाएगा। उसके ऊपर स्वरित का चिह्न होगा और नीचे अनुदात्त का। इस प्रकार उस अंक पर ऊपर नीचे दोनों ओर चिह्न होते हैं। जैसे—अप्स्व १ न्तर् (Apsv àntár = Apsú antár); रायो ३ वनिः (rāyó 'vánih = rāyó avánih)। पंक्ति के प्रारंभ में यदि कोई उदात्त वर्ण होगा तो उस पर कोई चिह्न नहीं लगेगा। वाक्य के प्रारम्भ में उदात्त वर्ण से पहले जितने अनुदात्त वर्ण होंगे, उनके नीचे अनुदात्त का चिह्न अवश्य लगेगा। उदात्त के बाद वाले अनुदात्त पर स्वरित का चिह्न लगेगा। उसके बाद वाले अनुदात्त वर्णों पर कोई चिह्न नहीं लगता है, परन्तु आगे यदि कोई उदात्त या स्वतंत्र स्वरित आने वाला होगा तो उससे पूर्ववर्ती अनुदात्त पर अनुदात्त का चिह्न लगेगा। जैसे—नमो युञ्जानम् ; करिष्यसि।

१६. **अनुदात्त निपात (Enclitics)**—निम्नलिखित सदा अनुदात्त हैं :—(क) निपात उ, चिद्, स्विद्, इव, घ, ह, च, स्म, वा। (ख) व्यक्तिवाचक सर्वनामों के एकाक्षर संकेत-पद में, ते आदि (१०९ क)। (ग) सर्वनाम 'एन' शब्द और ईम्, सीम्। (घ) अनिश्चयवाचक सर्वनाम त्व (अन्य) और सम (कोई)।

१७. **अनुदात्त पद (Unaccented Forms)**—(क) इदम् के स्थान पर होने वाला 'अ' जब बलपूर्वक प्रयुक्त नहीं होता है और किसी संज्ञावाचक के स्थान पर होता है। जैसे—'अस्य जनिमानि'—(उस अग्नि के अनेक

जन्म)। किन्तु 'अस्यां उषसः' (उस उषा के)।[1]

(ख) संबोधन पद चाहे जितने भी हों, यदि वे वाक्य के प्रारम्भ में नहीं हैं तो अनुदात्त होंगे। जैसे—आ राजाना मह ऋतस्य गोपा (विशाल नियम के रक्षक हे दोनों राजाओ इधर आओ)।

१८. शब्दरूपों और धातुरूपों के वाक्य-प्रयोग में स्वर के विषय में कुछ विशेष नियम नीचे दिए जा रहे हैं।

(क) संबोधन के प्रथम स्वर पर ही उदात्त स्वर रहता है, शेष सभी संबोधन पद अनुदात्त रहते हैं। जैसे—होतर्यविष्ठ सुक्रतो (हे अतियुवा विद्वान् होता)। ऊर्जो नपात् सहसावन् (प्रथमा—ऊर्जो नपात् सहसावा)।

(ख) **प्रधान क्रिया (Finite Verb)**—मुख्य उपवाक्य की प्रधान क्रिया यदि वह वाक्य के प्रारम्भ में नहीं है तो अनुदात्त होती है। जैसे—अग्निम ईळे (मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ)। वाक्य में संबोधन की गणना नहीं होती है, अतः सम्बोधन के बाद वाली क्रिया में उदात्त होगा। जैसे—आश्रुत्कर्ण श्रुधीं हवम् (हे सुनने वाले, मेरी पुकार सुनो)। यह माना जाता है कि एक वाक्य में एक ही क्रिया होती है, अतः एक कर्ता से संबद्ध जहाँ अनेक क्रिया होंगी, वहाँ पर सभी क्रियाओं को वाक्य की प्रथम क्रिया मानकर उन पर उदात्त स्वर लगेगा। जैसे—तरंणिरिज्जयति, क्षेति पुष्यति (सफल वह विजयी होता है, शासन करता है और पुष्ट होता है)।

(ग) गौण उपवाक्यों में क्रिया पर सदा उदात्त होता है, (यदि उसके प्रारम्भ में संबन्धवाचक सर्वनाम या उससे बना हुआ कोई शब्द या निपात हि (क्योंकि), च, चेद् (यदि), नेत् (नहीं तो), कुविद् (क्या) हो तो। जैसे—यं यज्ञं परिभूरसि (जिस यज्ञ की तुम रक्षा करते हो)। जहाँ पर दो प्रधान उपवाक्य परस्पर वैषम्य-बोधक रूप में एकत्र होंगे, वहाँ पर प्रथम उपवाक्य को आश्रित उपवाक्य माना जाता है और उसकी क्रिया उदात्त होती है।

(घ) प्रधान उपवाक्यों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् किया जाता है और वह उदात्त होता है। आश्रित उपवाक्यों में उपसर्ग क्रिया के साथ समस्त हो जाता है और अनुदात्त हो जाता है। जैसे—आ गच्छति (वह आता है), किन्तु 'य आगच्छति' (जो आता है)।

---

[1] सूचना—इस पृष्ठ में चिन्ह (।) उदात्त स्वर का सूचक है।

संस्कृतपदानुक्रमणी

इस अनुक्रमणी में संस्कृतव्याकरणप्रवेशिका के सभी व्याकरणसम्बन्धी शब्द और प्रत्यय दिए गए हैं। केवल नियम १०४-१०८ के अन्तर्गत संख्या शब्दों को नहीं जोड़ा गया किन्तु अन्य नियमों के अन्तर्गत उन्हें भी जोड़ दिया है। प्रथम परिशिष्ट के धातुरूपों को यहां दुहराया नहीं और सन्धि एवं वाक्य-विन्यास के उदाहरणों में प्रयुक्त तथा तृतीय परिशिष्ट में व्यवहृत औपचारिक पद भी नहीं जोड़े गए।

इस अनुक्रमणी में पृष्ठसंख्याङ्कों से अतिरिक्त संख्याङ्क अनुच्छेदाङ्कों को बोधित करते हैं।

सङ्केतसारणी

अति० अतिशयार्थ बोधक यङन्त अथवा लुगन्त अभ्यस्त रूप; उप० उपसर्ग, उपसर्गात्मक; क्रि० क्रिया, क्रियात्मक; क्रि० वि० क्रियाविशेषण, क्रियाविशेषणात्मक; टि० टिप्पणी; तत्पु० तत्पुरुष समास; तुल० तुलनार्थक; नपुं० नपुंसक लिङ्ग; नि० निपात; निषे० निषेधार्थक; पा० टि० पादटिप्पणी; प्रेरणा० प्रेरणार्थक; वि० विशेषण; सम्बो० सम्बोधन।

सामान्य अनुक्रमणी

इस अनुक्रमणी में प्रयुक्त संकेतों की व्याख्या के लिए दे० प्रथम परिशिष्ट और संस्कृत अनुक्रमणी का आरम्भ। निर्दिष्ट पृष्ठांकों से भिन्न अंक अनुच्छेदांकों को बोधित करते हैं।